

प्रकाशक—

दोठ मणीसाहू, रेवारीकर जगजीवन जोहरी
आजरेठी व्यवस्थापक—भीरुसमुद्रप्रभाकर मंडळ,
श्रीकृष्ण नगर, आराडुवा जोहरी बाजार, बम्बई नं १



द्वितीय—

एसुबाध दीपावली विसर्ज
न्यू मासिक विविध प्रेर
१ देवेंद्रबाई बम्बई नं ४

प्रशमरतिप्रकरणकी विषय सूची ।

विषय	पृष्ठसं.	विषय	पृष्ठसं.
उत्कृष्टरीचकप्रकार संयोजन	१	३-द्वितीय अधिकांश—आदि—	कारिका २४-३३
सूक्ष्मत्वकथाका	१	कल्पके भाठ मंद	२६
मायादीकाकारका	२	४-सूर्य अधिकांश—भाठ कर्म—	कारिका ३४-३८
प्रबन्धकी रूप बनानेकी प्रतिका	५	उत्कृष्टकर्मके मंद	२६
सर्वज्ञ-शासनमें प्रवेशके अधिकारी	५	कल्पके आलोका वर्णन	२९
१-प्रथम अधिकांश—वीरकल्प—	कारिका १५	तेषाका स्वल्प तथा उत्तरे मेव	३
प्रबन्धकी सज्जा	३	आत्माके साध कर्मकल्प हो जानेपर क्या होता है ?	३१
महामति आध्यात्मि जो साधक तबे हैं तदनुसार	८	मोहमय षोडश मंड बुद्धिका विचार न कर सुखका	३२
हो कल्प बनानेकी प्रतिका	८	प्रथम करता है पर बुद्धका कारण होता है	३२
मार्ग और प्रेमबन्ध वैयर्थ्य उत्पन्न करनेवाली रचना	९	५-प्रथम अधिकांश—धर्मेश्वर विषय—	कारिका ३९-७९
बनानेका कथन	९	१-पौत्रो इन्द्रिणोके पीछे विषय और उत्तरे दृष्टान्त	३२
सकलका स्वभाव—	१	कर्मेश्वरके बधीभूत शिरणके नाशका दृष्टान्त	३३
वैयर्थ्यसाक्षी पगडंडी विज्ञानोको कैसे सम्मत्	२१	धर्मेश्वरके बधीभूत मीरके नाशका दृष्टान्त	३३
होमी ? इस शंकाका दृष्टान्त सहित समाधान	२१	विज्ञानेश्वरके बधीभूत मीनके नाशका दृष्टान्त	३४
पूर्वासाक्षीके तबे अनेक प्रश्न हैं फिर क्या प्रश्न	२२	राशनेन्द्रियके बधीभूत शारीक नाशका दृष्टान्त	३४
क्यों बनाते हो ? इसका समाधान मंत्रके	२२	१४-पौत्रो इन्द्रिणोके बधीभूत अंत्यमी षोडशिय दशा	३६
दृष्टान्त सहित	२२	एसा जोड विरय नही विरयक बार बार ठेकन	३६
वैयर्थ्यसाक्षीको हट करानेका उपदेश	२४	करनेसे युति होती हो	३६
वैयर्थ्यके वर्णनवाची शब्द	२५	अनिय विषय भी इस कल्पने कल्पता है इह विरय	३७
शब्द	२६	भी अनिय	३७
हेपके	२६	जोह प्रबोधनके अनुसार इन्द्रिय-व्यापार करता है	३७
किन् किन् कामोंके करनेसे आत्मा समा-वैयर्थके बधी	२७	अरिपर प्रेषवाले विषय बालकमें न रह होते हैं	३७
भूत होता है ?	२७	न अनिय	३८
२-द्वितीय अधिकांश—कथा—	कारिका १६	एगी हेरी जीवके इच्छोव और प्रच्छोवके किछी	३८
कथाबान्ध आत्माकी क्या रक्षा होती है ?	१	सुखकी उत्पन्ना मंथिरे इ प्र वि वि वि	३
सब कर्मबोध करना शक्य नहीं मोटे मोटे	२	कर्मकल्प होनेके सिवाय अन्य सुख न होनेका कारण	३९
बनबोधे कलकान्तसे मयबोधकी रक्षा होगी	२	आत्माके प्रवेशसे कर्मपुरुषके कौटुम्हिके विचिदने हैं	३९
शोकसाधका वर्णन	२१	एसा-वैयर्थ्यके कर्मेश्वरके उत्तरे मीरके नाशका दृष्टान्त	३९
मन	२२	सर्वज्ञके उत्तरे उत्तरे-कक तोइनेका उत्तरे	४१
माया	२३		
कथनोंके मूल हो पर गणकस अन्वयिकी-बन्धन	२४		

प	पृष्ठांक	विषय	पृष्ठांक
1-लगावकी बुद्धिमत्ता	४५	रेश कुल, घटित, धान, जालु कन, मोग निवृ-	
" मी मरियर नहीं है, शिव क्या है ?	४६	तिथी शिवाम्ना देसकर संशयमें हैने उठी	
5 गुणोंके होनेपर भी पुराणोंका विनव ही प्रथम		होती है ?	७
पूरा है	४७	केरलके जिनित	७०
जिे लयी आरंभ गुणके जावोज है जो अपना		श्रम परिश्रमोंके शिवशिके शिव शय-होपका साम	
शिव शायदा है उठे गुणकी केवामे कम		और इतिवृत्तोंको शय्य करनेका प्रथम क्रम	
प्रमा बाहिए	४९	बाहिए	७१
अपदेश देते हों तो अपनेको पुण्यकार समझे		७-सप्तम अधिख्यार—आपार—कारिका १ २-१४५	
कि गुणका सुखत रत्न बनकर है	४९	शिव अधिख्य सौं है ?	७१
परी अपदेशके द्वारा शिष्योंका उपकार करने-		शिव-अनेको मनुष्यको बोधा बहुत पुण्य होता है ।	
वाके आचार्यका शिष्यकी क्या मनुष्यका		अप शिव अपकारक है, इतका उत्तर	७३
करना बाहिए ?	५१	वृत्त उदाहरण	७३
उठे शिवका एक मोक्ष है	५१	संसार-धर्मके मध्यमीन मन्वजनोंको आचार्य	
करी मनुष्योंको क्या एक भोग्य पदय है ?	५२	मनुष्यका कर उत्तरी रखा करना बाहिए	७५
उपकार सुकला	५२	आचार्यके विद्वेषके उचित वर्णन	७६
बापके समर्थनमें उदाहरण	५५	आचार्यके प्रथम सुखार्थकी आवश्यकता है	
उप अधिख्यार—आरम्भ— कारिका ८०-१ १	५५	उनके आचारके आचारक १ विद्वेष	
उको बाह्यमें करना	५५	उचित वर्णन	७६
१-प्रथम करने कीवकी कोई बात करनी नहीं		द्वितीय सुखार्थकी प्रथम सूत्रिकाके अधिख्यके	
एक	५६	वर्णन	७८
अपकी उत्पत्ति	५७	उक्त पदकी द्वितीय सूत्रिकाके अधिख्यके वर्णन	७९
मनुको बुर करनेका उपदेश	५७	शिव बापुका मम भावमें रम जाता है उक्त साधुको	
पदको	५८	करी भी सुखकी वाक्य करते उक्त नहीं होती	८१
के मनुको	५	शिव-सुखकी अधिख्यका क्रम क्या है	८३
जिे मनुको " "	५१	८-सप्तम अधिख्यार—आववा— कारिका १४९-१६६	
जिे मनुको	५२	प्रथम-सुख अधिख्य उत्तर	८४
दिको शिव होनेका मर न कर्म बाहिए	५३	लगी इतिवृत्तों अधिख्य भोगते पु-की होने है	
अ मर न करना बाहिए	५४	वीर्यवृत्तोंके बर पुण्य कृष्ण मी नहीं	८५
मर करनेवाले लक्ष्मण सुग्रीवो क्या शिष्यकीमें	५५	शिव-सुखके प्रथममरण सुखकी उदाहरण	८६
शिवके शय्यत पुण्य मनुष्य इतकोकीमें		प्रथम-सुखका पुनः सुकला	८८
शिवकी उक्त पुण्यी होता है ।	५७	कीवकी शिव प्रोत्तरका साधु कर्म मर-केवल	
लगावी मी हुआ होता है	५८	कैते करेण ? इत शिष्या समाधान	८८
शिव सौं प्रोत्तर बाहिए ?	५८	कीव-बाप ? उक्तमें वृत्त करण	८९
विदवके शय्य ही कीव करेण शिष्योंमें क्या		" " कलाकथोपमा	९
होता है	५९	होत और पुण्यकी शिवा कोकले ही कटी बाहिए	९१

विषय	पृष्ठांक	विषय	पृष्ठांक
साधुओं प्रत्यक्ष करने योग्य क्या है ? और छोड़ने योग्य क्या है ?	१२	सम्बन्धनकी प्राथिकी बुद्धिमत्ता	११२
इष्टीका स्वर विवेचन	२	” सधन ”	११२
भोजनके बारेमें ,	१३	” पारिव ”	११३
काश्मीरके अनेकासे प्रत्यक्ष किया भोजन अन्वीये आदि रोग पैदा नहीं करता	१४	१-जलम अधिकार—बर्ष—	कारिका ११७-१८१
भोजन पात्र बर्षेष्ट प्रत्यक्ष करनेवाला साधु आदि प्रती कैसे हो सकता है ? इतका समाधान	१५	अमा मार्च आर्च आदि सध बर्षोंका संक्षिप्त स्वरूप	११५
उसी नियमितिका स्वरूप कथन	१६	अमावर्षका बर्षन	११६
दोषोंसे भरे हुए अक्षरों स्वरूप और उलके साथ सम्बन्ध रखकर साधु दोषोंसे किन क्यों मुक्त होता ? इतकी समाधान	१७	मार्चबर्ष	११६
बृहदा स्वरूप	७	आर्चबर्ष ”	११७
निर्मलका स्वरूप	१८	श्रीचरम	११८
अल्प (अक्षर) और अक्षर्य (अक्षर)का स्वरूप	१८	संपन्नबर्ष ”	११८
इसी अक्षरों स्वरूप	१	समापन	११९
बहुधा क्व अक्षर्य होती हैं ? और क्व अक्षर्य ?	१	अक्षर्य	११९
अनेकान्नादके अनुवाक अक्षर्य अक्षर्यकी विधि	१	सधबर्ष	११
बहुधाकर मन बधन काय योग्यो बर्षमें करनेका संक्षिप्त कथन	११	आम्यस्तव्य ”	१२१
इन्द्रियोंके बंध करनेका विवेचन	११	अक्षर्यबर्ष ”	१२३
अनिल अक्षर्य आदि १२ अक्षर्योंका खभित बधन	१३	आक्षर्य-बधन ”	१२३
अनियमावनाका स्वरूप	१४	अर्षका क्व	१२४
अक्षर्य ” ”	१४	विश्व रीतिसे वैश्वयमे रिकता हो वैश्व बध्न कना आक्षर्य	१२५
अक्षर्य ” ”	१	१०-वृषाम अधिकार—बध-कथा—का	१८१-१८८
अक्षर्य ” ”	१६	पार प्रकारमें बर्ष-कथा जाक्षेपनी विक्षेपनी संवेदनी और निर्वेदनी कथाका स्वरूप	१०६
संक्षर्य ” ”	१७	पार प्रकारमें विक्षेप-बोधकथा श्रीकथा आामकथा और वेदाकथाको त्यागना आक्षर्य	१०७
आम्यव	१८	विद्युत् स्थानका कथन	१२८
संवर ” ”	१८	शास्त्र शास्त्रकी सुलावि	१२
निर्बन्ध	१	शास्त्रका स्वरूप	१३
अक्षर्यमाधना ” ”	११	सर्वत्रदेवके बधन	१३१
स्वल्पमाध ” ”	११	११-वक्षर्यका अधिकार—श्रीवादि मन्त्र-कारिका १८	११३
शुद्धमाधोवि	१११	अक्षर्य शास्त्रोंम साथ बर्षाने बर्षाने हैं ? इतके १ बर्षों कदे ?	१३१
		श्रीशोके मिय	१३३
		संशरीरशोके मिय	१३३

विषय	पृष्ठांक	विषय	पृष्ठांक
१२-इन्द्रदा अधिकार—उपयोग-कारिका १ ४ १ ५		उपचन्द्रादेन ज्ञान, और चारित्र्य दोनों सिद्धकर मोक्षके	
धीरका ज्ञान	११४	साधन हैं वा एक एक। इत हीकाका उपाधान ११२	
जाठ और वात मेरुका कलूत कथन	११४	उपचन्द्र ब्रह्मशास्त्र आरम्भ किंत प्रकार करना	
१३-अपौरुषदा अधिकार—मात्र-कारिका ११६ ११७		धातिय ।	११३
जीवोंके माबोका वर्णन	११५	विचारमे बचन	११४
जीवामकारि मेरुका कथन	११५	१३-पौरुषदा अधिकार—हीकके अंग-क १४१ १४५	
इन्द्रास्या कथावतया पोषात्मा धाति जाठ मार्गजायें	११७	प्रथममुनी तातु ही हीकके उत्पूर्व मंगोषी ताका	
इन्द्रात्मा धातिकार्य स्वरूप	११८	कथन है	१६
उपचन्द्र कल्प, त्तु और अक्षु ज्ञानकी धातिय	१४	हीकके अकार इतर अंग और उमरी उतरादिने	
उपचन्द्र ब्रह्मशास्त्र स्वरूप	१४३	उपाय	१६९
१४-अतुर्बुद्धा अधिकार—बद्ध इन्द्र-क १ ७ २२७		१७-सातापदा अधिकार—उपाय-कारिका २४६ २६९	
अतुर्बुद्धाको बचन	१४५	कर्मानके ४ मेरुका वर्णन	१७
पुत्रहत्याके उपायमें	१४४	आकाशविषय अथवा कथपका स्वरूप	१७२
औद्योगिक धाति माबोयें कर्म धाति अतुर्बुद्धाको		विषयविषय संरक्षणविषयका स्वरूप	१७३
कौनसा मज्य होता है ।	१४६	परम्परासे वर्णभानका कथ	१७३
लोकायतनका वर्णन	१४७	१८-अपौरुषदा अधिकार—अपौरुषमी-क २७ २७१	
हीकके तीन मागोका वर्णन	१४८	तातु धातिकर्मक कथके एकदोउठे उतराच होनेकाका	
अदोकोका कथन	१४९	अनेक कश्चिबोने कुछ माठकी भावुंकाका	
कथा धाकाका लोकायतन है वा तर्क है ।	१४९	गुणरक्षण प्राप्त करना है	१७५
कौन कौन इत्य एक है कौन अनेक ?	१५	मुनिने अनेक बुद्धिम कश्चिबो प्राप्त होती है	
इन्द्रोका वर्णन	१५१	पर वह उबमें ममत्त नहीं रक्षता	१७६
पुत्रहत्याका उपाय	१५१	मुनिबोके बी कश्चिबो प्राप्त होती है वह तब कश्चि	
नाक और जीवहत्याका उपाय	१५३	बधि सक्षर होती है	१७६
पुत्र और वात पदार्थ वर्णन	१५४	मुनिबोको प्राप्त कश्चिबोके सामने इन्द्र अहमित्योको	
आन्तर संहर निरूपण	१५४	प्राप्त कश्चिबो तुच्छ है	१७७
निर्बन्ध कथ और मोक्ष निरूपण	१५५	किंत करनेवाले लोकादि कथाबोका वेत्त मुनि	
उपचन्द्रादेनका स्वरूप	१५५	कश्चिबोके विषय प्राप्त कर कथावपाय-	
उपचन्द्रादेनके मंत्र	१५७	कारिबोके प्राप्त करता है	११७
उपचन्द्रादेनके मंत्र	१५८	योगीबुद्धके सम्पूर्णकी प्रक्रिया	१७८
उपचन्द्रादेन और सिद्धादानमें मंत्र	१५९	योगीबुद्धके २८ प्रकृतिबोका न.श होनेस मुनि	
१५-पौरुषदा अधिकार—कारिका क २१८ २४९		वीतराय ही जाता है	१७
उपचन्द्राकारिका परिचय	१६	अपौरुषमी अकल्प का वर्णन	१८२
” के मंत्रोका ”	१६१	इसी वातकी उपाय	१८३

विषय	पृष्ठांक	विषय	पृष्ठांक
मोक्षोपक्रमक क्षय होनेपर क्षय क्रमोंका क्षय अवस्य हो जाता है	१८३	शरीरका संशय भावों क्रमोंका क्षय करके सुखशील मनुष्यकोकर्म नहीं ठहरना ठहरनेका न कोर कारण है न आशय और म त्याग	२१
केवलज्ञानकी प्राप्तिका और विक्षय वर्णन	१८४	सुखशील नहीं नहीं ठहरना है तो न ठहरो किन्तु उसे उपर ही जाना चाहिए, ऐसा नियम कित्तु कारयते है ? इत शोकका समाधान	२२
१९-उक्तोक्तिविराति अधिकांश-उत्पन्न- कारिका १७२ २०६		यदि सुखशीलक किया भी नहीं है तो उपर्यगमन कसे करता है ? इत शोकका समाधान	२३
उत्पन्नोक्ति विधि-उत्पन्नोक्ति कित्तु समय कौन योग होता है ?	१८८	सुखशीलक अनुपम सुखकी सिद्धिका बचन	२४
२०-विराति अधिकांश योगनियम- का	२००-२८२	२-२-उक्तिविराति अधिकांश-अनुपम का	२६ ३१३
योगनियम करतेकी रीति	१९	उत्पन्नोक्ति कालका बचन	२७
योगनियम सम्बन्धी शोकमोक्ष समाधान	११	यैष अनुपम तौन गुणनत यत शिवात्मन आदि भावकीके प्रतीका बचन	२९
मनोबोगमक बाद योगनियम कथा है उक्तका निरूपण	११	यैषकथा प्रचलनका माहात्म्य बतलाते हुए कहते है को कुछ मीते इत प्रथमे माहिते अनुपम करा है वह सब प्रचलनमें विद्यमान है, अर्थात् सुखिते कश्चित्त नहीं करा है	२९ ३१३
योगनियम होनेपर कबकीभागवानकी अवस्थाका बचन	१५	सुखानुभवकारकी कथना कामना	३१ ३१४
अनुपमकिन्तुविशेष्यजनक समय बह शैलेयी अवस्थाको प्राप्त करत है	१९५	अन्य संगक	३१
२१ एकविंशति अधिकांश-मोक्षयामन-विधान- कारिका २८१-२८		शोककारकी प्राप्ति	३१६
कैवली अंतिम समयमें आर्कंक्षाल क्रमदक्षिणोको न्यगत है इतत्पर वेदनीय अनुप नाम और योगक्रमके समूहको एक साथ मर कर देते है	१०	शोक बचनका समय	३१६
विद्यार्थका बचन	१९८	परिनिष्ठ —	
कुछ बारी मोक्षका केवल आगाव स्वप्न ही मानत है उक्तका निरूपण	२	१ अवबृति	३१७
		२ प्रश्नोत्तरप्रकरणकी कारिकाओंकी अनुक्रमविका	३७
		३ उत्पन्नोक्तिमें उक्तुत पद्योंकी अनुक्रमविका	३१९
		४ विचार शान्त हूँ	

प्रकाशकका निवेदन ।

१९२३

श्रीमदुत्तारप्रदेशीय पुस्तक मंडल (मोक्षदास) ए च मैत्रदासदास बहुत पहले प्रकृत कर चुकी है अब उत्तरी बंग दूरी कुम्हार तथा प्रकाशकप्रकाशकके प्रकाशित करनेका लोभाल्य प्राप्त हुआ है ।

इस प्रकाशकके विद्यमान स्वेच्छामय होनेकी लक्षणाओंमें मालूम है । इसका उत्पन्न प्रकाशकप्रकाशकके भीतरसेना कर्तव्ये किया है ।

इस प्रकाशकके उत्पन्न होनेके स्वेच्छामय होनेकी लक्षणाओंमें मालूम है । इसमें प्राचीन शोध और प्रकाशकप्रकाशकके भी जो इसमें मालूम है । यह शोध प्रकाशकप्रकाशकके मालूम करने के लिए १९१९ में मालूम हुआ था जो अब मालूम है । दूरी शोध केवलके लक्षणाओंमें मालूम करने के लिए १ वर्ष पहले ही था मालूम है ।

आमर ५१९ का पहले इस प्रकाशकके लक्षणाओंमें मालूम करने के लिए १९१९ में मालूम हुआ था जो अब मालूम है । इसमें प्राचीन शोध और प्रकाशकप्रकाशकके भी जो इसमें मालूम है । यह शोध प्रकाशकप्रकाशकके मालूम करने के लिए १९१९ में मालूम हुआ था जो अब मालूम है । दूरी शोध केवलके लक्षणाओंमें मालूम करने के लिए १ वर्ष पहले ही था मालूम है ।

प्रोफेसर राजकुमारजी इस प्रकाशकके एक मालूम करने के लिए १९१९ में मालूम हुआ था जो अब मालूम है । इसमें प्राचीन शोध और प्रकाशकप्रकाशकके भी जो इसमें मालूम है । यह शोध प्रकाशकप्रकाशकके मालूम करने के लिए १९१९ में मालूम हुआ था जो अब मालूम है । दूरी शोध केवलके लक्षणाओंमें मालूम करने के लिए १ वर्ष पहले ही था मालूम है ।

श्रीमदुत्तारप्रदेशीय पुस्तक मंडल (मोक्षदास) ए च मैत्रदासदास बहुत पहले प्रकृत कर चुकी है अब उत्तरी बंग दूरी कुम्हार तथा प्रकाशकप्रकाशकके प्रकाशित करनेका लोभाल्य प्राप्त हुआ है । इस प्रकाशकके विद्यमान स्वेच्छामय होनेकी लक्षणाओंमें मालूम है । इसका उत्पन्न प्रकाशकप्रकाशकके भीतरसेना कर्तव्ये किया है ।

श्रीमदुत्तारप्रदेशीय पुस्तक मंडल (मोक्षदास) ए च मैत्रदासदास बहुत पहले प्रकृत कर चुकी है अब उत्तरी बंग दूरी कुम्हार तथा प्रकाशकप्रकाशकके प्रकाशित करनेका लोभाल्य प्राप्त हुआ है ।

निवेदन
—मोक्षदास और प्रोफेसर



नमो श्रीतन्मय

रायचन्द्रजैनशास्त्रमालयां

श्रीमद्विद्यासाहित्यविश्वविद्यालय

प्रशमरतिप्रकरणम्

श्रीहरिमद्रसूरिविषयविश्वविद्यालय

हिन्दीभाषानुवादसहितम् ।

टीकाकारस्य मङ्गलानुवाचम्

'प्रशमरत्येन येनेयं कृता वैराग्यपद्धति ।

तस्मै वाचकमुखाय नमो भूतार्थमापिणे ॥ १ ॥

प्रशमरतिप्रकरणारम्भे मङ्गलानुवाचं विवक्षितप्रकरणार्थस्याप्रत्यक्षेण परिसमाप्त्यर्थं

मित्याह—

कारिका—नाभेयाद्या सिद्धार्थराजसूनुचरमाश्वरमदेहा ।

पञ्चनवदश च दशविधधर्मविधिविदो जयन्ति जिना ॥ १ ॥

संस्कृत टीका—नाभिः कुम्भकटः । नामेरपत्वं नाभेयाः भूपमनामा आदिदेवः, स आद्यो
येषां तीर्थहृतां ते नामेयाद्याः । सिद्धार्थो राज्ञा, तस्य सूनुर्बर्षमानाक्यः, स चरमः पश्चिमो
येषां ते सिद्धायपञ्चसूनुचरमाः । चरमः पश्चिमो देहो येषां ते चरमदेहाः । ततः परं संसृतेरमा-
शादन्यशरीरप्रवृत्त्यासंभवः, कामाभावात् पञ्चेन्द्रियादिप्राणप्रकाशमात्रं, तद्भावात् शरीरमात्रं,
ततः सांसारिकसुखातीता एकान्तिकात्यन्तिकान्तिसाया निरावाप्त्याधीनमुक्तिस्तुलमात्रः संसृता
इत्ययं । कियन्तस्ते पुनः ? इति सख्यां निरूपयति—'पञ्चनवदश च इति हृदयन्दसमासा
चतुर्विंशतिः इत्ययं । अन्ये तु पञ्चादिषु भिन्नपि पक्षेषु प्रयमावदुत्कर्षं विदुषति । च'
समुचये । सर्वे च ते दास्तापे भव्यसत्त्वानामुपदेष्टारो धमस्य दशविधस्य समादेशद्वयया
वसानस्य इत्याह—'दशविधधर्मविधिविदः इति । विधिः प्रकाटः समादिर्न्तं विदुस्तीति । स
चोपरिच्छादस्यते— सेव्यः क्षान्तिमादृश इत्यादिना । विदित्वा च केवलज्ञानेनोपदिशन्ति

मुमुक्षुभ्यः सत्त्वेभ्यः त एवविद्या ब्रह्मन्ति सर्वाङ्गं अम्यतीर्यहृदोऽभिभूय त एव ब्रह्मन्ति नाम्ने ।
यथाह आचार्यः सिद्धसेनः—

“ अम्येऽपि मोहविजयाय निपीडय कसामभ्युत्थितास्त्वपि विकृतसमानभामाः ।
अभान्य ते तव गतिं हृत्पावसानास्त्वामेव वीर शरणे ययुस्तद्वहन्ताः ॥ १ ॥ ”

के पुनस्ते मानेयाद्याः सिद्धार्थराजसमुत्तरमाः ? इत्याह— जिनः इति । एगद्वेक-
चेतारो जिनः । एगद्वेपौ कस्यमापी मोहनीयकर्मप्रकृतेर्मदी तद्ग्रहणाच्च सकलमोहप्रकृति-
मेवग्रहणम् तद्वये च क्षामदर्शनावरणान्तराप्याणि कथमुपयास्तीति । अतो धातिकर्मचतुष्टयस-
पात् केवलज्ञानमास्करूपिमाक । अतो एगद्वेपग्रहणं सूचनमात्रमिति ॥ १ ॥

मावाटीकञ्जरका मङ्गलाचरण

सृष्टि श्रीमदुमास्वामी, राजता मे चिदम्बरे ।

सम्प्राग्वर्षिका पश्य मुमुक्षुणां सनुत्थय ॥

बोहा-मङ्गलमय मङ्गलकरण मङ्गलसिद्धिनिधान ।

मेरे मन-भन्दिर वसो, उमास्वाति भगवान् ॥

इस प्रसंगमें नामके प्रकारके प्रारंभमें इसकी निर्दिष्ट समाप्तिके लिए प्रत्येक मङ्गलाचरण करते हैं—

अथ—अभिप्रायक पुत्र श्रीशुभदेवको आदि लेकर राजा सिद्धार्थके पुत्र श्रीवर्षमानस्वामी पर्यन्त दस प्रकार वर्णित विभिन्ने धाननेवाके चरणशरीरी श्रीश्रीश जिनदेव जयन्त ॥

माचार्य—श्रीशुभदेव इस युगके प्रथम तीर्थकर हैं और श्रीवर्षमानस्वामी अन्तिम तीर्थकर हैं । सभी तीर्थकर चरणशरीरी होते हैं । तीर्थकरके मरणके बाद उनके संसारका अन्त होनेके कारण वे अन्य शरीर ग्रहण नहीं करते । तथा कर्मोका अभाव होनेसे इन्द्रिय और प्राण भी उनके नहीं रहते । अतः उनके मरणे शरीरका अभाव हो जाता है । और शरीरका अभाव हो जानेसे सांसारिक सुखसे मुक्त होकर एकान्तिक, अहम्पत्तिक, निरतिशय और वाचस्पित मुक्तिके सुखका अनुभव करते हैं । वे तीर्थकर १+२ +१=४ हैं । वे सभी क्षमा, मर्दान, आर्षव आदि दश धर्मोको जानकर मोक्षके इच्छुक मध्य श्रीशोको उनका उपदेश देते हैं, अतः वे वर्णित इस विधियोंके ज्ञाता कहे जाते हैं । तथा एग और देवके जीतने वाके होनेके कारण वे सभी जिन कहलते हैं । एग और देव मोहनीय कर्मके भ्रष्ट हैं । उनके प्रहणसे मोहनीयके सब भेदोका प्रहण सम्पन्ना आदिय । और मोहनीयको पीत केनेपर ज्ञानारण दर्शनारण और अन्तःप्रायकर्म नष्ट हो जाते हैं । अतः चार धातिकर्मोके छाप हो जानेसे केवलज्ञानस्वी सूर्य प्रकट हो जाता है । इस प्रकारके वे तीर्थकर अन्य मर्मोके तीर्थकोके परास्त करनेके अयन्त होते हैं । क्योंकि अन्य तीर्थकोमें वे सब गुण नहीं पाये जाते । विसा कि आचार्य सिद्धसेनने कहा है—

भगवन् । अन्य देव आपके उत्कर्षको स्रष्ट न करके मोह-विजयके लिए तैयार हुए परन्तु वे

येहको नहीं जीत सके। उन्हें आपका पद प्राप्त नहीं हो सका। उनका प्रयत्न निष्फल गया और अन्तमें वे आपकी ही सफल धारणमें आगये।”

मरतसेवसंभूततीर्यङ्गवस्तुविधातोः प्रकल्पकापो नमस्यां विधाय संम्पत्ति समस्तकर्म-
भूमिबर्तिनो विनादीन् प्रथिभित्सुपह—

मरतसेवमें उपपन्न हुए चौबीस तीर्थकर्तोंको नमस्कार करके जब समस्त कर्मभूमिके तीर्थपर जातिके नमस्कार करनेकी इच्छासे प्रणवकार करते हैं—

जिनसिद्धाचार्योपाध्यायान् प्रणिपत्य सर्वसाधूश्च ।

प्रशामरतिस्थैर्यार्थं वक्ष्ये जिनशासनात् किञ्चित् ॥२॥

टीका—पूर्वोक्तप्रश्नात् विना, तीर्यङ्गः सामान्यकेबन्धिनो वा । सिद्धास्तु निश्चितसकल-
प्रयोजनात् सकल कर्मविनिर्माणास्तोकरिशालपध्यासिना स्वामीनसुखाः साधपर्यवसाना ।
पञ्चविधाचारस्यास्तुपदेशादाभावाच्चाचार्या परमापप्रबन्धनार्थनिरूपणे निपुणा । उपेत्य उपगम्य
पतोऽधीयन्ते क्षिप्याः इति उपाध्यायाः सकलदोषपहितमूढसंग्रहाः । अथ इन्द्रसमासस्तान् ।
ज्ञानज्ञानचारिप्रकृष्टाभिमि पौरुषेयीमिः शक्तिविमोक्षं साधयन्तीति साधवाः । सर्वप्रहणा
घोऽर्प्यस्ये प्रतिपन्नाः समस्तसाधययोगविरतिरक्षणं सामाधिकं तेऽपि प्रथिपासाहा इति
वक्षयति । अथवा सर्वसाधुः सर्वनिवापेकते मध्यवर्तित्वात् । ‘सर्वान् विनान् सर्वान् सिद्धान्
सबानाचार्यान् सर्वानुपाध्यायान्, सबसाधूश्च प्रणिपत्य इति प्रत्येकमभिसम्बन्धः ।

एवमित्येकतोद्देशेनामिहितः प्रणिपातः । तदनन्तरमापद्रुपकारिस्वाप्नाचायादीनपि
प्रणम्य अन्वर्थसंज्ञायुक्तप्रकरणक्रियां प्रतिबान्तीति प्रतिविशिष्टप्रयोजनं च वक्षयति
कारिकादेन— प्रशामरतिस्थैर्यार्थम्’ इति ।

वर्ष्य—वरिष्ठम्, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और सर्वसाधुओंको नमस्कार करके ‘प्रशामरति’
बर्षात् वैराग्यमें प्रीतिके दृढ़ करनेके लिए जिनशासनके आभारपर कुछ कहूँगा ।

माहाय—जिनका क्लम पहले कर आये हैं। तीर्थकर्तोंको जबवा सामान्य केवलियोंको जिन
कहते हैं। जिनके सभी प्रयोजन पूरे हो चुके हैं, बर्षात् जो कृतज्ञ हैं। जिन्हें कुछ करना बाकी नहीं है।
तथा समस्त कर्मोंसे मुक्त हो जानेसे जो लोकके अम मागमें विराजमान हैं, जिनका कुछ ल्पार्थन है और जो
छाट्टे होते हुए भी अन्तर्हित हैं, वे सिद्ध हैं। जो दर्शनाचार, ज्ञानाचार, नीर्याचार, चारित्राचार और तपाचार
इन पाँच आचारोंका स्वयं आचरण करते हैं और दूसरोंको उनका उपदेश देते हैं, वे आचार्य हैं। ये पर
मार्थके लिए कामकाशी साधकके अर्थ करनेमें निपुण होते हैं, अर्थात् जिनागमके ज्ञाता और कुछक म्याक्यता
होते हैं। जिनके समीपमें जाकर क्षिप्यवर्ग सकल दोषोंसे रहित सूत्र-ग्रन्थोंका अध्ययन करता है, वे

१ साम्पत्तं मु । २ लर्षक-मु । ३—उ म्प्राइ प । ४ पार्यवर्ष्य—प । ५ वृत्तप्रदा प० ।
६—दीप्ययम-मु । ७ लर्षोपाध्यायान्-मु ।

उपाध्याय हैं। सम्पूर्ण, सम्पन्न और सम्पूर्ण-कारिकरूपी अपनी शक्तिके द्वारा जो मोक्षकी साधना करते हैं, वे सर्वसाधु हैं। साधुके पहले 'सर्व विशेषण व्यापकेण प्रत्यक्षरक्य अमिप्राय यह है कि शिष्टोने भाव ही समस्त पापम्वी प्रभुत्विकोंके त्यागकर समग्रिके सम्पन्नो कारण किया है, वे भी नमस्कार किये जानेके योग्य हैं। अथवा सर्व सम्पन्न मध्यमें होनेके कारण योंकोके साथ व्याप्य जाता है। अर्थात् सब तीर्थचरोके, सब शिष्टोके, सब आचार्योके, सब उपाध्यायोंके और सब साधुओंके नमस्कार करने इत्यादि।

इस प्रकार इद देवताके उपदेशसे आरंभ्य और शिष्टोके तथा निकट उपकारी होनेके कारण आचार्य औरशुद्धी भी नमस्कार करने करिकारके प्रथमस्तिस्वीर्यन्' इत्यादि उपदेशसे प्रत्येक नामकी शक्ति तथा प्रयोजनको बतलते हुए प्रत्यक्षर प्राय बनानेकी प्रवृत्ति करते हैं।

आरंभ्यद्विष्टता प्रथमो वैरग्यमिति। वस्तुति उपरि मांभ्यस्य वैराग्यम् इत्यत्र। तत्र वैरग्यस्यैव प्रथमे रति शक्तिः प्रीतिः तन्मा स्वीर्य निश्चयता प्रथमस्तिस्वीर्यम्। अर्थशास्त्र प्रयोजनबननः। 'प्रथमस्ती कथं माम स्थितो मुमुक्षुर्मम्यस्यात् इत्यतो वक्ष्ये प्रकरणम्। तत्र विनशासनदेव वक्ष्यामि, मन्मथ प्रथमामात्। यतः सर्वाश्रयनिरोधैकरत्तं हि शीर्ष शासनम्। न आम्भ्यैर्बधिमस्ति। प्रथमकारि मन्वचनं शासनं दावशास्त्रमाचारानिद्विधावपर्यन्तम्, तत्र एवाकरवनेकाधर्षनिधानम् तस्मात् किञ्चिन् मनात् वक्ष्ये। समस्तामिधाने धर्षपि शक्ति र्मास्ति, तथापि प्रथममात्पाथावधारणपरिपूर्वकत्वात् मन्मथा स्वरूपेऽपि प्रथमावृत्तिस्त्वुर्धयेपु पातितो महास्तुपुपक्षरं प्रथमे उपकर्तुं मन्मयोपकार स्वपरहितप्रतिविधिदृष्टव्यापी आवत इति तदव- वक्ष्ये विनशासनम् किञ्चित् ॥ २ ॥

उप और हेपके अन्तर्गत प्रथम करते हैं। इसीका नाम वैराग्य है, 'वेदा कि प्रत्यक्षर मांभ्यस्य वैराग्यम् इत्यादि करिकारके आने बतलाने। उस वैराग्य रूप प्रथममें जो रति अर्थात् प्रीति, उसमें जो निश्चयता अर्थात् नेत्रयप्ये प्रीतिके स्थिर रहना सो 'प्रथमस्तिस्वीर्यम्' है। तथा 'वर्ष से अग्रिप्राय प्रयोजनकर है। विसरे प्रत्यक्षरक्य अमिप्राय यह है कि प्रथमस्ति' में—वैराग्यके प्रथम में—मुमुक्षु मन्म जीव निवृत्त प्रकर स्थिर हो इसी प्रयोजनमें है इस मन्वको कर्तूंगा। तथा जो कुछ कर्तूंगा वह विनशासनके आधारसे ही कर्तूंगा; क्योंकि अन्य पूर्वमें प्रथमकर अन्तर्गत है। विनशासनका परि कोई एक रस है तो वह सब प्रकारके आशुओंका रोक्ता ही है। किन्तु अन्य मन्मोंमें यह बात नहीं है। आचार्यके केकर शिष्टवत्पर्यन्त समस्त दावशास्त्रके प्रवचन प्रथम—वैराग्यको करने जाता है तथा एवाकर-मुमुक्षुके तरह अनेक आचर्यमयी बातोंका व्याकरण-साधि है। उससे केकर कुछ

१ अर्थशास्त्रप्रवचनकर्त्तव्यप्रथमस्तिस्वीर्यन्तर्गतो वस्तुत्वेन पश्यति शक्तिर्यो न वैराग्यस्यैव प्रथमे रति शक्तिः तन्मा स्वीर्य निश्चयता प्रथमस्तिस्वीर्यम्। अर्थशास्त्र प्रयोजनबननः। 'प्रथमस्ती कथं माम स्थितो मुमुक्षुर्मम्यस्यात् इत्यतो वक्ष्ये प्रकरणम्। तत्र विनशासनदेव वक्ष्यामि, मन्मथ प्रथमामात्। यतः सर्वाश्रयनिरोधैकरत्तं हि शीर्ष शासनम्। न आम्भ्यैर्बधिमस्ति। प्रथमकारि मन्वचनं शासनं दावशास्त्रमाचारानिद्विधावपर्यन्तम्, तत्र एवाकरवनेकाधर्षनिधानम् तस्मात् किञ्चिन् मनात् वक्ष्ये। समस्तामिधाने धर्षपि शक्ति र्मास्ति, तथापि प्रथममात्पाथावधारणपरिपूर्वकत्वात् मन्मथा स्वरूपेऽपि प्रथमावृत्तिस्त्वुर्धयेपु पातितो महास्तुपुपक्षरं प्रथमे उपकर्तुं मन्मयोपकार स्वपरहितप्रतिविधिदृष्टव्यापी आवत इति तदव- वक्ष्ये विनशासनम् किञ्चित् ॥ २ ॥

कौंगा। यद्यपि समस्त द्वादशग्रहके कर्मन करनेकी शक्ति मुझमें नहीं है, तथापि ग्रहण, धारण और अर्चन निश्चय करनेमें भी जीव अन्यन्त दुर्बल हूँ। अर्थात् जो समस्त अर्चको न तो ग्रहण कर सकते हैं, न अपनी स्पृशमें रख सकते हैं, और न उनका अर्च ही सम्भ्र कर सकते हैं, उन जीवोंके द्वारायें भिराई गई प्रशमरूपी अमृतकी दो-भार हैं भी मझान् उपकार करती हैं और उपकार कर्मबाजेका यह उपकार अपने और दूसरोंके हितके लिए विशेष फलदायक होता है। अतः प्रणयकार कहते हैं कि त्रिनशासनसे ऊपर कुछ कर्तव्य।

‘वस्ये’ इत्युक्तम्। अर्चद्वयुक्तानां तु सकष्टस्तत्र प्रवेश इति आर्याद्वयेनाह—

अस्त्रानियोका त्रिनशासनमें प्रवेश करना कठिन है, यह बात दो कारिकाओंसे कहते हैं—

यद्यप्यनन्तगमपर्यायार्थहेतुनयशब्दरत्नाक्षरम् ।

सर्वज्ञशासनपुर प्रवेष्टुमवहुश्रुतेर्दु स्वम् ॥३॥

टीका—समस्तामिधाममक्षय्य यद्यपि बहुश्रुतेनास्मद्विज्ञेन सर्वज्ञशासनपुरप्रवेशा मावादेव । तद्वि परमदुर्गं दुर्लभाक्षम् अमन्तगमपयापार्यत्वात् । तथा शौक्तम्— ‘अपंतगमपञ्चं सुक्तम्’ इति। अर्थात् हि अमन्तैर्गमैः पर्यायेभ्य यस्य सर्वज्ञशासनपुरस्य तदन्तगमपयापार्यम् । गमः स्यादस्ति स्यात्तास्तीति सत विकल्पः । पर्यायास्तु प्रकृतवस्त्वपेक्षाः सूत्रपर्ययस्याया बहवः । हेतुः कारणमात्रम् अन्वयभ्यतिरेकत्वात् वा । अनेकरूपज्ञेयात्मना अन्वयवसायविशेषा मेगमसप्रहादयो नया इत्तिवर्षाभिः अन्वयानाम- स्त्वसायवत् उत्तरोत्तरसूक्ष्मज्ञानात् । शब्दप्राप्त्यामिहितलक्षणाः साधुशब्दः प्राकृताः संस्कृ- ताश्च । शब्दप्राप्तं च पूरान्तःपाति यत इत्वं प्राकृतभ्याकरणं संस्कृतभ्याकरणं वाक्यम् । अनन्तगमपर्यायार्थहेतुनय शब्दा एव रत्नानि व्याख्यातुं गिरां मण्डनानि भूषणानि एभिराख्यं श्रुदिमत् । आद्यशब्दः प्रसूतवचनम् । अनन्तशब्दो वा सर्वत्रामिसम्बन्धयते—अयंस्वानस्यादेतवो नयाः शब्दाश्चानन्तः । तथा आद्यशब्द आहुतवचनम्, तैराद्यम् ‘आहुतं गहनम्’ इति । तदेवंविधं सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुम्—अन्तर्निपत्य शत्रुम् अर्चद्वयुक्ताः—अनधिगतसकलपूर्वार्थिः, दुःखम्—अशक्त्यमेव, वर्तते’ इति शेषः, प्रवेष्टुमित्यर्थः ॥ ३ ॥

अयं—यद्यपि अनन्त मङ्ग पर्याय, अर्च, हेतु, नय और शब्दरूपी रत्नोत्तरे मरूट सर्वज्ञ शासन रूप नगरमें अस्त्रानियोका प्रवेश करना दुष्कर है।

माचार्य—त्रिनशासन एक नगरके समान है। जैसे दुर्ग नगरेके कारण नगरमें प्रवेश करना कठिन होता है, वैसे ही अनन्त मङ्ग पर्याय नगरेके मरूट होनेके कारण मेरे जैसे अल्प ज्ञानी उस त्रिनशासन नगरमें प्रवेश नहीं कर सकते। बल्कि कष्टित है, कष्टित नहीं है, इत्यादि सात मङ्गोंको नम कहते हैं। एक बलुमें कल-रूपसे होनेवाली हाथोंको पर्याय कहते हैं। जैसे मिट्टी पर्याय बड़ा नगरेह। शब्दोंक

१ नरित वाचकमिदं प प्रती। २ पर्यायार्थं प । ३ दुर्ग-दुर—दुः । ४ सर्वशेषं दु ।

५ पर्यायार्थं दु । ६ सर्वशेषं दु ।

मानके वर्षे करते हैं। कर्मके अवशा साध्यके साथ प्रियही व्याप्ति हो उसे हेतु करते हैं। त्रिष प्रकर अन्धे मनुष्योंको हाथीके एक एक अङ्गका ज्ञान होता है, उसी प्रकार अनेक पर्याप्तक वस्तुके एक एक धर्मको ज्ञान जो ज्ञानविशेष होते हैं, उन्हें नय करते हैं। उनके भेद नैगम, संग्रह औरतह हैं। इनका विषय उच्यतेषु सूत्र होता है। औरतह पूर्वोक्ते अन्तर्गत शब्दप्रामाण्ये विनयक कथन कथा गया है, उन संस्कृत और प्राकृतके शुद्ध शब्दोंको धर्म करते हैं। धर्मप्रामाण्यके आधारपर ही संस्कृत और प्राकृतके व्याकरण बने हैं। अनन्त धर्म प्रमेकके साथ कथाना चाहिए। इस तरह सर्वत्रदेवका धारण अनन्त मङ्गोते, अनन्त पर्याप्तोते, अनन्त वर्षोते, अनन्त हेतुओते, अनन्त नयोते और अनन्त शब्दोते कहा गहन हो गया है। उसमें जो बहुसुन नहीं है, जिन्होंने अङ्ग-पूर्वरूप सफल शाब्दोका अल्पन नहीं किया है, उनका प्रवेश पावा अज्ञान ही है।

यद्यपि इति अपेक्षामप्य इवमाह—
तत्रापि—

श्रुतश्रुदिविभवपरिहीणकस्तथाप्यहमशक्तिमविचिन्त्य ।
द्रमक इवावयवोच्छ्रकमन्वेष्टुं तत्प्रवेशोष्पु ॥४॥

यद्यपि अशक्त्यप्रवेशो सर्वज्ञसासनपुरमस्माद्विधेन तथापि श्रुतश्रुदिविभवपरिहीणोऽपि अविगतसकलपूर्वाधीनमवस्तेन परिहीणः परित्विद्यम्, तथा श्रुदिविभवपरिहीणकम्—
श्रुदिविमक कोष्ठश्रुदित्त्वं श्रीश्रुदित्त्वं पदानुसारित्वमित्यादि। अहम् इति आत्मानं निदिशति प्रकरणकारः। अशक्तिमात्मगतानविचिन्त्य मनयेत्य अनानुत्वात्मनोऽ सामप्य सोऽहं समुभयः कर्तुं द्रमक इव। इमको निम्नो रङ्ग। स हि ईशतावधि-
सिक्त्यान्वपुचित्योचित्ये विप्रकीर्णानि पोपमात्मनः करोति—अन्वकारिक इव श्रीशक्तिमान् मुनि निपसितान् उचित्य शरीरस्थितिं विधत्ते। तेषां विप्रकीर्णानां संक्षयममुच्छ्रमेव उच्छ्रकम्। एक-
महमपि पूर्वपुनसिंहमेहामतिमिराकम्पमापे प्रवचनार्थेऽनेकशो यद्वयवयवमात्रमाकर्षतां सतिर्तं किञ्चित् तद्वन्वेष्टुं गयेपयितुं सर्वज्ञशासनपुरं प्रवेष्टुमिच्छामि। परिश्रुतितान्वयवोच्यपनमाक्रेण सर्वज्ञसासनपुरं प्रवेशमाप्तुमिच्छामीत्यर्थः। आयांइत्यस्यै उपनयो जया-यद्द् रत्नाद्यपुरमन्त-
प्रवेष्टुमविर्भवाः सकर्षं तद्वत् सचज्ञशासनमभवोर्दुं सकर्षं वर्तत इत्यर्थः ॥४॥

अर्थ—शास्त्राग्राह और श्रुदिको सम्प्राप्त विच्छ्रक हीन होनेपर भी मैं अपनी अस्मत्कृत्यो न विचार कर, जैसे कोई रङ्ग मनुष्य बालके कर्मको शीतलेके किर गगारमें प्रवेश करना चाहता है, जैसे ही प्रवचनके कर्मको शीतलेके किर मैं सर्वज्ञ-शासनकारी गगारमें प्रवेश करना चाहता हूँ।

मात्कार्य—मैं न तो समस्त शाब्दोका ही पूरा पूरा अन्वाप्त किया है, और न मेरी बुद्धि ही अवीचिक है। अतः मेरे पास न तो शाब्दो सम्पदा है और न कोष्ठबुद्धि, श्रीश्रुदिक, पदानुसारी

१ वदपरित्यक्तम् अन्वयविधेन परिकटा पाठो वासि सु प्रती। २ मुञ्जिभम्—प। ३—मुच्यते—प०।
४ अहमप्य—प। ५—अपुचित्त्वं वि—प०। ६ आयांइत्यत्र कथयत्य कथि इत्यर्थः परिकटा
पाठो वासि प० प्रती।

बगैह बुद्धिहीन सम्पदा है। फिर भी जिस प्रकार कोई दीन-हीन मनुष्य देवताको बढ़ाये गये प्रसादके इशारतपर पढ़ हुए कर्णोंको नीन-नीन कर अपनी पेट मरता है, या खेतोंके काट छिप जानेपर जमीनमें गिरे हुए धान्यके कर्णों (सिंकासे) अपना निर्बाह करता है, उसी प्रकार मैं भी—दूरभिन्न पुरुषोंने अपनी बुद्धिसे अनेक बार प्रवचनके जिस बर्षका आभोजन किया है और ऐसा करते समय प्रवचनके बर्षके जो कुछ कण इशारतपर छिटक गये हैं—उन्हें खोजनेके छिपे सर्वज्ञ-शासनरूपी नगरमें प्रवेश करना चाहता हूँ। अर्थात् त्रिनद्यासनके अन्दर घुसकर उसके रहस्योंको निकरकर मेरी शक्तिके बाहरकी बात है; किन्तु इसीने उसमें घुसकर जो कुछ सोचा है, उनकी खोजके फलस्वरूप पड़े हुए कुछ धानके कण शायद मुझे भी मिल जायें, इसी छिपे मैं त्रिनद्यासनमें प्रवेश करना चाहता हूँ। सारांश यह है कि त्रिनद्यासनको समझना बड़ा कष्टिन है।

तामेवोच्छ्रुतितामात्मनो दर्शयति कारिकाद्वयेन—

दो कारिकाओंसे अपनी उसी पूर्व इष्टिको दर्शाते हैं:—

बहुभिर्जिनवचनार्णवपारगते कविवृषैर्महामतिभिः ।

पूर्वमनेका प्रथिता प्रशमजननशास्त्रपद्धतय ॥ ५ ॥

टीका— त्रिनवचनार्णव इह, पारगमनाशास्त्रात्मन्मतिभिः । महामतिभिस्तु बुद्धिबिमल-
प्राप्तैः सुगमपाठ ' इति दर्शयति । त्रिनवचनात्मवपारगते बहुभिर्महामतिभिश्चतुर्दशपूर्वविद्भिः
शास्त्रप्रतिबद्धकाम्यकरणनिर्णयैः सात्त्विकभिः शब्दायदोषपरहितकाम्यकारिभिः कविर्षैः कविप्रधानैः
मैः पूर्व प्रथमतस्त्रेव अनेका बहुय प्रशमजननशास्त्रपद्धतयः प्रथिताः प्रकाशिताः । प्रथमो
वैराग्यम्, स अन्यते येन शास्त्रेण तन् प्रशमजननशास्त्रम् तस्य पद्धतयो रचना वैराग्यवीर्यका'
इत्ययः । तैर्महामतिमिवा विरचिताः शास्त्रपद्धतयः ॥ ५ ॥

अथ—त्रिनवचनरूप समुद्रके पारको प्रसन्न हुए महामति कविर्षोंने पहले वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले अनेक शास्त्र रचे हैं ।

भाषा—त्रिनवचनरूपके वचन समुद्रके समान हैं, क्योंकि मन्दबुद्धिवाले जीव उनका पार नहीं पा सकते । पर बुद्धिहीन सन्तदासे कुछ महामति पुरुष उसे सुगमतासे पार कर सकते हैं । वही बात दर्शाते हुए शास्त्रकार कहते हैं कि मुझे पहले चौरह पूर्वके जाननेवाले और शास्त्रके विपणको बेकर कर्म्य बनानेमें निपुण अनेक श्रेष्ठ कविर्षोंने वैराग्यको उत्पन्न करनेवाले शास्त्रोंकी रचना की है ।

द्वितीयकारिका शक्ति—दूसरी कारिकाको कहते हैं—

ताम्यो विसृता श्रुतवाक्पुलाकिका प्रवचनाश्रिता काश्चित् ।

पारम्यर्पादुत्तेपिका कृपणकेन सहस्य ॥ ६ ॥

टीका—साम्यो विमुक्ता विनिगताः सुतग्रन्थानुसारिण्यो वाच प्रधानार्थप्रतिबद्धा या विमु-
(मु) प इव पुष्पाकिका पुष्पबीरुपा निस्साद्य याः शटिता प्रधानार्थाः । प्रवचनानुसारिण्यो
दात्रशाङ्गनयानुगताः । तन्नायि काश्चिदेव न सर्वाः संभाविताः । पारम्पर्यादुत्सेविका इति गणभर
शिष्येभ्यनुवशादिपुत्रवरेकादशाङ्गविक्रिश्च प्रवचनानुसंधारं कुर्वद्विस्सेविका परिशाटीप्राभा
हृताः हृत्पयकेन रङ्गेन इव संहृत्य संपीड्य ॥ १ ॥

भाष्य—उभये निकटे हुए सुतवचनरूप कुछ कल इन्द्रसाङ्गके कर्षके अनुसार हैं । पारम्पर-
य व बहुत पोक रह गये हैं; परन्तु मैंने उन्हें रङ्गके समान एकत्रित किया है ।

भाषाय—उन म्हात्मि आचार्योंने जो शास्त्र रचे हैं, उनमेंसे जो शास्त्र-वचनरूपी कल
निकटे हैं, उन कर्मोंमेंसे कुछ भिन्नशासनके अनुसार हैं; क्योंकि उन्हीं शास्त्रोंकी कुछ बातोंको
केवल सिन्धाछीपोंने भी करने आगत बना डाले हैं । जहाँ उनसे निकटे हुए सभी वचन-कल विन-
शासनके अनुसार नहीं हैं । गजभोंकी शिष्य-मशिष्य-पारम्परसे उन वचन-कर्मोंको अब प्रवचनका
रूप दिया तो वे और भी सक्रिय हो गये । महीन रङ्गके समान उन्हीं कर्मोंको एकत्र करके मैंने
यह शास्त्र रचा है ।

किं ह्यनम् इत्याह—क्या किया ! सो कहते हैं—

तद्भक्तियलार्पितया मयाप्यविमलात्पया स्वमतिशक्त्या ।

प्रशमेष्टतयाऽनुसृता विरागमार्गेकपदिकेयम् ॥ ७ ॥

टीका—यस्याः सुतवाक्यानुवाकिका विमुक्ता मुक्तास्तेषु भक्तिः प्रीतिसेवा ताम्, वा सुतवाङ्-
मुवाकिकामु भक्तिस्तावन्मार्गव्य परितोषान्, तद्भक्तयसं साम्यं तेन तद्भक्तियत्नेन भर्षिता
उपनीता स्वमतिशक्तिः विशापात्तेन्द्रादिरेव वनसप्रोत्साहयति मे स्वमतिशक्तिः जनयति वा, तथा
तद्भक्तिवन्भर्षितया स्वमतिशक्तया, मयाऽपि तदुक्तयनुसारेण प्रथिता । पुनः तस्या एव विशेषणम्,
प्रथिमनान्तपया इति । ज्ञानावरणरुमकल्पितव्यादभिमता, अस्या स्तोका । एतद्व्यतिरिक्तपूत्रवप
अपि पद्म्यानपनिता भवन्ति किं पुनरस्मादावया ? कः पुनरप्य नियोगोऽवश्यतया प्रकरणे
कृतम्यम् ? इत्याह—प्रशमेष्टतया । इष्टस्य भाव इष्टता प्रशमयेष्टता प्रशमेष्टता प्रशमवस्तुमता
तथा इतुभूतया विरागमार्ग एव एकपदं यस्या विरागपर्यं स्यादन् आत्मयो यस्याः सेपं
विरागमार्गकपरिका सृजति ॥ ७ ॥

भाष्य—सुतवचन रूप साम्यरु कर्मोंमें मेरी जो भक्ति है, उस भक्तिके सामर्थ्यसे मुझे जो भक्ति-
वत्—मनुसरित और बोड़ी बुद्धि प्राप्त हुए हैं, अपनी उसी बुद्धि शक्तिरु हाथ वैत्म्यके प्रेमवशा मैंने
वैराग्य-मार्गकी परबंदीरूप यह रचना की है ।

(प्रवचनानुसंधारः—क । १ मारिः १८मिरे प प्रती । १ इव च १—क । ४ मीकि सेवा मु ।
५ मारिः १८मिरे प प्रती । विरोधाय—मु । १ एक वरं मु ।

भाषाय—मुझे जो कुछ बुद्धि प्राप्त हुई है वह त्रिसप्तसुतवचनरूप भाष्यक कण निकले हैं, उनमें अपना सुप्रवचनरूप भाष्यक कर्णोंमें मेरी जो मक्ति-मज्जा है, उसीका प्रसाद है। तथा ज्ञानावरणसे कलुषित होनेके कारण मेरी बुद्धि निर्मल भी नहीं है और पोखी भी है। जब चौदह वर्षके पाठियोंका ज्ञान भी पदस्नानपथित ज्ञानि-बुद्धिको छिप हुए होय है तब हमारे जैसे प्राणियोंके ज्ञानकी कथा ही क्या है ?

शब्दा—क्या यह कोई नियोग है कि प्रथम अवश्य बनाना ही चाहिए।

समाधान—मुझ बेगम बहुत प्रिय है। अठः बुद्धि और शक्ति अल्प होनेपर भी उसी प्रेमवश मैंने बेगमको उल्लस करनेवाली यह छोटीसी रचना की है।

अनु च उच्छिष्टाः सुतवाक्युच्छासिकाः परिगृह्य या रचिता कथं सा सतां सम्मता भविष्यतीत्याह—

इसमेंके हाथ छोड़े गये त्रिनवालीके कर्णोंको केकर की गई रचना सज्जनोंको कैसे मान्य होगी ? इस आशंकाका समाधान करते हैं—

यद्यप्यवगीतार्था न वा कठोरप्रकृष्टभावार्था ।

सद्भिस्तथापि मय्यनुकम्प्यैकरसैरनुप्राया ॥८॥

टीका—अवगीतोऽनाहतः परिभूतोऽर्थो यस्याः सा अवगीताया यद्यपि। कथं पुनरवगीता र्थत्वमाहाते ? यतो न वा कठोरप्रकृष्टभावार्था । वा शब्दोऽवधारणाया । नैव कठोर भास्ये परिहारापरिच्छिन्नाः प्रकृष्टो वाचकैः शार्थैः प्रतिपाद्यः नातः परमस्योऽर्थोऽस्ति । इति सकलकारककृत्वापसाभ्यः प्रकथमावापकोऽर्थो नैव यस्याम् । सद्भिः तथापि सुवर्गैऽगुणज्ञोप बिम्भिः मय्यनुकम्प्यैकरसैरनुप्रायाः । मयि इति उत्सेपिकाभाषसंघटनशान्ति कृपणके द्रमकभूतेऽनुकम्प्यैः । अनुकम्प्यै एको रसः स्वभावो येषां सज्जनानां तैः अनुकम्प्यैः । इयमनुप्राया तस्या अनुप्राया इत्यथा । सज्जो हि कृत्वापाभनबलोक्यावर्षयंतयाऽनुप्रायं कुर्वन्तीति ॥८॥

अथ—यद्यपि इसमें जो कुछ कहा गया है, वह आदरक योग्य नहीं है और न उसका भाव ही गमीर और ऊँचे दर्जेका है तथापि दयालु सज्जनोंको सुन्नपर अनुमद करना चाहिए।

भाषाय—इस प्रथम में न तो तर्क-वितर्क उदाहर शब्दासमाधानपूर्वक आशंकोंका परिहार ही किया गया है, और न इसमें जो अर्थ कहा गया है वह इतने उल्लूख भावको छिपे हुए है कि यह कहा जा सके कि इसमें कहा हुए अर्थसे वाक्य कोई अर्थ कहानके छिप नहीं है। इसलिए कहा हुआ अर्थ आदरके योग्य नहीं है। फिर भी मैं चावत्रक कर्णोंसे बीननेवाला रज्जु मनुष्यके समान दयालु पात्र हूँ, और सज्जनोंका स्वभाव दया करनेका ही होता है, अतः वे सुन्नपर कृपा करके मेरी इस रचना-पर भी अवश्य ही दया करेंगे।

अथमेव स्वभाव सज्जनानाम् इति दशपञ्चाह—

सज्जनोंका यही स्वभाव है, यह बतलाते हैं—

कोऽत्र निमित्तं वक्ष्यति निसर्गमतिमुनिपुणोऽपि वा ह्यन्यत् ।
दोषमल्लिनेऽपि सन्तो यद् गुणसारग्रहणदत्ता ॥ ९ ॥

टीका—निसर्गः स्वभावः। स्वभावबिद्धौ मतिः महत्त्वा निःकृत्रिमा। सा क्रिय, अमोघा भवति। तया मन्या मुद्गु निपुणोऽपि पुणोऽपि क्व मनु अत्र सतां साक्षर्ये निमित्तं कारणमन्यद् वक्ष्यति स्वभावाद्भूते ! न मनु माननीयुष्वात्तामात्रेणः सुखमिभयं केनापि ? स्वभाववत्त्वात् । दि दादो यन्मादये । यन्मात् सुनिपुणोऽपि स्वभावमन्तरेण मास्यभिमितं वषपितुं समयः, तन्मात् ' स्वभाव एवायं सतां परगुणात्कीर्तनं दोषाभिधाने च सूक्ष्मम् इति पश्चाद्देन दशा- यति—दोषमल्लिनेऽपि दोषयुक्तोऽपि परकीयवशात्सि गुणान् सात्भूतान् रूढन्ते सन्तः परगुणग्रहणनिपुणाः ॥ ९ ॥

अथ—स्वभाविक बुद्धिसे कुरात् मनुष्य मी इत्ने दूरात् क्या कारण बतकारेगा कि सज्जन पुरुष दोषयुक्त बन्धुनेस मी सारभूत गुणोको ही ग्रहण करनेमें निपुण होते हैं।

साक्षात्—स्वभाविक बुद्धि अस्मिन्न होकर कारण अन्वेषण होती है। अर्थात् स्वभाविक बुद्धिसे जो बात जानी जाती है वह बिनपुत्र टीक होती है। एसी बुद्धिवाला मनुष्य मी सज्जनोकी सज्जनतामें एतवारक सिवाय दूसरा क्या कारण बनता सकता है ? मास्त्रीके कर्मोंमें जो सुगन्ध होती है उसका मी एतवारक सिवाय दूसरा क्या कारण हो सकता है ? यत्र बुद्धिमान् बुद्धिमान् ज्ञानी मी इसमें एतवारके सिवाय दूसरा कारण नहीं बनता सकता, अतः दूसरोंके गुणोंसे कहना और दोषोंसे न कहना वह सज्जनोका एतवार है। इसी कारणसे कश्चित्क उपाह्विते मन्वकार करने हैं कि सज्जन पुरुष दूसरोंके गुणग्रहण करनेमें निपुण होत है अतः व दूसरोंके दोषयुक्त बचनमें मी सारभूत गुणोंको ही ग्रहण करत है।

ज्ञानार्थेवाद् पुरुषोत्तमविकाः पुनार्किकः समुचित्य रचितयं विरागमागपरिका भना न सम्मना विदुषाम् तयापि—

मे जानता है कि दूसरोंवापेरी बंधुशुभो बातोंको टकर देने केअप-जागरी यह पणकीरी तेकर की है अतः यह विद्वानोंको सम्मन नहीं हो सकती। निर मी—

सद्धिः सुरागिगृहीत यत् किञ्चिदपि प्रकाशता याति ।
मल्लिनोऽपि यथा हरिण प्रकाशते पूषचन्द्रस्य ॥१०॥

टीका—सद्धिः सुबुद्ध्याम् । सुरागिगृहीतम् आदरण प्रतिबन्धम् । यच्चिञ्चिदपि दारवदपि नि- मास्यति वा । प्रकाशता याति, साक प्रपत्त, विदुषां सुबुद्धतां सम्मनयनम् इति परित्यूहीन- गुणव शान्तानिधनि शिष्यमात्रम् । नरायति मविनापि इत्यादिना । चन्द्रमण्डलवत्पवनी

कुरङ्गं कृष्णिमानमपि विभ्रनं प्रकाशते शोभते पूणचन्द्रस्यः । आश्रयगुणो हि अयं यन्मणिर्नोऽपि हरिणो भ्राजते । एव यदेव सन्निः परित्यजत निस्सारमपि तत्सदाभयादेव भ्राजत इति ॥१॥

अयं—सज्जन जिस बस्तुको आदरके साथ प्रहल कर छेत् हैं, वह निःसार होनेपर भी प्रकाशमें आ जाती है। जिस प्रकार पूर्णमासीके चन्द्रमाके निम्बके बीच रहनेवाला हिरन कड़ा होनेपर भी प्रकाशमान होता है।

माहायं—यह आश्रयका ही गुण है कि चन्द्रमामें रहनेवाला काला हिरन भी सुन्दर मान्य देता है। इसी प्रकार सज्जन पुरुष जिस बस्तुको स्वीकार कर छेत् हैं, वह निःसार होनेपर भी सज्जनों का आश्रय पाकर सुन्दर छाने लगती है।

तथाऽन्यदपि अमुष्मिन्नेव सुज्जनस्यतिकरे प्रकरणाकारं उदाहरति—

सज्जनोंके इसी स्यतिकरके सम्बन्धमें प्रपकार हुआ उदाहरण देते हैं—

वालस्य यथा वचन काहलमपि शोभते पितृसकाशे ।
तद्वत्सञ्जनमध्ये प्रलपितमपि सिद्धिमुपयाति ॥ ११ ॥

टीका—वाल्कः शिशुः अमभिम्यक्तवचनः । तस्य वचनं काहलम्—ऋजु स्तलउद्धारगङ्गदम् पितृ समीपे विराजते परितोषजनकत्वान् कौतुकमाश्रये पुनः पुनश्च तदेवानुबन्धाति पिता । तद्वत् इति वाल्ककाहलवचनवत् सञ्जनानां मध्ये प्रलपितम्—असम्बद्धम् अपि प्रसिद्धिं प्रक्यातिमुपयातीति ॥ ११ ॥

अयं—जिस प्रकार वाल्कवर्गी अल्पव बोली भी माता-पिताके पासमें प्यारी लगती है, उसी प्रकार सज्जनोंके बीचमें वचनार् भी प्रसिद्धि पा जाता है।

माहायं—जब वाल्कक बोलना शुरू करता है, तो उसकी तुनकायी हुई सीमी गद्गद् वाली माता-पिताको बड़ी मीठी और प्यारी लगती है। इसी प्रकार सज्जनोंके बीच जो कुछ कहा जाए वह असम्बद्ध और स्पष्ट ही प्रकाश क्यों न हो गुण-सम्पन्न सज्जनोंको अच्छा ही मान्य होता है, और इससे उसे क्याति ही मिलती है। सरांश यह है कि सज्जनोंका आश्रय पाकर मेरी असम्बद्ध रचना भी प्रसिद्ध हो जायेगी।

अप्राहं परः—यदि पूर्वमनेका प्रयिताः प्रथमसज्जनशास्त्रप्रदत्तयो महामतिभिः तत्कोऽयं प्रथमरतिप्रकरणकाले पुनरुच्यते ? ता एवाम्यम्यनीयाः प्रथमकांसिप्या । उच्यते—

कोई कहता है—जब महामति आचार्यों ने आश्रयके उत्पन्न करनेवाले अनेक शास्त्र रचे हैं तो इस 'प्रथमरतिप्रकरण' को बनानमें आश्रय इतना आनन्द क्यों है ? आश्रयके इच्छुक सज्जनोंके उन्हें पूर्ण आश्रयके आश्वास करना चाहिए। इसका समाधान करते हैं—

ये तीर्थकृतप्रणीता भावास्तदनन्तरेभ्यः परिकथिता ।
तेषां बहुशोऽप्यनुकीर्तनं भवति पुष्टिकरमेव ॥ १२ ॥

टीका—प्रागपत्तस्तीर्थकृतो प्रणीताः । तद्वन्तस्तु गणपतः साक्षाच्छिष्या भगवताम् । तेषु सूत्रप्रतिबन्धेन परिकथिताः । भूयस्तदनन्तरगणपतीर्ष्यन्तच्छिष्यैश्च पारम्पर्येणानुयाताः । भाषा इति जीवादिषु पद्यायां लक्षणविधानस्तुयोगद्वारप्रक्रमेण प्रकथिताः । तेषां भाषानाम् बहुधाः अनेकधाः पश्चात् कीतनम् अनुकीर्तनं मनोवाककार्यैर्बन्धुमोक्षप्रक्रियास्तुप्रवृत्ततया पुष्टिकरमेव भवति । पुष्टिकरपद्यो ज्ञानज्ञानचारिणाम् । तदुपपद्यच्च कर्मनिश्चरणम् ततो मोक्ष इति नाम्नि कथितो ॥ १२ ॥

अर्थ—तीर्थकर्तौने किन पदापेक्षे कतकथा हे और उनके पश्चात् गणपत कीरने किनका विवेचन किया है, उनके बाद बाद कथन करना भी उनकी पुष्टि ही करता है ।

भाषा—पहले तीर्थकर्तौने जीवादिषु पदापेक्षे अर्थरूपसे कथन किया । उसके पश्चात् उनके छात्रात् शिष्य गणपतौने उन्हें सूत्ररूपमें कहा । उसके पश्चात् गणपतौके शिष्योंने तथा उनके शिष्योंके भी शिष्योंने परम्परासे बहुत अनुयोगद्वार कीरनेके क्रमसे उनका कथन किया । उन पदापेक्षे मत, कथन और कथके द्वारा उनके बाद कथन करना, बन्ध और मोक्षकी प्रक्रियाका अनुप्रासक होनेसे पुष्टिका ही करनेवाला है । अर्थात् यदि उन पदापेक्षे मतमें चिन्तन किया जाय, कथनसे उनका कथन किया जाये और कथनसे उनका आचरण किया जाये तो सम्बन्धीन सम्बन्धान और सम्प्रकारिणकी गृही ही होती है, और उनकी बुद्धि होनेसे कर्मोंकी निर्बन्ध होती है, और कर्मोंकी निर्बन्ध होनेसे मोक्ष होता है । अतः पूर्वापेक्षेके द्वारा कथनके अनेक छात्रोंके लिये जानेपर भी इस प्रशस्तति को बनानेमें कोई दोष नहीं है ।

पुनरुक्तत्रयोऽपि न हीकते प्रकारान्तरेण वैराग्यभ्वासाधारोग्याधिनी भिषजोपयोग्यम् इत्याह—

तथा इमं पुनरुक्त दोष भी नहीं है, क्योंकि आरोग्यके इच्छुक मनुष्यको औपमिके सेवकी तरह इमं प्रकारान्तरेण वैराग्यके अन्वयसे करनेका ही कथन किया है । यही बात कहते हैं—

यदुपयुक्तपूर्वमपि भेषजं सेव्यतेऽर्तिनाशाय ।
तद्वद् रागार्तिहरं बहुशोऽप्यनुयोज्यमर्थपदम् ॥ १३ ॥

टीका—अन्वयप्रत्ययसुपयुक्तभीषजं प्रथमं पुनः पुनस्तद्वेषोपयुज्यते । तदुपयोगाच्च अन्यसतः प्रतिबिम्बेन व्यापेक्ष्यमात्रमप्युपेक्षोपसमासात्तन् इष्टम् । व्याधिकृतं पुस्तकं अर्ति-वेदना । उपयुक्तपूर्वमपि इत्यनेन अन्वयप्रत्ययत्वमाचष्टे । तद्वत् तथा । रागार्तिहरम्-रागप्रहर्षं वेपथीनम्

पिबुनयति । रागद्वेषोपासकर्मोद्यमप्रसूनायास्त्रीवादिभेदनातेरपहारकारि पुनः पुनरन्वयस्यमान-
मप्यदुष्टमव भयप्रधान पदमदोषम्, अनुयोस्यम् अनुयोबनीय वाक्प्रयोजनानेकश इति ॥ १३ ॥

अर्थ—जिस प्रकार पहले सेवन की हुई मी औषधको पीका दूर करनेके लिए फिरसे सेवन करते हैं, उसी प्रकार रागसे उत्पन्न हुई पीकाको दूर करनेवाले उपर्युक्त पदोंका भी अनेक बार प्रयोग करना चाहिए ।

साहाय—जिस औषधपर विश्वास हो जाता है, दुबारा मी उसीका सेवन किया जाता है । उसका सेवन करनेसे प्रतिदिन रोगकी अधिक अधिक शान्ति देखी जाती है । उसी तरह राग-रूपसे बंधे हुए कर्मोंके उदपसे होनेवाली वास्तविक पीका जिन सारवान् बच्चोंसे दूर होती है, उनका बार-बार मी दोहराना कामनायक ही है ।

तथा—

यद्वद्विपघातार्थं मन्त्रपदे न पुनरुक्तदोषोऽस्ति ।

तद्वद् रागविपन्न पुनरुक्तमदुष्टमर्थपदम् ॥ १४ ॥

टीका—द्विभिकाद्विदृष्टानामपमार्चनं कुबन्तो मन्त्रवादिनः तद्विपन्नितवेदनाविधातं विधिस्तन्त-
पुनः पुनस्तान्पेव मन्त्रपदानि भावतयन्ति । इष्टम् प्रतिज्ञार्थं विपविधातः । तद्वद् रागविपन्नं
वैराग्याग्निसन्धुस्येप्रबन्धमनेकशोऽन्वयस्यमानं रागद्वेषविपविधातित्वात् न पुनरुक्तदोष-
मासजतीति ॥ १४ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसको दूर करनेके लिए मन्त्रका बार-बार उच्चारण करनेमें पुनरुक्त दोष नहीं है, उसी प्रकार रागरूपी विपन्नो घटनेवाले दोषरहित अर्थपदका बार-बार कवन करनेमें मी पुनरुक्त दोष नहीं है ।

साहाय—जिन लोगोंको सौंप विष्णु आदि काष्ठ डेते हैं, उनका विप उत्तरेके लिए मन्त्रवाणी
भोग बार बार मन्त्रके उन्हीं पदोंको दोहराते हैं, और जैसे-जैसे वे मन्त्रको दोहराते जाते हैं, विप उत्तरता
जाता है, अतः दोहराना स्वर्ग नहीं है । इसी प्रकार रागरूपी विपन्नो जवानेको वैराग्यरूपी अग्निको प्रज-
कृत करनेमें समर्थ बच्चोंके बार-बार अभ्यास करनेमें मी पुनरुक्त दोष नहीं है । क्योंकि उनका निर-
न्तर विष्णु आदि करनेसे राग-रूपका नाश होता है ।

तथा परमप्युदाहरति अस्मिन्नेषार्थे—

इसी बातके समर्थनमें एक और मी उदाहरण देते हैं—

वृत्त्यर्थं कर्म यथा तदेव लोक पुन पुन कुरुते ।

एव विरागवातद्वितुरपि पुन पुनश्चिन्त्य ॥१५ ॥

टीका—वर्तनं वृत्तिः—आत्मनः कुटुम्बस्य वा पोषणम् । तदर्थं कृत्वाधिकं कर्म करोति लोका-
समुचितजनभाष्योऽपि प्रतिवर्षं महतीं सम्पदमिच्छन् प्रकथयतीम् । एवं विरगवाता—वृत्ति-
रस्यां विद्यत इति वाता वैराग्यवृत्तिः वैराग्ये क्तनम् । तस्यां विरगवातायां यो हेतुः कारण
स पुनः पुनश्चिन्त्यः अन्वयसन्धीयः । स च हेतुः वैराग्यप्रक्यापक्यानि शास्त्राणि । यानि आनोष्य
आम्नाष्य प्रतिज्ञाय परित्यज्य उगादीन् वैराग्यमेवास्म्बत इति ॥ १५ ॥

अर्थ—विद्य प्रक्यर आनोषिकके किए लोग बार-बार उसी विषये करते हैं, इसी प्रकार
वैराग्यके कारणपत्र भी बार-बार चिन्तन करना चाहिए ।

मातार्थ—भग्न भाग्यसे मरुत होनेपर भी लोग विद्य प्रक्यर प्रतिवर्षं कूट धनी बननेकी
इच्छासे अपने अपना अपने कुटुम्बके पोषणके लिए बार-बार खेती कौरहका रोवना करते हैं । इसी
प्रकार विद्य करणसे वैराग्यमें प्रवृत्ति हो, उसका बार-बार अभ्यास करना चाहिए । यह कारण वैराग्यका
कर्मन करनेवाले शास्त्र ही हैं, चिन्तनी आडोचना कर करने प्रतिशय उगादिकके छोड़कर वैराग्यका
ही सहाय किया जाता है ।

तत्र वैराग्यमधिकेदेन यथा न बुध्यस्यन्तपठ एव तदाऽगुष्ठेयम् इत्याह—

यह वैराग्य बातें बना खे कीचमें ही न हूट जाने ऐसा प्रक्यन करना चाहिए । यही बात
प्रक्यर बतलते हैं—

दृढतामुपैति वैराग्यभावना येन येन भावेन ।

तस्मिंस्त्वस्मिन् कार्यं कायमनोवाग्भिरभ्यास ॥ १६ ॥

टीका—वैराग्यवासमा प्रतिदिनं येन येन भावेन अमकपमरपरापिपापुतरकारणा-
लोचनादिना न विच्छिद्यते, दृढतामेवोपैति, तत्र तत्र अभ्यासः कार्यः कायमनोवाग्भिः । अथवा
'येन येन भावेन इति मगपरिजामेन अत्यर्थं' निर्दिष्टविग्रहपेन माभ्यभावेन दृढीभवति
वैराग्यं तत्र विषेयोऽभ्यास इति ॥ १६ ॥

अर्थ—विद्य विद्य मगसे वैराग्यभावना दृढताके प्राप्त होती है, मग कथन और क्यपसे
उस उसमें अभ्यास करना चाहिए ।

मातार्थ—अप्य, बुझाया, मग और कट्टर जादि उतर कारणोंकी आडोचना करना इत्यादि
विद्य विद्य मगसे नेरकमकना प्रतिदिन मद्रुत होती बरती है, मगसे, कथनसे, और क्यपसे उस उस
मकक अभ्यास करना चाहिए । अपना मगके विद्य निर्दे और संलग परिपामकी मकला करनेसे
वैराग्य दृढ होता है, उसका अभ्यास करना चाहिए ।

सुखावबोधप्रान्धरचनार्थं वैराग्यवाचिनः पर्यायशब्दानाचदे—

प्रक्यर लथा सुकूर्मक सयममें जानेके लिए वैराग्यके अर्थवाची पर्याय शब्दोंको बतते हैं—

माध्यस्थ्यं वैराग्यं विरागता शान्तिरुपशम प्रशम ।
दोषक्षय कपायविजयश्च वैराग्यपर्यायाः ॥ १७ ॥

टीका—विरागद्वेषवृत्तिमध्यस्थाः, तस्य माधः कर्म वा माध्यस्थ्यम् । विगतरागद्वेषता वैराग्यम् । विगतरागो विरागः तद्भावो विरागता । शमः शान्तिः—तेषामेव रागादीनामनुष्यत्वात् । वैराग्यस्य सामीप्येन शम उपशम । प्रकृष्ट शमो रागादीनामेव प्रशमः । सूयन्तीति दोषा अपूर्वकर्मोपादानेन क्षीवं क्तुपयन्ति त एव रागाद्याः तेषां क्षय—आत्यन्तिक उच्छेदः । कप्यन्तेऽस्मिन् बीजा इति कपः संसारः तस्य भायां उपादानकारणानि इति कपायाः, तेषां विजयः—अभिभवो निराकरणम् । एवमेते सव एव वैराग्यपर्याया कथिताः ॥ १७ ॥

अर्थ—माध्यस्थ्य वैराग्य, विरागता, शान्ति, उपशम प्रशम, दोष-क्षय और कपाय-विजय—य सब वैराग्यके नामान्तर हैं ।

मायाय—बिनायी प्रकृति राग और द्वेषके उद्भित होती है, उसे मध्यस्थ्य कहते हैं और उसके माध अपना कार्यको माध्यस्थ्य कहते हैं । राग और द्वेषके लगे आनन्दको वैराग्य कहते हैं । रागउद्भित को विराग कहते हैं, और विरागके माधको विरागता कहते हैं । शम शान्तिको कहते हैं, अर्थात् उन्हीं रागादिकका उदय बौद्ध न होना क्षय है । वैराग्यकी संक्षीपतामें जो शान्ति होती है, उसे उपशम कहते हैं । रागादिकके ही उच्छेद्य शयको उपशम कहते हैं । नये नये कर्मोंको छाकर जो जीवको स्थित अर्थात् कस्युचित करते हैं, उन्हें दोष कहते हैं । वे दोष रागादिक ही हैं । उनका विच्छेद नष्ट हो जाना दोष-क्षय है । जिसमें जीव कर्मोंसे 'कप' अर्थात् संसार कहते हैं, और संसारके उपादानकारणोंको कपाय कहते हैं । उनका बीजना कपाय-विजय है । ये सभी वैराग्यके नामान्तर हैं ।

विगतो रागश्च विरागा । कः पुनरर्थं रागो नाम ? तमपि पपायदारेणाबधे—

रागद्वेषको विराग कहते हैं । अतः रागको समझानेके लिये प्रथमकर उसका ही नामान्तर कहते हैं—

इच्छा मूर्च्छा काम स्नेहो गार्थ्यं ममत्वमभिनन्द ।
अभिलाष हत्यनेकानि रागपर्यायवचनानि ॥ १८ ॥

टीका—इच्छा—प्रीतिः, रमणीयेषु योषिद्वेषिषु आत्मपरिणामः । मूर्च्छा बाधवस्तुभिः सह एकीभवनाध्यवसायलक्षणा परिणामः । कामः प्रायनादिदोष इष्टस्य वस्तुनः । स्नेहः प्रति विशिष्टप्रेमादिलक्षणाः । मूर्च्छता गार्थ्यम्—अभिकांक्षाऽप्राप्तवस्तुविषया । ममेर्धवस्तु,

‘का पुन क्रियाः पूर्वकथमात्मा रागद्वेषबागो भवति ?’ इति कारिकाप्रयेण कुम्भकमाह—
 किञ्च किञ्च कामोक्ते करनेसे यह आत्मा राग और द्वेषके अधीन हो जाता है, तीन कारिकाओंसे यह बतलात है—

रागद्वेषपरिगतो मिथ्यात्वोपहतकलुषया दृष्ट्या ।

पञ्चाश्रवमलवहुलार्तरोद्वृत्तीप्राभिसन्धान ॥ २० ॥

कार्याकार्यविनिश्चयसङ्केशविशुद्धिलक्षणैर्मूढ ।

आहारभयपरिग्रहमैथुनसज्ञाकलिप्रस्त ॥ २१ ॥

क्लिष्टाएकर्मवन्धनवद्धनिकाचितगुरुर्गातिशतेषु ।

जन्ममरणैरजस्र बहुविधपरिवर्तनाप्रान्त ॥ २२ ॥

दुःखमहस्रनिरन्तरगुरुमाराक्रान्तकर्षित करुण ।

विषयसुखानुगततृषः कपायवक्तव्यतामेति ॥ २३ ॥

टीका—पयापद्वारेणोक्तौ रागद्वेषी ताम्यां परिगत—साहचरपरिणामयुक्तः । मिथ्यात्वं तस्वाध्यामज्ञानम्, अभिगृहीताभनमिगृहीत-सन्धेहमेवात् प्रविषयम् । अभिगृहीतं प्रयाणां विपद्यधिकारं पाल्गण्डिसातानाम् । अनभिगृहीतम् अप्रतिपक्षदेवतापक्षण्डरूपम् । सन्दिग्धम् एकस्याप्यक्षरस्य पदस्य वाऽप्यपेक्षनाम्भिध्यादर्शनम् । तेनोपहतत्वात् कद्रुया इतिः बुद्धि-मङ्गिना’ इत्ययम् । तथा इत्यंमृतया हया बुद्ध्या कारणमृतया । पञ्चाश्रवाः पञ्चेन्द्रियाणि प्राणातिपातादीनि वा । आश्रवन्ति—आवृत्ते कर्म इति आश्रवाः । पञ्चाश्रवोपातकर्मण्येव मूढ बहुल उपचितकमपाशिः । आत चतुषा । अमनोद्वेषिपयसंभ्रयोगे सति तद्वियोगकृतानो मनो-निरोधो ध्यानम् । तथाऽसदेवनायाः । तथा मनोद्वेषिपयसंभ्रयोगे तद्विप्रयोगकृतानभिस्त-मिरोधः तृतीयमातम् । अङ्कवत्यादीनामृद्धिद्वयानात् ममाप्यमुष्य तपसः फलमेवविषयमेव स्यादभ्यवगमनि इति चित्तनिरोधश्चतुषमातं निदानरूप्यमाप्रमिति । प्रथमिति बुद्धं सङ्गिना, तत्र मन्मतामिति । कद्रुः क्रूरो मृदांसः, तस्यैव रीत्रम् । तदपि चतुषा । तत्र प्रथमं हिंसानुबन्धि-अनेनानेन च उपायेन गङ्गकृपापापान्नादिना प्राप्तिनो भ्यापाद्या इति । तर्पकृतानो मनो निरोधो रीत्रं ध्यानम् । द्वितीयममृताशुबन्धि-येन येन उपायेन परो ब्रह्म्यते कृतसाक्षिद्वाना-दिना तर्पकृतान मनो रीत्रम् । तृतीयं स्तेयानुबन्धि—येन येन प्रकृरेण परस्वमादीयते पुमुक्क-कारिकादेवकृतप्रसन्ननादिना तर्पकृतान मनो रीत्रम् । चतुष्पायादिविषयसंभ्रणकृतानं मनो विद्यामिषि तृतीयं रीत्रम् । अभिसम्भानमभिसन्धिः अभिप्रायः । स च आतरीत्रध्यान पोस्तीवः प्रहृष्टोऽभिसन्धिः । पञ्चाश्रवमलवहुलध्यासां आतरीत्रतीप्राभिसम्भानमेति ॥ २ ॥

कार्यं बीजवशादिकम् । अकार्यं बीजवशादिकम् । तयोर्विभिन्नयोः निर्णयः स तथा । संज्ञेयाः काकुत्स्थम् । विद्यादिः निर्मलम् । तयोः क्लिष्टचित्ततानिर्मलचित्ततरूपयोः क्लृप्तानि परिहृतानि । तथा तानि चेति समासः । तैः क्लृप्तभूर्तसूत्राः—पुनः । तथा आहारमवपरिमहं मैद्युलसंज्ञाः प्रसिद्धरूपाः । ता एव क्लृप्ता क्लृप्ताः क्लृप्तेषुत्वात् । तैः प्रस्ता—मात्रात् इति ॥ २१ ॥

गतिप्रतेषु यद्भिषु गतिषु पुनः पुनराहृत्या समपान्, क्लिष्टमद्यामिः कर्मनिबन्धनं तेन बन्ध, बन्धनिकाशितत्वात् गुरु, बन्धमदपरम्पानि तैरजन्तं पुनः पुनः, बहुविधपरिवर्तनमनेकाकारम् अतो ज्ञान्तः परिवर्तनेन ॥ २२ ॥

दुःखसहस्रमिति । बाहुन्यप्रतिपादनाथ सहस्रप्रदहनम् । कुलसहस्राण्येव निरन्तराणि भ्रम्यवाङ्मनानि । नारकतियस्मन्नुप्यामरमेषु गुरुर्मात् तेनाक्लान्तत्वात्—अवष्टम्भत्वात् कर्षिता क्लृप्ता नीतो बुधसंज्ञां गता' इति यावत् । कल्याणत्वात् कल्याणः । तुष्यतीति तुषा पिपासिता । विपया शब्दादप्य, तन्मनितं मुक्तं विपयसुखमातद्गुणताः तत्रासक्तः । विपयसुखलुगतव्यासी तुष्येति विपयसुखाद्गुगततुषा । उपजातविपयसुखोऽपि पुनस्तुष्यति विशिष्टतरममिदमिति ' इत्यर्थः । एवमिदो बीजः कयापालां श्लेषादीनां वक्ष्यतामिति—श्लेषी, मान्, मायावी, श्लेषादीनां इति । उक्तमात्रा कयायशब्दः । कयायशब्दस्यः श्लेषादिमित्यर्थः ॥ २३ ॥

अर्थ—जो राग और इच्छा से युक्त है, जिसकी बुद्धि सिध्दात्तसे प्रस्त होनेके कारण मक्ति है और मक्ति बुद्धिके कारण पाँच इन्द्रियों अथवा हिंसादि पाँच पापोंके द्वारा होनेवाले कर्मोंक ज्ञानमनसे जिसका ज्ञानार्थम् कर्ममत्त इच्छा होगया है, जिसके आर्त्थप्यान और शिष्याण रूप तीन परिमाण होते हैं ।

मात्रार्थ—राग और इच्छाके नामान्तर पहले बतला आये हैं । जो उनसे युक्त है वही राग और इच्छाके अर्थान होता है । तत्कारके अज्ञान न करनेको सिध्दात्त कहते हैं । वह तीन प्रकारका है—गूढीत, अगूढीत और सन्देह । तीनही प्रेष्ठ पाशविमत गूढीत सिध्दात्त हैं, क्योंकि इससेके उपदेश कीरहते जोग उन्हें प्रहण करते हैं । किसी पाशपी देवताको उपदेशपूर्वक प्रहण न करना, अर्थात् बन्धसे ही उसमें अमिदग्नि होना अगूढीत सिध्दात्त है । बुधदानके एक ही अक्षर अथवा पहले क्वि न होनेसे सन्दिग्ध सिध्दात्त होता है । जिसके सिध्दात्त होता है, उसकी बुद्धि मक्ति हो जाती है, और बुद्धिके मक्ति हो जानेसे वह पाँचों इन्द्रियोंके विषयोंके आसक्त हो जाता है । अथवा हिंसा, हठ, मोपी कुशीक और परिग्रह इन पाँचों पापोंको करता है । इससे उसके कर्मोंका आशय होता है, और कर्मोंका आशय होनेसे उसकी ज्ञानार्थम् कर्ममत्तरी राशि इच्छा हो जाती है । ऐसा जिन ही राग और इच्छाके अर्थान होता है ।

तथा आर्त्थप्यान चार प्रकारका है—अद्विप वस्तुके सम्बन्ध हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए जो उत्पन्न विन्ताका कारण है, वह पहले आर्त्थप्यान है । कोई रोग हो जानेपर उसके दूर करनेके लिए

रात-दिन चिन्ता करते रहना, दूसरा आर्चप्यान है। इय वस्तुके विद्योह हो जानेपर उसकी पुनः प्राप्ति के लिए चिन्ता करना तीसरा आर्चप्यान है। चक्रवर्ती आदिकी सम्पत्तिको दखकर मुने भी इस तपकय फल परकोकमें इसी रूपमें भिडे, ऐसा सोचते रहना निदान नामका चौथा आर्चप्यान है। ऋत दुःख अपवा संश्लेषको कहते हैं, उससे जो प्यान होता है, वह आर्चप्यान है। मूत्र अपवा निर्दयको रुद्र कहते हैं, उसका जो प्यान होता है, वह रौद्रप्यान है। वह भी चार प्रकारका हैः—पहला हिंसानुबन्ध है, अर्थात् हिंसामें आनन्द मानना। सूठी गबाही देना बगैरह अमुक अमुक उपायसे दूसरे टग जाते हैं, इत्यादि उपाय सोचनेमें मनका लम्प होना दूसरा असम्मानन्द रौद्रप्यान है। तैली फलक, बगैरह जिन जिन उपायोंसे दूसरों का मन हरा जा सकता है, उन उपायोंके विस्तनमें मनका एकत्र होना स्तेयानुबन्धि नामका तीसरा आर्चप्यान है। धन धान्य आदि परिग्रहके सख्खनमें रात-दिन मनका ढगा रहना विषयानन्दि नामका चौथा रौद्रप्यान है। इन दोनों दुर्घर्षानोंमें आत्माके माध बड़े तीव्र होते हैं, और जिनके बेसे माध होते हैं, वह रग और द्वेषके अधीन होता है ॥ २० ॥

अर्थ—जो कार्य और अकार्यका विषय करनेमें मूढ़ है, सख्खेष्ठ और विद्युदिके स्वरूपको नहीं समझता, आहार-मय-परिग्रह और भेषुन सञ्चारकी कम्बमें जो फँसा हुआ है।

माचार्य—जीवकी रक्षा आदि कार्य हैं और जीवकी हिंसा बगैरह अकार्य हैं। कल्पित परिणामोंके होनेको कल्पस्य कहते हैं, और निर्मल मातोंके होनेको विद्युदि कहते हैं। इनको धो नहीं सपन्नता तथा आहार कीरहकी चाहमें फँसा हुआ है, वह रगादिकके अधीन है ॥ २१ ॥

अर्थ—जो आठ प्रकारके विकृष्ट कर्मोंके निष्पन्नितबन्धसे मारी हो रहा है तथा सैकड़ों गतियोंमें बार-बार जम्ब केने और मरनेके कारण अनेक प्रकारके परिश्रमणके चक्रमें पड़ा हुआ है ॥ २२ ॥

अर्थ—सर्वदा हजारों दुःखोंके गुरु मारसे आक्रान्त होनेके कारण जो दुर्बल हो रहा है, दयाका पात्र है, विषय-सुखमें आसक्त होकर उनकी और चाहना करता है, वह जीव कयापवाला कहा जाता है।

माचार्य—दुःखकी अधिकता बतलानेके लिए हजारों दुःख 'कह दिया है। अर्थात् नरकारिक गतियोंमें बराबर दुःख सहते-सहते जिसकी आत्मा दुःखोंके मारसे दब गई है इसी लिए जो दया करनेके योग्य है, तथा जो विषय-सुखमें इतना आसक्त है कि विषय-सुखके मिथनेपर भी उसकी इच्छा घात होनेके बजाय और बढ़ती है। जो जीव इस प्रकारके होते हैं, व रग और द्वेषके अधीन होते हैं। रग और द्वेषका ही नाम कयाप है। अतः वे कयापवासे अर्थात् शोभी, मानी, मायावी और छोटी कहे जाते हैं ॥ २३ ॥

स पुनः कयापवत्तन्म्यतां गत्वा किमवाप्नोति ? इत्याह—

अथ कयापवान् आत्माको क्या दशा होती है, यह बतलाने है—

स क्रोधमानमायालोभैरतिदुर्जये परासृष्ट ।

प्राप्नोति यानमर्यान् कस्तानुद्देशुमपि शक्त ॥ २४ ॥

टीका—स लक्ष्मण पर्यविषाः समुपवातकृपावपरिणामाः क्रोधादिभिः परासृष्टः । अतीव दुर्बलै-
रिति । नास्त्वसत्त्वैर्बहुं शक्त्याः कथाया इति दुर्बलाः, तैः परासृष्टः परिभूतः कृपाववशांगतः
इत्यर्थः । प्राप्नोति धाननवान्—आपश्चिषोपान् वधवन्धादीन् । अस्ताननयान् वधनमाभेष्वापि
भ्यारभ्यातुं समर्थः । अनर्थसूयसि संसारे किञ्चतोऽनयान् तान् नामप्राई प्रतिपादयितुं
शक्येरन् इति ।

अर्थ—अस्पृष्ट दुर्बल श्रेयः, माय, माया और काम कथायोंके धारण हुआ और किन किन
कथोंको उठाया है, उन्हें कहनेके लिए भी कौन समर्थ है ?

मायार्थ—कनकदोर प्राणी कथायोंको नहीं पीत सकते, कष्ट उन्हें दुर्बल कहा है । जो इन दुर्बल
कथायोंके बंधुओंमें पैदा जाता है, उसको कुछ नहीं है । वह किन किन कथोंको योग्यता है, उन्हें कोई
कह भी नहीं सकता । टीका भी है, जब संसार जनबौद्ध पर है, तो उनमेंसे किन्तमे जनबौद्धोंके नाम लेकर
गिनाया जा सकता है ।

यद्यपि सकलजानवर्णान्स्वात्ममहाकर्मं तथापि स्पृष्टतरुव्यतिपात्तार्थाकृपानमपायेभ्यो
मम्वारभोत्पत्येव इत्याह—

यद्यपि सब जनबौद्धों कहना शक्य नहीं है, तथापि कुछ मोटे-मोटे जनबौद्धों कठका देनेसे
मम्य जीवोंकी उगसे रक्षा हो सकेगी, कष्ट उन्हें कहते हैं—

क्रोधात् प्रीतिविनाशं मानाद् विनयोपघातमाप्नोति ।

शाठ्यात्प्रत्ययहानि सर्वगुणविनाशन लोमात् ॥२५॥

टीका—क्रोधं क्रोधा—आत्मनः परिणामो मोहकर्मोद्भवजनितः । तस्मादेवंविधात् परिणामा-
दिहृद्योके एव प्रीतिम्यवच्छेदो मकतीति मियतमैरपि साकम् व्यवच्छिन्नावाञ्च प्रीताधीर्भूति-
परमनः । मानो गवस्तन्माः 'अहमेव ज्ञानी दाता मूः इत्यादिक आत्मपरिणामः । तस्मात्
विनयोपघातमाप्नोति । विनयमूढश्च धर्मः ।

हेतुमुक्त्वापुद्गलेषु वधावोग्यं विनयः कायः । स च उपवातवर्षपरिणामस्य विह्वलते
विच्छिद्यते इति होतः । शाठ्यपरिणामो माया । तस्मात् प्रत्ययहानिः प्रत्ययो लोकात्म्यवशात्पस्तिद्वया
कृत्स्नं पुण्ये सत्यवाहित्वं न्यासकप्रत्ययर्षण इत्यादि । तद्वानि—असत्यमापने शाठ्य-
परिणामात् न्यासकप्रत्ययवच्छेदः । दुष्या लोमपरिणाम आत्मनः । तस्माच्च सर्वगुणविनाशभाग्
भवति । सर्वे च ते गुणाश्च क्षमामार्दवाद्यप्य, तान् लोमानामिमूतः समूहकर्मण क्वपति । आप्नोति
इति मम्यवर्तिना क्रियापदेन सर्वत्रामिसम्बन्धः ॥ २५ ॥

अर्थ—क्रोधसे प्रीतिक्रम नाश होता है, मानसे विनयकर्म नाश होता है, मम्याचारसे विनाश
जाता रहता है, और जोमसे सभी गुण नष्ट हो जाते हैं ।

मावार्थ—मोहकर्मके उदयसे उत्पन्न हुए आत्माके क्रोध करनेके परिणामके क्रोध कहते हैं। क्रोध करनेसे इसी क्रोहमें अपन अन्नत मिय जनोंके साथ भी प्रमत्त नाता टूट जानेसे आत्माके बहुत दुःख होता है। मैं ही हानी हूँ, मैं ही दानी हूँ, मैं ही शूरवीर हूँ इत्यादि रूप आत्म-परिणामके समझ वा मान करते हैं। मान करनेसे विनय नहीं रहती, और धर्मका मूक विनय हो इ। देव, गुरु, साधु और बुद्ध जनोंकी पयापोम्य विनय करनी चादिए। किन्तु जब मानका उदय होता है, तो वह विनय नष्ट हो जाती है। अमुक मनुष्य सच बोलता है, और उसके पास जो कुछ परोहर रखो उसे वह बौटा देता है लोक-म्यबहुरके अनुसार इस तरहकी बातोंके प्रत्यय अर्थात् विश्वास करते हैं। झूठ बोलनेसे और परोहरके हड़प जानेसे वह विश्वास टूट जाता है। तथा तुम्हारे क्रोध करते हैं। क्रोध करनेसे अमा मार्दन आदि सभी गुण नष्ट हो जाते हैं।

सम्प्रति एकैकस्य क्रोधादेः स्वसनोपायं वशापचाह—

जब क्रोधादि प्रत्येक कपायके बुद्ध देनेवाली बतवाते हैं —

क्रोध परितापकर सर्वस्योद्वेगकारक क्रोध ।

वैरानुपङ्गजनक क्रोध क्रोध सुगतिहन्ता ॥ २६ ॥

टीका—परितापो हि दाहन्वराभिभूतस्वीष क्रोधिनः परिवहन्म्-अस्वस्थता । उद्वेगो मयम् । सर्वस्येति नारकतियद्मनुष्यदेवाक्यस्यात्मनो मयमुत्पादयति । कुतश्चिन्मितावुत्पन्नो बभबन्मनीमयातादिसम्पत्तानो वरम् । तस्य अनुपङ्ग-अनुबन्धः अन्वयः, सं जगपति-उत्पादयति । क्रोधः सुगति-मोक्षः, तां हन्ति । मुत्तयभाषणसामर्थ्यात् 'हन्ति' इत्युच्यते । क्रोधा विद्याश्च सुभूमपरसुरामादयः भूयन्ते दुर्गतिगामिनः पारमर्त्ये प्रवचने । तस्मादिदपरलोकायोरपायकारी क्रोध इति युक्तं परिहृतम् ॥ २६ ॥

अर्थ—क्रोध परितापको करता है। क्रोधसे सभीको दर जगता है। क्रोध नेके पैदा करता है और क्रोध सुगतिका नाशक है।

भाषा—दाहन्वरे पीडित मनुष्यके समान क्रोधीकी अन्तरात्मा क्रोधसे सर्वदा जला करती है। क्रोधीसे सभी गणियोंके बीच मय खाते हैं। क्रोहमें आकर किसीन किसीका बप कर दिया, या उसे बेवकालमें मित्रता दिया तो उस बेवकाल परम्परा पीड़ी दरपीड़ी तक चकटी रहती है। क्रोध सुगति अर्थात् मोक्षका भी नाशक है क्योंकि क्रोधी मनुष्यके मुक्ति नहीं होती। आत्ममें सुना जाता है कि सुभूम और परसुराम बगेरहको क्रोधक कारण दुर्गतिमें जाना पका है। क्रोध इस क्रोध और परलोका दोनोंमें हानिकारक है। अतः उसे छोड़ना ही योग्य है।

श्रुतशीलविनयसदूपणस्य धर्मार्थकामविम्वस्य ।

मानस्य कोञ्चकाशं मुहूर्तमपि पण्डितो दद्यात् ॥ २७ ॥

टीका—श्रुतम्—आगमः। शीघ्रं च सप्ततमपीतागमादुत्तारि क्रियानुष्ठानम्। उभयमन्ये-
त्त्वं गर्भो भूयं रूपयति—श्रुतवानप्ययमेवं गर्भितः। श्रुतेन तु मानायागः कार्यः इति रूपये,
अयं तु तेनैव मत्तो मानी आतः। नन्येवं श्रुतवतो रूपं कृतं भवति, न श्रुतस्य। उच्यते—श्रुतमपि
रूपितं भवति श्रुतकार्याकरणम्। शानेन हि मन्त्रो निमग्नयते, न चासीं निमयित इति श्रुतमेव
रूपितं भवति। अमेदो वा शानघ्नानिनोरिति न दोषः। एवं शीघ्रमपि वाच्यम्। विनयपरित-
त्वा शीघ्र एवावमिति। धर्माधिक्यमानां विम्वकारी मानः। धर्मस्य विनयमूलत्वाद् धर्मविम्व
कारी मानः। तदनुष्ठानरूपत्वाद्घोषादानस्यापि प्रत्युद्धार्य। यतो राजादयः सेवकस्यापि
विनयत एव अर्थेन सह योजनं कुर्वन्ति, नेतरस्य। कामस्यापि सम्प्राप्तिर्विनयसम्पत्त्यैव भवति।
कुञ्जयोपितां वेदस्यानां च विज्ञानानुपपन्नसंज्ञणया चेटया कामी सुखमाग्नं भवतीति। एवंविधस्य
गर्भस्यावकाशे—शोकनमात्मनि क्षणमात्रमपि मतिमान् को दद्यात् इति। 'मैव कश्चिद् गुण
दोषो दद्यात् इत्यर्थः ॥ २७ ॥

अर्थ—श्रुत शीघ्र, और विनयके रूपरूप तथा धर्म, अर्थ और कामके विम्वरूप मानके कोन
कुञ्जिमल एक मुहूर्तके किए भी त्वान देगा।

मावाप—आगमके श्रुत करते हैं। और सर्वज्ञमणीत आगमके अनुसार आचरण करनेके लीक
करते हैं। गर्भ इन दोनोंके ही रूपित कर देता है। शास्त्र-ज्ञानीके समझ करते देखकर भोग करते हैं—
यह शास्त्र-ज्ञानी होनेपर भी गर्भ करता है। शास्त्र पढ़कर तो मानके भेदना चाहिए। ऐसा सुना जाता
है। परन्तु यह तो उसीसे अविद्यामी बन गया है'।

श्रुता—यह तो श्रुतवान्कर रूपन है न कि श्रुतका।

समाधान—अथवा काम न करनेपर श्रुतके भी दोष उगता है। ज्ञानसे भर दूर होता है, किन्तु
धर्मों का दूर नहीं हुआ अतः इससे श्रुतके दोष उगता है।

अथवा ज्ञान और ज्ञानीमें अन्तर होता है, अतः कोई दोष नहीं है। इसी तरह शीघ्रके बारेमें
भी जान केना चाहिए। अर्थात् यदि कोई शीघ्रवान् भी मान करता है, तो सब पक्षी करते हैं कि विनयी न
होनेसे यह शीघ्र ही है। तथा मान धर्म, अर्थ और काममें विम्व करता है। धर्मका मूल विनय है,
अतः मान धर्ममें विम्व करता है। अर्थात् उपादान करन धर्म है, और वाली धर्मके शून्य
होता है, अतः मान धर्ममें भी विम्व करनेवाला है। क्योंकि काम औरह सेवकके विनयसे ही प्रसन्न हो-
कर उसे मन देते हैं। कामके प्राप्ति भी विनयीके ही होती है। कुञ्जियों और वेदनाओंके मनके अनु-
सूच आचरण करनेसे जमीनके सुख योग्यके मिळता है। इस प्रकारके गर्भको अपने अन्तर एक क्षणके
किए भी शीघ्र कुञ्जिम्न त्वान देगा। अर्थात् ज्ञानि-कामके समझनेवाला कोई भी त्वान नहीं देगा।

मायाशीलः पुरुषो यद्यपि न करोति किञ्चिदपराधम् ।

सर्प इवाविश्वास्यो भवति तथाप्यात्मदोषहतः ॥२८॥

टीका—माया शाठ्यमनार्थवम् । तच्छीघ्रः तत्त्वभाव आत्मा । यद्यपि न किञ्चिद्व्यपराधं करोति मायावर्जितम् । समाहितस्य मायावित्त्वेन पूवहृष्टशोचः । सम्प्रति तु विप्लवस्तदोपात् । तथाप्यात्मीयेनैव दोषेजोपहतो भवति मुचङ्गवदविश्वास्या । उद्धृतदृष्टोऽपि मुचङ्गो रूपत् परिहृषते क्षोभेनेति । क्षुकादयो मायाफलभावः भूयन्त एवेति ॥२८

अर्थ—यद्यपि मायावारी मनुष्य कुछ अपराध नहीं करता तथापि अपने दोषसे उपहत-रीकित हुआ, सर्पको तरह किसीका निश्वासपात्र नहीं होता ।

भावार्थ—ओ मनुष्य पहले मायावारी रहा है, बादको यदि वह मायावारीको छोड़ भी दे, तो भी उसकी पहली अपराधको स्मरण करके कोई उसका निश्वास नहीं करता है । वह अपने दोषसे ही मारा जाता है जिस प्रकार सोंरका रौत तोड़ दिये जानेपर भी जोग उससे दूर ही रहते हैं ।

सर्वविनाशाश्रयिण सर्वव्यसनैकराजमार्गस्य ।

लोमस्य को मुखगत क्षणमपि दुस्वान्तरमुपेयात् ॥२९॥

टीका—सर्वेषां विनाशानामपायानामापन्नयो क्षोभोः स्वानम् । उपमाश्चौरपादारिकर्विरसम्पत्तादयः सर्वे विनाशाश्चार्यादिनिमित्ताः । सर्वविनाशाश्रयणशीलः सर्वविनाशाश्रयी । सवाणि व्यसनानि स्त्रीयूतमद्यपानालेष्टकवचनदण्डपारुष्यार्थरूपजाक्यानि

द्विताम् व्यसपन्ति पुरुषमिति व्यसनानि । तेषामेव लोमरूपाय एको राजमार्गः । सर्वाणि व्यसनानि क्षोभाभिर्मूलं योग्यमाश्रयमासाद्य विभ्राम्यन्ति । राजमार्गो हि द्विधा-द्विमिथ्यान्वासादिभिश्च सर्वे क्षुद्यते यथा तथा क्षोभ एव राजमार्गः सर्वव्यसनं क्षुद्यते । सर्वविषस्य क्षोभस्य मुखगत-गोचरीभूताः क्षोभपरिणाममाह क खलु कुम्भान्तरं सुल-कुम्भान्-वन्त्यत् सुलम् उपेयात्-उपगच्छेत् इति । प्रतीतिभ्यायात् प्राञ्चं सुलमेवेति । निव कथापि सुलं प्राप्नुयात् इत्यथा ॥२९॥

अर्थ—क्षोभ सब विनाशोंका आमत है और सब व्यसनोंका एक राज-मार्ग है । क्षोभक मुखमें गया हुआ कौन मनुष्य क्षण मरेके किए भी सुल पा सकता है ?

भावार्थ—सब प्रकारके बेर-बिरोध और चोरी बगैरह विनाशोंका घर क्षोभ ही है । जी, बुना, शराब पीना, शिकार, बचन और दण्डकी कठोरता और अपव्युपन य सब व्यसन हैं । जो पुरुषको उसके दिलसे दूर करते हैं, उन्हें व्यसन कहते हैं । क्षोभ कयाय उन व्यसनोंका एक राज-मार्ग है । क्षोभीको पाकर सभी व्यसन उसमें अपना आसन बनाकर बैठ जाते हैं । जिस प्रकार राज-मार्गसे ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा चाण्डाल बगैरह भी बे-रोकटोक आ-जा सकते हैं, उसी प्रकार क्षोभरूपा राज-मार्ग सभी व्यसनोंके लिए सुजा रहता है । ऐसे क्षोभके मुखमें गया क्षोभी मनुष्य कुम्भके सिवाय और क्या मोग सकता है ! अर्थात् उसे क्षयमरके किए भी सुल नहीं मिलता है ।

सम्प्रति बहुदोषकथायायमुपसंहारश्चाह—

अथ बहुत दोषोऽपि पुत्र कथायके वर्जनका उपसंहार करते हैं—

एव क्रोधो मानो माया लोभश्च दुःखहेतुत्वात् ।
सत्त्वानां भवससारदुर्गमार्गप्रणेता ॥ ३० ॥

टीका—सब पक्षों कथायाः तीमस्य प्रकपप्रान्तस्य नरकगत्याविषु दुःखस्य हेतवः
जनकाः कारकभूता इति । केनां दुःखहेतवः ? सत्त्वानां प्राणिनाम् । दुःखहेतुत्वाच्च भवसंसार
दुर्गमार्गप्रणेतापि भवन्ति । भवो नरकादिबन्धम् तदेव संसारः पुनः पुनर्गमनागमनात् दुःख—
विषयो भयानकः, तस्य यो मार्गः पन्थाः, तस्य प्रणेताः प्रवर्तका नायका देशकाः । क
पुनरस्ती मार्गः ? हिंसानृताद्याचरणस्तथा ॥ ३० ॥

अर्थ—इस प्रकार दुःखोंके कारण होनेसे क्रोध, मान माया, और लोभ प्राणियोंके चारनस्तिरूपी
भयानक संसारके मार्गके प्रवर्तक हैं ।

भाषा—ये सभी कथायें मरकटदिक गतिवर्गोंमें प्राणियोंको तीन दुःखके देनवाली होनेके कारण
भयानक संसारके मार्गके दिखानेवाली हैं । भाष्य यह है कि हिंसा झूठ धोखा पापोंका करना
संसारके मार्ग हैं, और कथायके बरिधभूत प्राणी इन पापोंको करता हैं । जठ कथाय संसारको बढ़ाने
वाली हैं ।

एवमेव कथायाणामाद्यविकल्पद्वयप्रदर्शनार्थमाह—

इहो कथायोंके दो मर बतकते हैं —

ममकाराहङ्कारावेर्षां मूल पदद्वय भवति ।

रागद्वेषावित्यपि तस्यैवान्यस्तु पर्याय ॥ ३१ ॥

टीका—ममकारो ममत्वम् मेमेद् ममेद् इति मायालोभकथाययोऽग्रजम् ।
अहङ्कारो गर्भः स च अस्मिन्मात्रोपलक्षणः । मायामपि ब्रह्मोपादानाय शक्तिः कुर्वन्ति क्व
विक्रियादिषु, अतो ममकारान्तःपातिस्येव । क्रोधो हि अस्मिन्मात्रेण क्रियते— किमित्यर्थं
मामात्रोऽस्तीति आहन्ति वा जयन्त्याः सन् इति । अतोऽहङ्कार एव । एवम् इति क्रोधास्तीनां
मूलं बीजमेतदेव पदद्वयं ममकारोऽहङ्कार इति च । तथा च रागद्वेषावपि बीजभूती क्रोधा-
स्तीनां हृद्यन्ती । तस्यैव पदद्वयस्त्वापः पर्वणो ममकारः—रागः, अहङ्कारः—द्वेषः ॥ ३१ ॥

अर्थ—इन कथायोंके मूल दो पद हैं—एक ममकार और दूसरा अहङ्कार । राग और द्वेष भी
उन्हींके नामान्तर हैं ।

भाषा—यह मेल है, इस प्रकारके मरकटके ममकार कहते हैं । इसमें माया और लोभ
कथायका प्रधान होय है । गर्वके अहङ्कार कहते हैं । यह मान कथाय और क्रोध कथायका प्रधान है ।

मन कमानेके छिए बलिये लोग केन-देनमें मायाचार मी करत हैं, अतः माया ममकारके ही अन्तर्गत है। क्रोध भी उसी मायके ही किया जाता है। 'यह मामुखी अहम्प्री होकर मी मुक्तपर क्यों चिन्ताता है ? अथवा मुक्त क्यों मारता है ?' यह अहंकार ही है। अतः इन क्रोधादि कथायोंके मूल अर्थात् बीजके दो ही पद हैं। तथा राग और द्वेष मी क्रोधादिके बीज जानने चाहिए। ये दोनों उन्हीं दो पदोंके नामान्तर हैं। ममकारका नाम राग है, और अहंकारका नाम द्वेष है।

अर्थपां क्रोधादीनां अतुष्या कथायाणां को रागः, को वा द्वेषस्तद्विस्थाह—
 इन क्रोधादि कथायोंमें राग और द्वेषका विभाग करते हैं—

माया लोभकपायश्चेत्येतदुरागसंज्ञितं द्वन्द्वम् ।

क्रोधो मानश्च पुनर्द्वेष इति समासनिर्दिष्ट ॥ ३२ ॥

टीका—उक्तसप्तमो मायासोमो। तावेष द्वन्द्वं मिश्रणम् । रागसंज्ञित रागनामकम् । क्रोधमानौ चोक्तद्वयौ। पतत्रपि द्वन्द्वं द्वयं 'द्वेष इति निर्विषयते संक्षेपतः ॥ ३२ ॥

अर्थ—संक्षेपमें माया और लोभ कथायके पुनर्द्वेष नाम राग है, और क्रोध तथा मान कथायके पुनर्द्वेष नाम द्वेष है।

माचार्य—माया और लोभके राग कहते हैं, और मान तथा क्रोधाके द्वेष कहते हैं।

तौ पुनर्ममकाराद्भूयते रागद्वेषौ वा किं केवलावेष ज्ञानावरणीयादिकमवन्धे पर्याप्तौ अयाम्यमपि कश्चित् सत्त्वापमपेक्षते ? इत्याह—

हाहा—ये ममकार और अहंकार अथवा राग और द्वेष अकेले ही ज्ञानावरणादिक कर्मोंका बन्ध करानेमें समर्थ हैं वा किसी दूसरेकी सहायता छेते हैं ? ममकार इसका उत्तर देते हैं—

मिथ्यादृष्टविरमणप्रमादयोगास्तयोर्बलं दृष्टम् ।

तदुपगृहीतावष्टविधकर्मवन्धस्य हेतु तौ ॥ ३३ ॥

टीका—मिथ्यादर्शनं मिथ्यादृष्टिः। तत्पूर्वमुक्तं तत्कार्याभेदानलक्षणम्। अविरमण-
 मविरतिः- अनिर्वृतिः पापासपात्। विषयेभिरपिप्राक्किष्क्याभ्यः अतुर्विधः प्रमादः। मनोवा-
 ष्टाधारम्या योगाः। एतां अतुः सहायामपेक्षते ममकाराद्भूयते रागद्वेषौ वा कर्मणि बन्धितव्ये।
 तयोः इत्येतावेष सम्बन्धेते। बलम् इति उपकारकत्वम्। उपकारक्य मिथ्यादर्शानात्पः
 तयो रागद्वेषयोः। तौ चोपगृहीतावेषौ मिथ्यादर्शानादिमी रागद्वेषौ अष्टमकारस्य कर्मवन्धस्य
 हेतुत्वं प्रतिपद्येते इति ॥ ३३ ॥

अर्थ—मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद और भोग ये राग और द्वेषकी सेना हैं। उसकी सहायतासे ये दोनों बाल प्रकारके कर्मवन्धके कारण होते हैं।

माचार्य—मिथ्यात्वका बलान् तत्कार्यका अज्ञान न करपा' पहले कल्या आये हैं। पाप-कर्मों से विरति न होनेको अविरति कहते हैं। विषय इन्द्रिय मित्रा और किष्क्या ये प्रमादके हेतु हैं। मनोयोग,

वचनयोग और कल्पयोग—य तीन योग हैं । कर्मबन्धमें मन्त्रकार और ब्राह्मणक कर्मात्मका एक और है व इन चार सहायकोंकी ओक्षा करते हैं । उनकी सहायता पाकर ही वे दोनों बात प्रकरके कर्मबन्धमें हस्त होते हैं ।

अष्टविधं बन्धमादशायजाह—

बन्धनक आठ मन्त्र कहते हैं—

सञ्ज्ञानदर्शनावरणवेद्यमोहाद्युपां तथा नाम्न ।

गोत्रान्तराययोभेति कर्मबन्धोऽष्टधा मौल ॥ ३४ ॥

टीका—स मनु तद्देतुफ कर्मबन्धो ज्ञानावरणीयादिभेदेन अष्टधा भवति । ज्ञानावरणं दशनावरणं वेद्य मोहनीयमायुनाम गोप्रमन्त्रायम् इति अष्टौ मूलभेदाः । कथोपशमनं भाषिकं च ज्ञानमात्रियते येन कर्मणा तच्छानावरणम् । अक्षुद्रशानाघामियते येन कर्मणा तद् दशनावरणम् । निश्चाद्विषयकञ्च, तदपि हि दशानमाहुगोस्येव । वेद्यं सुखायुमवच्छक्षणं दुःखुत्पायुमवच्छक्षणञ्च । मुम्यति मनेन जीवः इति मोहोऽनन्तानुबन्ध्यादिः । यस्य कर्मणः प्रसादान् जीवति' इत्युच्यते, प्राप्यान् चारयति, तदायुः । नाम्यन्ते प्राप्यन्ते येन गतिव्रतस्यादिस्थानानि तन्नाम । विशिष्टकुलशाल्यैष्योदिप्रापणसमर्थात्तुर्बैगोप्रम् । तद्विपरित्तं नीचगोत्रम् । दानद्वयमाद्विभिक्षकारि च अन्तरायमिति । 'मौलः इति मूले भयो मीमांसा कर्मबन्धः ॥ ३४ ॥

अर्थ—मूल कर्मबन्धक आठ मन्त्र हैं—ज्ञानावरण दशनावरण वेदनीय, मोह आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय ।

भाषा—उक्त कारणात् होनेवाला कर्मबन्ध ज्ञानावरण आदिके भेदसे आठ प्रकारका होता है । ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनाय, आयु, नाम, गोत्र और अन्तराय—ये आठ मूल भेद हैं । जो कर्म क्षायोरुचिक और क्षायिद्वयको रोकता है वह ज्ञानावरण है । जो कर्म अक्षुद्रशील वीरहको रोकता है वह दशनावरण है । पापों निवारण ही मन्त्र हैं; क्योंकि वे ही दशानको रोकता है । सुख और दुःखका अनुभव जो कर्म करता है, वह वेदनीय है । जिस कर्मसे जीव मोह हो जाता है, वह मोह है । उससे वेद अनन्तानुबन्धी आदि हैं । जिस कर्मके उद्वेगसे जीव नीच हो जाता है अर्थात् प्राणियों का भरण करता है, वह आयु है । जिस कर्मके उद्वेगसे गति जति वीरहकी प्राप्ति होती है, वह नाम है । जिस कर्मके उद्वेगसे विशिष्ट जानि तथा ऐश्वर्य आदि प्राप्त होता है वह अन्तराय है । उससे उच्च नीच गोत्र है । जो कर्म दान काम वगैरहमें निव्र चल्कता है वह अन्तराय है ।

पयन मीमो'हविषः भयोत्तरा कतिविधः ? इत्याह—

अथ उच्यते कर्मबन्धक भेद कहते हैं—

पञ्च नव उपस्थाविंशतिकश्चतु पदसप्तगुणमेद ।

द्विपञ्चमेद इति सप्तनवतिभेदास्तथोत्तरत ॥३५॥

टीका—ज्ञानावरणस्योत्तरप्रकृतिभेदाः पञ्च भेदाः ज्ञानावरणपादयः । इयानावरणस्योत्तर प्रकृतयो नव चक्षुदर्शनावरणाविचतुष्टयं निद्रादिवैजकञ्च । वेदनीयं द्विविधं सद्योमसद्योञ्च । मोहोत्तरप्रकृतयोऽष्टाविंशतिः—सम्पत्त्वं मिथ्यात्व सम्पत्तिमिथ्यात्वम् अगन्तानुबन्धिनश्चत्वारः क्रोधादयः, अप्रत्याक्षमानावरणादत्वारः प्रत्याक्षमानावरणादत्वारः, संखलनाश्चत्वारः, हास्य उत्तररति मयं शोको बुभुक्षेः सुगुप्सा स्त्रीवेदः पुंनपुंसकोवेदयेति । आयुपञ्चतस्र उत्तरप्रकृतयः— नारकस्युः, तिर्यंगास्युः, मनुष्यास्युः, देवासुरिति । पद सप्तगुणा द्विचत्वारिंशद् भवन्ति । अतो नामकमेव उत्तरप्रकृतयो द्विचत्वारिंशद् भवन्ति । प्रतिपद्यादासुं भूपन्ते । तद्यथा—गतिनाम, जातिनाम शरीरनाम अङ्गोपाङ्गनाम, निर्माणनाम बन्धननाम संस्थाननाम संपातनाम सङ्गननाम, स्वशांननाम रसनाम बन्धनाम गन्धनाम, आनुपूर्वीनाम अगुरुक्षुण्डनाम उपपातनाम, परपातनाम, आतपनाम, उद्योतनाम, उष्णसनाम विद्यायोगतिनाम प्रत्येकशरीरनाम साधारण-शरीरनाम असनाम, स्थावरनाम, द्युमनाम, अद्युमनाम सुमगनाम कुमंगनाम, सुस्वरनाम, दुःस्वरनाम सूक्ष्मनाम बाह्यनाम, पयोत्तनाम, अपयोत्तनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम, आदेय नाम अनादेयनाम, यशोनाम, अयशोनाम तीर्थकरनाम चेति । गोभस्योत्तरप्रकृतिद्वयम् । उर्ध्वगोर्ध्व नीचगोर्ध्वञ्च । अन्तःपयोत्तरप्रकृतयः पञ्च—शान्तपयम् क्षामान्तपयम् मोगान्त-पयम्, उपमोगान्तपयम् वीर्यान्तपयञ्चेति । एवमेवामाशानामपि कर्मणामुत्तरप्रकृतयः सप्तनवतिर्भवन्तीति । नामकमेव पुनःश्चतुर्विधा गतिः इत्यादि नामभेदेन सप्तपष्ठिकतर प्रकृतयो भवन्ति । दोषाणां पञ्चपञ्चास्रतः । एतद्भुमयमेकीकृतं द्वाविंशत्युत्तरं प्रकृतिशक्तं भवति । तत्रापि विंशत्युत्तरप्रकृतिशतस्य बन्धः, सम्पत्तिमिथ्यात्वयोर्नास्ति बन्धः । मिथ्यात्वबन्धिकमेव विद्युर्ध्वं सत् सम्पत्त्वमुच्यते, सम्पत्तिमिथ्यात्वमपि बन्धविद्युर्ध्वं मिथ्यात्वमेवाच्यत इति ॥ १५ ॥

अर्थ—पौच नौ, दो अहार्स, चार, कपाठीस, दो बीर पौच इत मष्ट उतरकर्मवन्धने ९७ भेद होते हैं ।

मावार्थ—ज्ञानावरणके उत्तरप्रकृतिर्षी पौच हैं—मतिज्ञानावरण अज्ञानावरण, मनपर्ययज्ञानावरण और केवलज्ञानावरण ।

दर्शनावरणके उत्तरप्रकृतिर्षी नौ हैं—चक्षुदर्शनावरण अचक्षुदर्शनावरण, अवधिदर्शनावरण और केवलदर्शनावरण तथा निद्रा निद्रामिद्रा प्रचडा, प्रचडाप्रचडा और सत्यागुप्ति ।

मोहके उत्तरप्रकृतिर्षी अहार्स हैं—सम्पत्त्व, मिथ्यात्व और सम्पत्तिमिथ्यात्व, अगन्तानुबन्धी-क्रोधादि चार, अप्रत्याक्षमानावरण चार, प्रत्याक्षमानावरण चार संखलन चार हास्य रति, अरति, मय दोक, बुभुक्षा, पुंवेद, स्त्रीवेद और नपुंसकवेद ।

१ निद्राप्रचडा च सु । २ बुभुक्षा च वेदः स्त्रीपुंनपुंसकोवेदयेति सु० । ३ उत्तररतिपादे-बुभुक्षते च० ।

आयुषी उत्तमप्रकृतिर्वा चारु है—नाटकम् सिर्वंशायु मनुष्यायु चोर देवायु ।

इहको सारसे गुमा करनेपर बचायीस होते हैं । अथ नामकर्मकी उत्तमप्रकृतियों बयानीस होती हैं—गति, धारि, धरीर, अज्ञेयज्ञ निर्माण, बन्धन, संस्वान, संवात संहनन स्पष्ट, रस गन्ध वर्ण, आयुर्वी, अनुकम्पु, उपवास, परवास, जाताप ठबोत, उष्णुस विहायोगति प्रत्येकधरी साधारणधरी, प्रस, स्वासं, ध्रुम, अष्टम ध्रुमन दुर्मग सुसर दुस्वर, सूसन, बन्ध, पर्याधि अपर्याधि, सिध, अस्तिर, आदेय, अनादेय, पक्ष अपक्ष और तीर्पकर नाम ।

गोत्रको उत्तमप्रकृतिर्वा हो है—उचगोत्र और नीचगोत्र ।

अन्तःपथी उत्तमप्रकृतिर्वा पाँच हैं—दाबन्धराय, कामन्धराय, मोलन्धराय, उपमोगन्धराय और श्रीमन्धराय ।

इस प्रकार इन आठों कर्मोंकी उत्तमप्रकृतिर्वा सत्ताजने होती है । नामकर्मकी उत्तमप्रकृतिर्वाके मेदोंको मिथानेसे बैसे गतिके चार मेद हैं, नामकर्मकी उत्तमप्रकृतिर्वा ६७ होती है । और केव कर्मोंकी उत्तमप्रकृतिर्वा पचपच होती हैं । दोनोंको मिथानेसे १२२ उत्तमप्रकृतिर्वा होती हैं । उनमेंसे भी कर्म १९ ही प्रकृतिर्वाक होता है । सम्पत्क और सिध्दाकके दक्षिक ही सिध्द होनेपर सम्पत्क कहे जाते हैं, तथा उष्टी सिध्दाकके सिध्द बन्धोंको सम्बन्धिन्धक कहते हैं ।

प्रकृतिरियमनेकविधा स्थित्यनुभागप्रदेशतस्तस्या ।

तीधो मन्दो मध्य इति भवति कन्धोदयविधौ ॥ ३६ ॥

टीका—एवमिदं प्रकृतिरनेकविधा धारिंसत्युत्तररसतमेदा इत्यर्थः । तस्याथ प्रकृतेः स्थित्यनुभागप्रदेशबन्धेभ्यः स्थितिवन्धुमागबन्धप्रदेशबन्धः तस्याः प्रकृतिबन्धविशेषो भवति तीधः मन्दः मध्य इति वा । उदयविशेषोऽपि तीधविशेषः प्रकृतीनां भवति । तीधारापस्तदा ज्ञेयेषु वर्तमानस्तीर्णं प्रकृतिबन्धं करोति, मन्धासपो मन्धम् मन्धाशपो मध्यमिति । बन्धविशेषाश्चोदय इति । तत्र स्थितिवन्धो ज्ञानदर्शनायत्नेष्वान्तरायाणां त्रिसस्तागरोपमकोटीकोटय उष्णः । मोहस्य स्थितिवन्ध उष्णः सप्ततिसागरोपमकोटीकोटयः । नामगोत्रयो स्थितिवन्धो त्रिसातिसागरोपमकोटीकोटयः । प्रकृष्ट स्थितिवन्ध आमुषः प्रयत्त्रिसस्तागरोपमानि । वैश्वीयस्व अचम्या बन्धस्थितिर्दाह्यामुह्याः । नामगोत्रयोरुष्टी मुह्याः । शेषकर्मणामर्तनुहृत्स्थितिः ।

अनुभागबन्धो विपाकाक्यः कर्मणः ध्रुमस्याध्रुमस्य वा बन्धकाल एव रसविशेषो निर्गतपति । तस्यानुभवर्त विपाकः । स यथा नामकर्मैः गत्यादिस्थानेषु विपच्यमानोऽनुभूयते । प्रदेशबन्धस्तु, एकस्मिन्नात्मप्रदेशे ज्ञानावरणमुह्या अन्तः, तथा शेषकर्मणामपीति ॥ ३६ ॥

अथ—इस प्रकृतिके अनेक भेद हैं। तथा स्थिति, अनुभाग और प्रदेशकी अपेक्षासे उसका बन्ध और उदयके तीव्र, मन्द और मध्यम भेद होते हैं।

भाषाय—पूर्वोक्त प्रकारसे उच्चप्रकृतिमेंके एक सौ बाईस भेद होते हैं। स्थितिवन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेशबन्धकी अपेक्षासे यह प्रकृतिबन्ध तीव्र, मन्द अथवा मध्यम भेद होता है, तथा उसका उदय भी तीव्र मन्द अथवा मध्यम होता है। तीव्र परिवामोस तीव्र प्रकृतिबन्ध होता है, और मध्यम परिवामोसे मध्यम प्रकृतिबन्ध होता है। बन्धमें विशेषता होनेसे उदयमें भी होती है, आशय यह है कि जब प्रकृतिकी उत्कृष्ट स्थिति होती है, तब उसका अनुभव और प्रदेशबन्ध भी उत्कृष्ट होते हैं, और उच्च उस उत्कृष्ट स्थितिमें बन्ध और उदय-दोनों तीव्र होते हैं। इसी प्रकार जब प्रकृतिकी स्थिति अल्प होती है, तो अनुभव और प्रदेश भी अल्प होते हैं और उच्च स्थितिका बन्ध-उदय मन्द होता है। इसी तरह मध्यममें धानना आदि।

ज्ञानाकरण, दर्शनाकरण वेदनीय और अन्तरायका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध तीस कोकाकोकी सागर प्रमाण होता है। मोहका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध सत्त्व कोकाकोकी सागर प्रमाण होता है। नाम और मोहका उत्कृष्ट स्थितिवन्ध बीस कोकाकोकी सागर प्रमाण होता है। वेदनीयका अल्प स्थितिवन्ध यह सुहृत् होता है। नाम और मोहका अल्प स्थितिवन्ध आठ सुहृत् होता है। शेष कर्मोंका अन्तर्मुहृत् स्थितिवन्ध होता है। विपाकाको अनुभागबन्ध कहते हैं। शुभ अथवा अशुभकर्मका जब बन्ध होता है, उसी समय उसमें रस विशेष भी पकता है। उस रस विशेषके अनुभवको विपाक कहते हैं। जब गति केरह स्वामोमें कर्मका उदय आता है, तब यह विपाक अपने अपने नामके अनुसार होता है।

कर्मदण्डोंके समूहको प्रदेशबन्ध कहते हैं। जिस प्रकार एक अत्य-प्रदेशमें अत्यन्त दक्षिण रहते हैं। तथा अन्यकर्मोंके भी अत्यन्त दक्षिण रहते हैं।

बन्धके कारण कहते हैं—

तत्र प्रदेशबन्धो योगात्तदनुभवन कपायवशात् ।

स्थितिपाकविशेषस्तस्य भवति लेख्याविशेषेण ॥ ३७ ॥

टीका—तत्र तेषु चतुषु बन्धमदेषु प्रदेशबन्धस्तावन् योगान् मनोबाह्यायसंज्ञानात् महति— आत्मप्रदेशेषु ज्ञानावरणाधिपुद्गलोपचयो जायते इत्यर्थः । तस्य प्रदेशबन्धस्य कर्मणोऽनुभवानं कपायवशात् विपाकः इत्यर्थः । स्थितिविशेषः पाकविशेषश्च तस्य लेख्या-विशेषजनितो महति उत्कृष्टः मध्यमः अल्पः इत्यर्थः ॥ ३७ ॥

अथ—योगमें प्रदेशबन्ध होता है, कपायसे अनुभागबन्ध होता है, और केष्याकी विशेषतासे स्थिति और विपाकमें विशेषता आती है।

भाषाय—बन्धके चार भेदोंमें से प्रदेशबन्ध भोगसे होता है। अर्थात् मनोयोग बन्धयोग और कर्मयोगके कारण आत्मके प्रदेशोंमें ज्ञानावरणादिक कर्मपुद्गलोंका सञ्चय होता है और कपाय-

के कारण उन दिने हुए कर्मोंका अनुमत्तन जाता, विनाक होता है, तथा जिस प्रकारकी छेदना होती है, उसी प्रकारका उत्काह, मध्यम, और अवश्य स्थितिजन्य होता है और उसी प्रकारकी उत्तमैरस-राशि पड़ती है।

तत्र छेदना' इति क्व पदार्थाः ? क्वनि वा मन्वन्ति छेदना इत्याह—

छेदनात्का स्वरूप तथा उसके भेद बतलाते हैं—

ता कृष्णनीलकापोततैजसीपद्मशुक्लनामान ।

श्लेष इव वर्णबन्धस्य कर्मबन्धस्थितिविधाय्य ॥३८॥

टीका—एवं छेदना—मनुष्यः परिणाममेदाः । स च परिणामेस्तीन्नेऽप्यवसायोऽनुभो
 वन्मूलकमुमुक्षुपटपुरुषरद्यास्ताविसाम्यः । अपरे त्वाह— योगपरिणामो छेदना । बन्मान्
 कायवाग्म्यापापोऽपि मनाःपरिणामापेक्षस्तात्र एवाऽनुभो भवति । अनुभुमनुमकर्मद्रूपसहसाः
 स्वात्मपरिणामा जायन्ते प्राणिनां बर्णक्येति । काः (के) ? इतितात्परिर्गुणिकादयः तेषां कुष्मादी
 विप्रकर्मणि स्वैर्धमापादयति श्लेषो वर्णानां बन्धे दृढीकरणम् । एवमेता छेदनाः कर्मबन्ध-
 स्थितिविधाय्यः । तीव्रपरिणामः स्थितिं कर्मणामतिदीर्घां सिद्ध्यति कुक्षबहुकां कृष्णनील
 कापोतारम्या निकाशनावस्थापनेन । तैजसीपद्मशुक्लनामानः ध्रुमस्व कमबन्धस्यानुकूलताः
 ध्रुमबहुकामेव कर्मस्थितिं सिद्ध्यति मूर्च्छां विमुञ्चति विमुञ्चतया विमुञ्चतमाद्य उक्तपेक्षया
 मन्वन्तीति ॥ ३८ ॥

अर्थ—हृन्म नील, कापोत तैजस पद्म और शुक्ल—ये छेदनाके छह भेद हैं । जिस प्रकार
 छेदसे रंग पक्का और त्वायी हो जाता है उसी प्रकार ये छेदनाएँ भी कर्मबन्धकी स्थितिको दृढ़ करनेवाली
 होती हैं ।

माचार्य—छेदनाओंके छह भेद हैं । परिणामविशेषको छेदना करते हैं । जामुन खानेके
 इच्छुक पुरुषोंके उद्यत्ताको छेदकर उन पुरुषोंके अपने अपने बीसे तीन मूद या मन्वा
 परिणाम दे, वैसी ही उनको छेदना बालनी चादिय । अन्य माचार्यों का मत है कि योगपरिणाम-
 को ही छेदना कहते हैं । क्योंकि सतीर और बचनका व्यापार मनके परिणामकी
 अपेक्षासे ही तीव्र होता है और तीव्र होनेसे अनुभूत होता है । वास्तव यह है कि छेदना मनमें
 होनेवाले मार्गोंकी दृष्टाका नाम है । किन्तु अन्य माचार्य कायिक और वाचनिक क्रियाओं भी छेदना
 कहते हैं । उनका कहना है कि मनुष्य जब कुछ करता है, वा बोलता है, तब भी उसके
 करने वा बोलनेमें मनके मार्गोंकी ही मुख्यता रहती है । मनमें यदि श्लेष होता है,
 तो उसकी शारीरिक-क्रिया और वाचनिक-क्रियामें कष्टकर उत्पन्न असर पाना जाता है । अतः योग-

१ एवं छेदनां मेदाः । २ च परिणाममेदाती—ध्रु २ परिणामापेक्षती—व । ३ विमुञ्चत—

प । ४ मन्वन्ति विद्वदा नि ध्रु ।

परिणामको हेतुया कहते हैं। जिस प्रकार दीवार बगैरहपर चित्रोंको रचानी बनानेक छिपू रगोंमें सेसत बाक दते हैं सेसस रंग पक्का और स्थायी हो जाता है। इसी प्रकार ये हेतुयाएँ कर्मबन्धकी स्थितिको पक करती हैं। अर्थात् कृप्या नीच और कजपोत उद्वाररूप तीप्र परिणामोंसे कर्मोंकी स्थिति अति दीघ और दुष्प्र दनेवासी होती है। तथा तेजस पत्र और शुद्ध स्यपासे शुभ कर्मोंकी स्थिति अधिक और शुभ फल देनेवासी होती है। ये तीनों हेतुयाएँ उचरोचर विदुद्द विदुद्दलत और विदुद्दतम होती हैं।

'तस्मिन् पुनः कर्मणि बन्धे आत्मसात्कृत्ये किं भवति ? इत्याह—
आत्माके साथ कर्मोंका बन्ध होजानेपर क्या होता है ? यह प्रश्नगत है—

कमादयाद् भवगतिर्भवगतिमूला शरीरनिवृत्ति ।

देहादिन्द्रियविषया विषयनिमित्ते च सुखदुःखे ॥३९॥

टीका—उचिते विपाकप्राप्ते तस्मिन् कमापि भवो नरकादिगतयः तत्रोत्पत्ता भवगतां सत्यां नरकादिशरीरानिर्हृतिः। भवगतिःमूलं बीजं यस्याः सा भवगतिमूला शरीरनिर्हृतिः। देहानिर्हृतेन च स्पर्शान्द्रीन्द्रियनिर्हृतिः। ततः स्पर्शान्द्रीन्द्रियविषयग्रहणशक्तिः। तत्रोद्येष्ट विषय निमित्तः सुखानुभवः, अनिष्टविषयनिमित्तञ्च दुःखानुभवः ॥ ३९ ॥

अर्थ—कर्मके उदयसे बीजको नरकादिक गतियोंमें जाना पड़ता है। नरकादिक गतियोंमें जानेसे शरीर बनता है। शरीरमें इन्द्रियों होती हैं। इन्द्रियोंमें विषयको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है और विषयोंके ग्रहण करनेसे सुख-दुःख होते हैं।

मायाय—बाँया हुआ कर्म जब उदयमें आता है तो वह बीजको नरकादिक गतियोंमें ले जाता है। वहाँ शरीर बनता है। शरीरमें इन्द्रियाँ होती हैं, और उनमें विषयोंको ग्रहण करनेकी शक्ति होती है। इस विषयके भोगसे सुख और अनिष्ट विषयके भोगसे दुःख होता है।

अत्र च स्वभावादेव सक प्राणी सुखमभिसंपति दुःखाद्योद्विजते । मोहान्धो गुण दोषानविचार्य सुखसाधनाय यतमानो यां यां क्रियामारमते सा साऽप्य दुःखहेतुमवति । इति दशापति—

इस संसारमें स्वभावासे ही सभी प्राणी सुख चाहते हैं और दुःख से डरते हैं। मोहसे अन्धा हुआ जीव मछे भुकेका विचार न करके सुखकी प्राप्तिके छिपू जो या करम करता है वह उसके दुःखके ही कारण होते हैं। इसी बातको प्रत्यक्षर निम्न कारिकास बतकात है—

दु स्वद्विद् सुखलिप्सुर्मोहा धत्वाददृष्टगुणदोष ।

यां यां करोति चेष्टा तथा तथा दु स्वमादत्ते ॥४०॥

टीका—दुःख द्वेष्टति दुःखद्विद्। सुख निष्पते तच्छीलञ्च सुखलिप्सु । मोहोऽन्धो चाविचार्यतेनान्धो न गुणं दोषं वा पश्यति । चेष्टा कापिकी चाधिकी मानसी वा क्रिया ।

तेन चार्हसी वा क्रियते क्रिया तथा तथा दुःखमावृत्ते-दुःखमनुभवति । कर्मैव वा दुःखम् कारणे
कार्योपेयात् । तदादत्त- दुःखकारणं कर्म वज्राति इत्यर्थः ॥ ४ ॥

अर्थ-दुःखकृत् भेदी और सुखकृत् चन्द्रनेवाणा प्राणी मन्-भुरेक्य विचार न करता हुआ,
मोहसे बन्धा होकर जो जो कर्म करता है, उससे दुःखको ही मोगठा है ।

माहाय-सुख पायेकी इच्छसे विना विचारे मोहमें पककर प्राणी जो कुछ मलसे, बचनसे,
और कर्मसे चेष्टा करता है, वह चेष्टा कर्मकल्पा करण है, और कर्मकल्प हुआक्य करण होनेसे
दुःखकृत् है । अतः करणमें कार्यकत् उपचार करके 'चेष्टसे दुःखकृत् अनुभव करता है' ऐसा कइ दिया
है । वेधे तो उस चेष्टासे कर्मकल्प करता है, और कर्मकल्प से दुःख मोगठा है ।

तत्र पञ्चसु इन्द्रियाण्येषु एकैकविषयप्रवृत्तावपि प्रस्थपायान् पञ्चमिदृशान्तैर्विधायति—
पाँचों इन्द्रियोंके पाँच विषय हैं । उनमेंसे एक एक विषयमें मी प्रवृत्ति करनेपर जो आनन्दरह
आती है, उन्हें पाँच इन्द्रियोंसे बतलाते हैं—

फलरिमितमधुरगान्धर्वतूर्ययोपिद्विविभूपणरवाद्यै ।

श्रोत्राववद्दृश्यद्वयो हरिण इव विनाशमुपयाति ॥ ४१ ॥

टीका-कला अस्मिन् विद्यन्त इति कर्म माप्रायुक्तं ग्रामरागरसिष्या युक्तम् । रिमितं
मधुर श्रोत्रसुखम् । गान्धर्वविशेषपचान्वेयानि । तूर्य वायुविशेषः, तस्य ध्वनिः । योपितां
विभूपणानि मधुररसनात्किंकिणिकारविशेषनितानि तेषां एक शब्दः । एकमाविर्मिमोहादिभिः
सद्वैः । श्रोत्रेन्द्रियाववद्दृश्यः-श्रोत्रे श्रोत्रेन्द्रियविषयेऽववद्दृश्यं इत्यर्थं येन स श्रोत्राववद्दृश्यः ।
पुरङ्को विनाशमाप्नुु प्राप्नोति गोचरालेष्टके । तद्व्यपरोऽपि प्रमादीति ॥ ४१ ॥

अर्थ-गायकके मनोहर और मधुर संगीत, वायु तथा शियोंके आनन्दपूर्णके सम्बन्धमें रहते
विसृष्ट इत्यं श्रोत्रेन्द्रियके विषयमें आसक्त है, वह हिरणकी तरह विनाशको प्राप्त होता है ।

माहाय-विसृष्टमें कला है उसे कइ कहते हैं । उदात्त-चन्द्राव तथा ग्राम-रागकी रीतिसे कुछ
कानोंको सुख देनेवाला गान्धर्वकेक्य संगीत, वायुकी मधुर ध्वनि और शियोंके विभूपण, करवनी सुंदर
बादि आनन्दपूर्ण शब्द-इस प्रकारके मनोहारी शब्दोंको सुनकर विसृष्ट मन कर्मेन्द्रियके विषयमें
रहस जाता है, वह उसी प्रकार अपना सर्वनाश करता है, जिस प्रकार शिकारीके संगीतकी ध्वनिमें
आसक्त होकर हिरण अपना सर्वनाश कर बैठता है ।

गतिविभ्रमेङ्गिताकारहास्यलीलाकृत्यक्षुविक्षिप्त ।

रूपावेशितचक्षु शलम इव विपद्यते विवश ॥ ४२ ॥

टीका-गतेर्विभ्रम-मद्व्यपकरण सविकारा गति इत्यर्थः । इङ्कितं निरीक्षितं
क्षिप्रया वदयाऽक्षयोऽकनम् । आकार-तन्मुञ्चोऽक्षविषयविशेषः । हास्य सविकारसं लक्ष्मीकं

१ वादया मुञ्च । २ अविर्ष्य क्षीरकमलं वासिह मुञ्चते । ३ इति मुञ्च ।

इक्षितम् इत्ययम् । कट्यास्त-अपाङ्गसन्निवेशितेऽक्षिः सामर्पा । एमिबिंशोपयैः विकसितः प्रेरितो वनितारूपान्नौ निवेशितबहुं शाळम् इव विपद्यते विनश्यति । शाळमो हि वीपशिलाबलोक्तना-
सितोऽपिमुक्तः पतितः सधैव भस्मस्ताद् मचतीति ॥ ४२ ॥

अर्थ-स्रमाती गति, प्रेममयी चितवन, मुक्त, जौब शीख अबयक, मदमयी हँसी तथा कटाक्षसे पागळ हुआ मनुष्य कीके रूपपर आसक्त होकर पतङ्गकी तरह विपत्तिकर शिकर बनता है ।

माभार्य-निस प्रकार पतङ्ग वीप-क्षिस्तापर मुग्ध होकर उसीमें जकड़कर रख हो जाता है, उसी प्रकार मनुष्य भी वीकी प्रेममयी नेहाओं और उसके रूपपर मुग्ध होकर अपना सब कुछ गँवा बैठे है ।

स्नानाङ्गरागवर्तिकवर्णकधूपाधिवासपटवासौ ।

गन्धम्रमितमनस्को मधुकर इव नाशमुपयाति ॥ ४३ ॥

टीका-कृतिपयसुपमिद्रम्यसमाहार स्नानम् । अङ्गराग-बन्दनकुंकुमादिविधे-
पनम् । धूपद्रव्यकृता वैतिरेव वर्तिकम् । (सब धूपो वर्तिकाधूप एवासी संवायते ।) सब दक्षमाना
धूपायते । कणकः कृष्णाश्रयः । अधिवासो माळतीकुसुमादिभिः । पटवासो गन्धद्रव्यधूपः ।
पमिः स्नानादिमिगन्धैः अमितम्- आक्षिप्तं मनो धन्यासी गन्धम्रमितमनस्को । मधुकर
धिसीमुक्त इव विनाश प्राप्नोति । सुपमिणा पद्मगन्धेन आहृष्टश्चञ्चरीकस्तन्मध्यवर्तिकगन्ध
माभिन्नभस्तमिते सचितरि संकुचयत्यपि नञ्जिने नाशमुपयाति । निरुद्धत्वाच्च तमेव पपसुतां
समत इति ।

अर्थ-स्नान अङ्गराग, धूपबत्ती, सुगन्धित छेप अधिवास और पटवासकी सुगन्धसे पागळ
हुआ मनुष्य औरके समान मधुको प्राप्त होता है ।

माभार्य-इसमें कुछ सुगन्धित द्रव्योंको मिलाया गया है । बन्दन केसर शीखकच छेप कर
नेको अङ्गराग कहते हैं । धूपकी बत्ती गई बत्तीको धूपबत्ती कहते हैं । उसे जब जकड़ते हैं तब वह धूपकी
ही तरह सुगन्ध देती है । किसी चीजको माळती बगैरके इकोंकी सुगन्धसे सुवासित करनेको अधिवास
कहते हैं । कणकोंको सुवासित करनेके लिए तैयार किये गये सुगन्धित धूपकी पटवास कहते हैं । इनकी
सुगन्धसे चितकष मग जकड़ हो उठता है, वह औरकी तरह नासको प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार
मौत कमलकी सुगन्धसे आहृष्ट होकर उसके नीतर बैठकर उसकी गन्ध क्लिया करता है । जब सूर्य हुए
जाता है, तो कमल बन्द हो जाता है । कमलके बन्द होते ही वह उसके अन्दर बंद हो जाता है । और
उसके बन्द होनेसे वह यहाँ मर जाता है ।

मिथान्नपानमांसोदनादिमधुररसविपयगृह्यात्मा ।

गलयन्त्रपाशवद्धो मीन इव विनाशमुपयाति ॥ ४४ ॥

टीका—मिष्टमत्स्यन्तस्वाद्यु सर्षदोपरहितं मेसमाग्यं विविधम् । पानकादि मयं प्रसन्नादि वा पानम् । मांसं ऊर्गाहरिषोक्षकरमशाशाकावकादीनाम् । शास्वोदनादि च । मनुष्ये रसः सण्डशर्करादि च । स एव विषयो रसनायाः । तस्मिन् दृष्टः सक्र आत्मा यस्य । ओर्वाङ्गुसक्षे गच्छे । यन्माणि बाँडादि—मर्माणि सिंहम्बाद्वीपिमुपिकादिभ्यापाद्नहेतोः क्रियन्ते । तन्मैमपद् पापाः तिष्ठिरत्वावकमधुपात्रिभ्यापसये निक्षिप्यन्ते । अथवा यन्प्रमाणायाः स एव पासा तेन बद्धो बर्षाङ्कतो मीनः दृष्टुपोमा दृष्टुमुक्तमाविसति ॥ ४४ ॥

वार्थ—मीठा स्वादिष्ट मोहन यदिरा बन्धा कोर्षे अन्व मधुर देव मांस सुगन्धित चतुर्जोका मत तथा बाँड-सम्पन्न कोरह, रसना इन्द्रियके विषयोंमें बिसुद्धी आत्मा आसक्त है, वह कोड़ेके बंध अथवा बाँडमें फँसे हुए मीनके समान नासकने प्राप्त हो जाता है ।

माषाय—कोड़ेके बने हुए सन्तको गन्ध-सम्पन्न कहते हैं और उससे शर व्याप्त, चूड़े बगीछ पकने बात हैं । बागोंका बना पास होता है । यह तीकर, कला मेर बीरह पक्षियोंके पकड़नेके काम जाता है । बिस प्रकार भीर कोड़ेके कोँटके जन्में बन्धता है और उसमें बगे हुए मांसके खानेके जोममें आकर मछली मनुष्यके मुँहमें चबी जाती है, उसी प्रकार रसना इन्द्रियके विषयोंके जोममें पकड़कर यह प्राणी भी विपत्तिमें फँस जाता है ।

शयनासनसंवाहनसुरतस्नानानुलेपनासक्त ।

स्पर्शान्याकुलितमतिर्गजिन्द्र इव वध्यते मूढ ॥ ४५ ॥

टीका—शयन स्विप्रमाणा शय्या दृश्योपमानकप्रच्छादनपटलनाया । आसनमपि आसंक्ष्मादि म्यपगतोपद्रव्यं सुदुबध्नुपहादिव्रुतम् । संवाहनम्—अङ्ग-मर्दनम् । सुरतं क्रोडक-गायपदे भिषायाः बुभ्वनाभिङ्गनादि । स्नानानुलेपनं पूर्वोक्तं । तेषु सक्तो—म्यसनी । शय्यादि संस्पर्शेन शिवाङ्गस्पर्शेन च म्वाकुलितमतिः—मोहितवृत्तिः गबेन्द्र इव गमिकाकरिणीमिा करार्थो संस्पृशमानः—शीघ्रमानश्च सत्कमुमैः पक्षीः काभित् सूप ! काभित् इन्तकाण्डेन मेरयन् काभित्प्रोक्ष्णा काभित् पृष्ठतो विषाय, पाशतश्चास्यां स्वच्छन्दचापि श्रीहृद्यनेकविधै- (कथा) वारि (री) पञ्जरमध्यभागीत, ततश्चाभारतेनाधिकवृत्तीस्त्र्यामुसाप्रप्राहप्रस्तमस्तक परबधोऽनेकप्रकारं पुःसम्पुमकतीति ॥ ४५ ॥

वार्थ—बिछानन लभित्वा कोरहसे सुसज्जित शय्या, कोमल आसन अगमर्दन, संभोग कान और अनुलेपनमें आसक्त हुआ मनुष्य शिवाके लक्ष्मीके बाकिङ्गनसे पालक हुए मूर्ख हाथीके समान बन्धको प्राप्त होता है ।

१ मन्ववर्षे मे—५ । २ पानकादिभ्य—४ । ३ शास्वोदनादि—५ । ४ सण्डशर्करा—६ । ५ मनुष्ये रसो भ्या । ६ शास्वोदनादि भ्या । ७ स्नातुम्—५ म । ८ मन्वना शय्या मु० आत्मप्रमाणा य भ्या० । ९ मतिरि पचमिर् म० भा बुल्लकोः । १०—विजला—मु० ११ मति म भा ।

1. मायाय—हावीको पकड़नेके लिए अनेक इधिनियों छोड़ी जाती हैं। वे उसे अपनी सूँघोंसे छूटी हैं, फूलों और पत्तोंसे मरी टहनियोंको सूँघमें दबाकर उसके ऊपर बोरती हैं। उनके स्पर्शसे मोहित हुआ हावी किसी इधनीको स्पर्श करता है, किसीको दौनोंस धक्का देता है। किसीको आगे करता है, किसीको पीछे करता है, और किसीको अपनी बगलमें करता है। इस प्रकार श्रिंका करते हुए उस हावीको वे इधिनियाँ हावी पकड़नेके खानपर ले जाती हैं, वहाँ उसके पकड़ जानेपर हावीखान् उसपर सवार हो जाता है और उसके मस्तकमें अङ्कुरा गडगनकाकर उसे बधमें कर लेता है। इसी प्रकार स्पर्श इन्द्रियोंके फलमें पकड़कर मनुष्यको भी बहुत दुःख सहना पड़ता है।

‘इत्थमेकेन्द्रियविषयसृष्टानामपापदारमावमुक्तम् इति उपसंहारति—

इस प्रकार एक एक इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त हुए जीवोंके दुःखोंका संकेतमात्र करके उसका उपसंहार करते हैं—

एवमनेके दोषा प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् ।

दुर्नियमितेन्द्रियाणां भवन्ति धाधाकरा बहुशः ॥ ४६ ॥

टीका—पथम्—उक्तप्रकारेण प्रत्यक्षप्रमाणसमाधिगम्य एकैको दोषाः प्रदर्शिताः । तद्वारेण च परलोकेऽप्यानिवृत्तविषयसङ्गानां बहुशो दोषा मारकतिपयानिभवादिषु मवन्ति । केवामेते दोषाः । प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टानाम् । शिष्टा विवेकिना परलोकापवमरूपणामुद्यमानिषुषाम्, तेपामिष्टा दृष्टिचेष्टा । दृष्टि सन्मार्गोपदेशि ज्ञानम् । चेष्टा क्रियानुष्ठानम् । उभवावेते शिष्टेष्टदृष्टिचेष्टे प्रणष्टे दोषा ते प्रणष्टशिष्टेष्टदृष्टिचेष्टा, तेपाम् । दुर्नियमितेन्द्रियाणाम्—दोषेषु न नियम प्राहितानि इन्द्रियाणि यैः—ओमादिविषयसमामि दोषाः—तेषां दुर्नियमितेन्द्रियाणाम् । धाधाकराः पीडाकराः शारीरमानसाशमकारिणोऽनेकराः सत्सारोदधी परिवर्तनमाचरतामिति प्र ४६ ॥

अथ—जिनके शिष्ट जनोंके योग्य ज्ञान और चारित्र नहीं हैं तथा जिनकी इन्द्रियों भी बधमें नहीं हैं, उनमें इस प्रकारके पीडा पहुँचानेवाले प्रायः अनेक व्यसन पाय जाते हैं ।

माचार्य—इस प्रकार उक्त रीतिसे इन्द्रियोंके विषयोंमें आसक्त करनेवादी एक एक भुवाई कठकाई है, जो प्रत्यक्षगोचर है। जो समझदार मनुष्य परलोकेके उपयोगी मार्गका कथन और आचरण करनेमें निपुण होते हैं उन्हें शिष्ट कहते हैं। उन्हें सन्मार्गका उपदेश करना और स्वयं उसका आचरण करना प्रिय होता है। जो ऐसे नहीं हैं और विषयोंके संगसे विरत नहीं हुए हैं, उन्हें उनके कर्मण मरक, शिर्षज आदि योनिषोंमें अनेक शारीरिक और मानसिक पीडाएँ मोगनी पकती हैं ।

अपि चैते कुण्डलादयो विनाशमायाः सङ्घाता एकैकविषयासक्तम् । यः पुनः पञ्चस्वपि इन्द्रियार्थेषु सक्तः स किञ्च पञ्चोवति तदेष चिन्मम् इति उपसंहारजाह—

तथा वे हिरण्यकौबेर एक एक इन्द्रियके विषयमें वासुध होकर विनाशको प्राप्त होते हैं, मित्रुषो पाँचों ही इन्द्रियोंके विषयमें वासुध होकर भी जीता है, उसका जीना व्यवहारकी ही बात है। उपसंहार करते हुए इसी बातको कहते हैं—

एकैकविषयसंगाद् रागद्वेषात्तुरा विनाशस्ते ।

किं पुनरनियतात्मा जीव पञ्चेन्द्रियवशात् ॥ ४७ ॥

टीका—सव्यायेकैकविषयसंगाद् रागद्वेषवशात्तुरात्वात्तुपस्ते कुपक्रादयो विनाशं गताः। मान्वाभिसूतापध्याश्यातुरक्तः। किं पुनरनियतात्मा? इति। नात्मा नियमं प्राहितः—न नियतितः। शब्दाद्विषयेषु प्रीतिमयुक्तम् पञ्चात्माभिन्द्रियानां वसवती। अत एव वात—अप्राप्तात् विषयान्मिच्छन् प्राप्ताभ्यावियोगतश्चिन्तयन्ति ॥ ४७ ॥

अर्थ—जब राग और द्वेषसे पीड़ित वे हिरण्यकौबेर एक एक विषयके सम्बन्धसे विनाशको प्राप्त हुए तब पाँचों इन्द्रियोंकी पराधीनतासे पीड़ित असंयमी जीवका बहना ही क्या है?

माचार्य—मन्दादिसे पीड़ित अपण्यसेही बीमारको तरह, राग और द्वेषसे पीड़ित उच्छ हिरण्यकौबेर उच्छ उच्छादिक एक एक विषयके संसर्गसे मृत्युके मुक्तमें चके जाते हैं, तब जो मन्दादिक विषयमें प्रीति करनेसे अपनी अरमाको नहीं देखता है तथा पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-दृष्ट्यसे पीड़ित होकर अप्राप्त विषयोंकी इच्छा करता है, और प्राप्त विषयोंके विच्छेद न होनेकी चिन्ता करता है, उसका तो बहना ही क्या है?

न च कश्चिच्छब्दादिर्विषये समस्ति योऽभ्यस्यमानः सद्यथा तृप्तिं कल्पियति इत्येतद् प्रदर्शयन्नाह—

अथ यह कहते हैं कि ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसके बार-बार सेवन करनेसे सर्वथा तृप्ति होती हो—

न हि सोऽस्तीन्द्रियविषयो येनाभ्यस्तेन नित्यतृपितानि ।

तृप्तिं प्राप्नुयुरक्षायनेकमार्गप्रलीनानि ॥ ४८ ॥

टीका—नैवास्ति इन्द्रियविषयः स शब्दादिः, येनाभ्यस्तेन-पुनः पुनःपुनःसम्यग्मानेन नित्यतृपितानि-नित्यमेव सामिच्छयानि सपिपासानि तृप्तिं प्राप्नुयुः असाभि-इन्द्रियाभिः अनेकस्मिन् मार्गे शब्दाशब्दनेकमेवे प्रकर्षेण स्वीकामि तन्मयतां गतानि तथासत्त्वानि पुनः पुनःपुनःकाम्येव स्वविषयान् ॥ ४८ ॥

अर्थ—किसीपक्ष ऐसा कोई विषय नहीं है, जिसके बार-बार सेवन करनेसे सर्वदाकी प्यासी और अनेक विषयोंमें वासुध इन्द्रियोंकी तृप्ति हो सकती हो।

प्रयोजन होता है, उसको अनुसर उच्च विषयके अंगे इष्ट अथवा अनिष्टकी कल्पना कर लेते हैं।

अन्येषा यो विषय स्वाभिप्रायेण भवति पुष्टिकर ।

स्वमतिविकल्पामिरतास्तमेव भूयो द्विपन्त्यन्ये ॥ ५१ ॥

टीका—विशुद्धितपुरुषाद्येऽन्ये तेषां यो विषय उच्चैः, स्वाभिप्रायेण उच्चैः
रागाणां स्वमनःपरिणामवशात् परितोषमाधत्ते । अपरे तु स्वमतिविकल्पामिरताः प्रवृत्त
द्वेषवशात् स्वमनोविकल्पसंश्लेषजन्यता तमेषु विषयेषु पुनरुपनिष्ठता द्विपन्ति ॥ ५१ ॥

अर्थ—किन्हींके अपने अभिप्रायके अनुसर जो विषय अच्छा लगता है, उसी विषयसे दूसरे
कोन अपने अभिप्रायके अनुसर द्वेष करते हैं।

मात्सर्य—संसारमें ऐसा नहीं है कि जो विषय एक मनुष्यको अच्छा लगता है, दूसरेको भी
वह अच्छा लगना चाहिए और जो एकको बुरा लगता है, दूसरेको भी वह बुरा लगना चाहिए, वास्तवमें
विषयकी अकार्य-दुर्गति मनुष्यके प्रयोजनके हिसाबसे निर्भर है। यदि मनुष्यको किसी परार्थसे कुछ प्रयोजन
सिद्ध होता है तो वह उस परार्थसे एग करता है, और दूसरेको यदि उससे कुछ अर्थ सिद्ध नहीं होता है
तो वही परार्थ उसे अक्षयिकर हो जाता है।

एकममवस्थितेप्रमाणे विषयात् परमार्थतो न चाऽप्रियाः इति दर्शयन्नाह—

इस प्रकार अक्षयिक प्रेमवाले विषय वास्तवमें न इष्ट होते हैं और न अनिष्ट, यह बतलाते हैं—

तानेवार्यान् द्विपस्तानेवार्यान् प्रलीयमानस्य ।

निश्चयतोऽप्र्यानिष्टं न विद्यते किञ्चिदिष्टं वा ॥ ५२ ॥

टीका—तानेव इत्याह सव्यार्थान् द्विपतो विषयानुबस्तानेव च द्वेष्यानुब्रवीयमानस्य
तन्मपतां गच्छन्तः समुपजातरागस्य निश्चयता—परमाथतो निश्चान्तेनैवास्य संभवति
किञ्चिदिष्टमनिष्टं वा ॥ ५२ ॥

अर्थ—एक ही वस्तु किन्हींसे द्वेष करता है और वही विषयसे एग करता है। अतः
निश्चयसे इष्टत न कोई इष्ट है और न कोई अनिष्ट है।

मात्सर्य—मनुष्य किन विषयोंसे एग करता है, वहीसे द्वेष भी करता है, इससे यह निश्चय
निकलता है कि ये विषय इष्ट अथवा अनिष्ट नहीं हैं। मनुष्य ही अपनी रागद्वेषमयी परमार्थके हिसाब
अपने प्रयोजनके अनुसर उनमें इष्ट अथवा अनिष्ट बुद्धि रखते हैं। यदि यह विषय ही इष्ट अथवा अनिष्ट
होते तो जो विषय एक मनुष्यको इष्ट होता, वह सभीको इष्ट ही होना चाहिए और जो एकको

स्नहाम्यक्तारोग्यस्य रेणुना स्थिप्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वयाङ्गिन्त्रस्य कमबन्धो भवत्येव ॥ ५५ ॥

टीका—रेणुना स्नहनाम्यक्तवपुषा यथा रजःकृपाः स्थिप्यन्ति तानिपुम्सक्तवपुः
तथा रागद्वयारोग्यामस्नहाद्रस्य आभावात्पाद्विषयनाशयोग्याः कमपुत्र्याः प्रदेशेषु भाव्या
स्यगर्भान्यसः ॥ ५५ ॥

अर्थ—इस प्रकार त्रिभुक्त शरीर में तेजकी पादिकाकी गई है, उसके शरीर में बृद्धि कर
करके चित्त प्राप्त है, वेप ही राग और इन्द्रिय मीची हुई आत्माक कर्मबन्ध होता है ।

भाषा—आत्मक पादपणिसमे कम बन्धे हैं, यह पहले बतला जाये हैं । और बन्धे
हुए कम औरत राग और इन्द्रिय भावोंका निमित्त पाकर आत्माक उसी तरह चित्त बन्धे हैं, वेपे
इसमें उदरक कर्मबन्ध बृद्ध-कर्म विद्यताक निमित्त पाकर शरीरसे चित्त बन्धे हैं ।

मर्त्यानि रागद्वयप्रधानान् कमबन्धदन्तु ससम्भारव उपसंहारमाह—

बन्ध एव उपसह प्रमुच्य कमबन्धक सर्वा कर्मोको बन्धते इव उपसहार कर्ते हैं—

पत्र रागद्वयो मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।

पमि प्रमाद्योगानुगो ममादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उपसहकणा रागद्वय । मोह—मोहनायम् । मिथ्यात्वं तत्त्वात्प्रज्ञानसहसम् ।
मविरतिः—प्रतिवृत्तिः कर्मावबन्धः । पमिः रागादिभिर्विकल्पादिप्रमाद्युपसंहारसहितमनो-
वाक्याद्योगानुगतः कम आदीयते—एवम् स्वप्रदेशेषु आत्मना विधीयते इत्यस्य । तन्म
सर्वापन्धस्याप्येव रागादीनां कमबन्धदन्तुर्बन्ध कर्मणोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद्य और योगस सहित एव इव मोह मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जी
कर्मको प्रबन्ध करता है ।

भाषा—एव बन्धकण बन्धन पहले बतला जाये हैं । विकल्पादि पाँच प्रमादों और मनोमोह
तथा कर्मयोगसे समित्त एगादिकक इन्द्रिय बन्ध कर्मबन्ध करता है । एगादिक और कर्मबन्धक परस्परमें
निमित्तनेमित्तिक सम्बन्ध है । एगादिकसे कमबन्ध होता है और कर्मबन्धसे एगादिक परिणाम होते हैं ।

अर्थ—

कर्ममयः ससार संसारनिमित्तक पुनर्दुःखम् ।

तस्माद्भागद्वेपादयस्तु भवसंततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं त्रियकत्वं मनुष्यत्वं देवत्वम् । नारकाद्विकल्पसंसार
कारणं दुःखं शारीरं मानसं वा । न हि अन्तर्को नरके दुःखमनुभवति प्रथमितरत्रापि । तस्मात्
रागद्वेपादयः पाञ्चकर्मबन्धैवतो नारकादिमवत्सन्ततेः मवपरत्परायाः मूलं धीर्वा प्रतिष्ठेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाम्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—स्नेहादिना स्नेहेनाम्यक्तवपुषो यथा रक्षाकणाः श्लिष्यन्ति नातिसूक्ष्मसूक्ष्मम्, तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहाद्रस्य ज्ञानाकर्णादिबगणायोग्याः कर्मपुत्रत्वाः प्रवेद्येण आत्मनो क्लगन्तीत्यथा ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर तेजकी माकिसकी गई है, उसके शरीरपर धूमिके कम आकर चिपट करते हैं, वैसे ही एग और द्वेषसे भीनी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है ।

मातार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म करते हैं, यह पहले कतना जाने हैं । और जाने हुए कर्म जिनके एग और द्वेषका कारणोंका निमित्त पाकर आत्मसे उखी कदा चिपट करते हैं, वैसे इससे उबकर जानेवाले मूक-कम चिकनाईका निमित्त पाकर शरीरसे चिपट करते हैं ।

सम्यसि रागद्वेषप्रयत्नान् कर्मबन्धहेतून् समस्तान्नेव तपसंहरन्नाह—

नव राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके समी कारणोंको बतलाने हुए तपसंहर करते हैं—

एव रागद्वेषो मोहो मिथ्यात्वमविरतिभ्रैव ।

एभि प्रमादयोगानुगै समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तकर्मणो रागद्वेषो । मोहः—मोहनापम् । मिथ्यात्वं तस्यायाभिधानसञ्चयम् । अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रयेभ्यः । एभिः रागादिभिर्बिच्छयादिप्रमादपञ्चाकसर्दितर्मणो-वाङ्माययोगानुगतैः कर्म समादीयते—बुझते, स्वप्रवेक्षेण आत्मना विधीयते इत्यर्थः । ततश्च प्रदीयन्म्याशेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मणोऽपि रागादिपरिणामाः ॥ ५६ ॥

अर्थ—जिस प्रकार प्रमाद और मोहसे सहित एग द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह तीन कर्मोंको प्रहण करता है ।

मातार्थ—एग प्रवेक्षेण कदाक पहले कदा जाने हैं । बिच्छादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा कर्मयोगसे सहित एगादिकके द्वारा तीन कर्मबन्ध करता है । एगादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनेमैमिक सम्बन्ध है । एगादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे एगादिक परिणाम होते हैं ।

अतः—

कर्ममयं संसारं ससारनिमित्तकं पुनर्दुःखम् ।

तस्माद्ग्रागद्वेषादयस्तु भवसंसर्तमूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मबिच्छाते मारकत्वं तिर्बकत्वं मनुष्यत्वं वेद्यत्वम् । मारकादिरूपसंसार-कारणं दुःखं सादीरं मानसं वा । न हि अमारको मरके दुःखस्तुभवति एवमितरमापि । तस्मात् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो मारकादिमकसन्ततो मवपरम्यरायाः मूळं नीर्णं प्राप्तिरेति ॥ ५७ ॥

स्नेहान्धक्तशरीरस्य रेणुना स्थिप्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषाङ्घ्रिस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—स्नेहादिना स्नेहेनाम्यक्तवपुषो यथा रजःकणाः स्थिप्यन्ति नातिसूक्ष्मस्वभावाः तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहादस्य द्वाभावरण्यादिबर्गणायोग्याः कर्मपुद्गलाः प्रदेसेषु आत्मनो ङ्गन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—विद्य प्रकृत विद्यके शरीरपर तेकसी मन्त्रिकसी नई है, उसके शरीरपर धूमिके कल आकर चिपट जाते हैं, जैसे ही राग और द्वेषसे मीनी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है ।

भाषार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म जाते हैं, यह पहले बतला जाये हैं । और जाये हुए कर्म जीवके राग और द्वेषरूप मार्गोंके निमित्त पाकर आत्मासे उठी तरह चिपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर जानेवाले धूल-कण विकर्णार्थके निमित्त पाकर शरीरसे चिपट जाते हैं । ;

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानात् कर्मबन्धहेतुन् समस्तानेव उपसंहारमाह—

एव रागद्वेष प्रमुक्त कर्मबन्धके सभी कर्मजोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एव रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।

एभि प्रमादयोगानुगै समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तद्वयस्यौ रागद्वेषौ । मोहो—मोहनीयम् । मिथ्यात्वं तत्त्वाभासदानज्ञानम् । अविरतिः—अभिहितः कर्माश्रयेभ्यः । एभिः रागादिभिर्विक्रवादिप्रमादपञ्चकसहितमनो-बाधाययोगानुगतैः कर्म आदीयते—रुध्यते स्वप्रदेसेषु आत्मना विधीयते इत्यर्थः । ततश्च परीयन्प्रम्यायेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मजोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित राग द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मजोंके प्रहण करता है ।

भाषार्थ—राग औरद्वेषके बन्धन पहले कहे जाये हैं । विक्रवादि पाँच प्रमादों और मनोबोग तथा कल्पयोकसे सहित एगादिकके हाथ जीव कर्मबन्ध करता है । एगादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तत्वैवैविकक सम्बन्ध है । एगादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे एगादिक परिणाम होते हैं ।

अह—

कर्ममयः ससार संसारनिमित्तक पुनर्दुःखम् ।

तस्माद्वागद्वेषादयस्तु भवसततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविक्रयो नारकत्वं तिर्यकत्वं मनुष्यत्वं देवत्वम् । नारकादिरूपसंसार कर्णं दुःखं शारीरं मानसं वा । न हि अनारको मरके दुःखमनुभवति एवमित्यत्रापि । तस्माद् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्ततो भवपरम्परया मूलं शीघ्रं प्रतिष्ठेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाभ्यक्तशरीरस्य रेणुना लिप्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषास्त्रिंशस्य कर्मबन्धो भवत्येव ॥ ५५ ॥

टीका—स्नेहादिना स्नेहेनाभ्यक्तशरीरस्य यथा रक्तकणाः क्षिप्यन्ति मातिसूक्ष्मस्वभावाः स तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहादिस्य ज्ञाभावस्यादिवर्गभावोऽप्यथा कर्मपुत्रज्ञा प्रवेशेषु मात्मनो छगन्तीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर लेकनी याकिसकी गई है, उसके शरीरपर भूमिके कण याक्षर बिपट जाते हैं, वैसे ही राग और द्वेषसे मीमी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है ।

भावार्थ—आत्माके योग-परिणामसे कर्म ज्यते हैं, यह पहले बतला जाये हैं । और जाये हुए कर्म जीनके राग और द्वेषरूप भाषेका निमित्त पाकर आत्मासे उखी तरह बिपट जाते हैं, वैसे इससे उक्तक आनेवाले पूछ-कर्म विकल्पार्थका निमित्त पाकर शरीरसे बिपट जाते हैं ।

सम्प्रति रागद्वेषप्रभावान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेष उपसंहारच्छाह—

अथ राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके समी करणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एव रागद्वेषौ मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।

एभि प्रमादयोगानुगै समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तकस्यैव रागद्वेषौ । मोहः—मोहनीयम् । मिथ्यात्वं तत्त्वापाभवादानुसृष्टम् । अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्माश्रयेभ्यः । एभिः रागादिभिर्विकृपादिप्रमादप्रसक्तवृत्तितमनो-बाह्यप्रयोगानुगतैः कर्म आदीयते—दृढते, स्वप्रवेशेषु आत्मना विधीयते इत्यर्थः । ततश्च कटीबन्धन्यायेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मजोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे छहित राग, द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीन कर्मोंको प्रबन्ध करता है ।

भावार्थ—राग क्षेत्रकक कथन पहले कइ जाये हैं । विकृपादि पाँच प्रमादों और मनोयोग तथा कर्मजनेसे छहित रागादिकके द्वारा जीन कर्मबन्ध करता है । रागादिक और कर्मबन्धका परस्परसे निमित्तनेमित्तक सम्बन्ध है । रागादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे रागादिक परिणाम होते हैं ।

अथ—

कर्ममयः संसार संसारनिमित्तक पुनर्दुःखम् ।

तस्मात्त्रागद्वेषादयस्तु भवसततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं तिर्यकत्वं मनुष्यत्व देवत्वम् । नारकादिकरूपसंसार करणं दुःखं शारीरं मानसं वा । न हि अमारको नरके दुःखमनुभवति पृथगितरथापि । तस्मात् रागद्वेषादयः पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिसकसन्ततो भवपरम्परायाः मूलं जीनं प्रविष्टेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाम्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।

रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येव ॥ ५५ ॥

टीका—सैन्धुदिना स्नेहेनाम्यक्तशरीरपुत्रो यथा रजःकृपाः सिन्धुमिति नातिसूक्ष्मस्त्वृद्धाः तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहाद्रस्य ज्ञानावरणादिविषयगणायोग्याः कर्मपुत्रताः प्रवेशेषु आत्मनो छगन्तीत्यथा ॥ ५५ ॥

अर्थ—विद्य प्रकृत विसर्गके शरीरपर लेखनी मास्त्रिस्तनी गर्ह है, उसके शरीरपर धूमिके कम आकर विपट जाते हैं, जैसे ही रंग और रूपसे मीनी हुई जालाके कर्मबन्ध होता है ।

मातृवार्थ—आत्मनके योग-परिणामसे कर्म आते हैं यह पहले बतला आये हैं । और आये हुए कर्म जीवके रान और रूपरूप मातृका निमित्त पाकर आत्मनसे उठी तरह विपट जाते हैं, जैसे हवासे उड़कर आनेवाले धूल-कण विकर्माकार निमित्त पाकर शरीरसे विपट जाते हैं ।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धहेतून् समस्तानेष उपसंहरामाह—

अथ राग-द्वेष प्रमुख कर्मबन्धके सभी कारणोंको बतलाते हुए उपसंहार करते हैं—

एव रागद्वेषो मोहो मिथ्यात्वमविरतिश्चैव ।

एभि प्रमादयोगानुगै समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तलक्षणी रागद्वेष । मोहः—मोहनीयम् । मिथ्यात्वं तत्त्वायाभ्रज्ञानलक्षणम् । अविरतिः—अनिवृत्तिः कर्मावशेष्यः । एभिः रागादिभिर्विकल्पादिप्रमादपञ्चकसहितैर्मनो-बाह्यापयोगानुगतैः कर्म आदीयते—पृष्यते स्वप्रवेशेषु आत्मना विधीयते इत्यथा । ततश्च क्लीयन्मन्यायेन रागादीनां कर्मबन्धहेतुत्वं कर्मजोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित रान, द्वेष मोह, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह जीव कर्मोंका ग्रहण करता है ।

मातृवार्थ—रंग कोरुकर कथन पहले कहा आये हैं । विकल्पादि पाँच प्रमादों और मनोबोग तथा कर्मयोगसे सहित एगादिकके द्वारा जीव कर्मबन्ध करता है । रागादिक और कर्मबन्धका परस्परमें निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध है । एगादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे एगादिक परिणाम होते हैं ।

अर्थ—

कर्ममयं ससार ससारनिमित्तक पुनर्दुःखम् ।

तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकत्वं त्रिपक्षत्वं मनुष्यत्वं देवत्वम् । नारकादिरूपसंसार-कारणं दुःख शारीरं मानसं वा । न हि अनारको नरके दुःखमनुभवति पबमितरत्रापि । तस्मात् रागद्वेषादय पञ्चकर्मबन्धहेतवो नारकादिभवसन्तातो भवपरम्परायाः मूलं वीर्यं प्रतिष्ठेति ॥ ५७ ॥

स्नेहाम्यक्तशरीरस्य रेणुना श्लिष्यते यथा गात्रम् ।
रागद्वेषाक्लिन्नस्य कर्मबन्धो भवत्येवं ॥ ५५ ॥

टीका—सैन्धवादिना स्नेहेनाम्यक्तमपुपो बन्धा एकाकृपाः श्लिष्यन्ति नातिस्मृत्स्वकाम, तथा रागद्वेषपरिणामस्नेहार्द्रस्य ज्ञाभाक्त्वादिबिगणायोग्याः कर्मपुत्रत्वा प्रवेक्ष्येभ्य आत्मनो उगम्यतीत्यर्थः ॥ ५५ ॥

अर्थ—जिस प्रकार जिसके शरीरपर ठेसकी मरिचिस्त्री गई है, उसके शरीरपर बूझिके कम वाक्कर चिपट जाते हैं, वैसे ही एग और हृषसे मीगी हुई आत्माके कर्मबन्ध होता है ।

माहात्म्य—आत्मके योग-परिणामसे कर्म जाते हैं, यह पहले बतका आये हैं । जोर जाने हुए कर्म जोरके राग और द्वेषरूप मात्को निमित्त पाकर आत्मसे सही तरह चिपट जाते हैं, वैसे हृषसे उदक बर जानेवाले बूझ-कम चिपटार्द्रका निमित्त पाकर छीरते चिपट जाते हैं ।

सम्प्रति रागद्वेषप्रधानान् कर्मबन्धेदून् समस्तानेष उपसंहरत्याह—

एग-द्वेष प्रमुखा कर्मबन्धके सभी करजोंको बतकते हुए उपसंहार करते हैं—

एव रागद्वेषौ मोक्षे मिथ्यात्वमविरतिभ्रैव ।

एभि प्रमादयोगानुगै समादीयते कर्म ॥ ५६ ॥

टीका—उक्तद्वयौ रागद्वेषौ । मोक्ष-मोक्षणीयम् । मिथ्यात्वं तत्त्वायाभिज्ञानरुक्षणम् । अविरतिः-अनिवृत्तिः कर्माश्रयेभ्यः । एभि रागादिभिर्विद्वेषाद्विप्रमादपञ्चकसहितैर्मनोवाङ्मयबोगानुगतैः कर्म आसीयते-पृच्छते, स्वप्रवेक्ष्येभ्य आत्मना विधीयते इत्यर्थः । ततश्च शरीरान्मन्वायेन रागादीनां कर्मबन्धेदूत्वं कर्मजोऽपि रागादिपरिणामः ॥ ५६ ॥

अर्थ—इस प्रकार प्रमाद और योगसे सहित एग द्वेष मोक्ष, मिथ्यात्व और अविरतिसे यह तीन कर्मजो प्रहण करता है ।

माहात्म्य—एग औरद्वेष कथन पहले कहा आये हैं । विकृति पाँच प्रमादों और मनोमोह तथा कल्पयोगसे सहित एगादिकके द्वारा तीन कर्मबन्ध करता है । एगादिक और कर्मबन्ध परस्परने निमित्तनेमित्तक सम्बन्ध है । एगादिकसे कर्मबन्ध होता है और कर्मबन्धसे एगादिक परिणाम होते हैं ।

अट—

कर्ममयः संसार संसारनिमित्तक पुनर्दुःखम् ।

तस्माद्रागद्वेषादयस्तु भवसततेर्मूलम् ॥ ५७ ॥

टीका—कर्मविकारो नारकस्य तिथकत्वं मयुष्मत्वं दक्षत्वम् । नारकविकारपसंसार कारणं दुःखं शरीरं मानसं वा । न हि आत्माको नरके दुःखमनुभवति पञ्चमितरमासि । तस्मात् रागद्वेषादक पञ्चकर्मबन्धेदूत्तवो नारकविसवसन्तवो भवपरम्पराया मुक्तं शीघ्रं प्राप्तियेति ॥ ५७ ॥

कार्यं—यह ससार कार्यमय है और ससारके निमित्तसे हुआ होता है। इसलिये एग-द्वेष कौरह संसारकी परम्पराके मूल हैं।

मावाय—यह ससार चार गतिरूप है और चारों गतियों कर्मोंके उदयसे ही होती हैं। गतियोंमें जलसे शारीरिक और मानसिक हुआ होता है। उससे एग-द्वेष होते हैं। एग-द्वेष आदिसे पुन-गति होती है। गतिमें हुआ हुआ होता है, उससे एग-द्वेष होते हैं। इस प्रकार एग-द्वेष कौरह ससारकी जड़ है।

ॐ पुनरस्य एगद्वेषादिजनितस्य संसारणक्रस्य मज्जोपाय ।' इत्याह—

अन एग-द्वेषसे उत्पन्न हुए ससार-अण्डके तोड़नेका उपाय बतलाते हैं :—

एतद्दोषमहासचयजालं शक्यमप्रमत्तेन ।

प्रशमस्यितेन घनमप्युद्वेष्टयितु निरवशेषम् ॥ ५८ ॥

टीका—दोषाणां एगद्वेषादीनां सञ्जनितकमजाञ्च महासचयः—उपचयः । दोष-महासचय एव जालम् । आत्मनिव जालम् । यथा मीनमकरादीनामावायकं जालं जीवनापहारि, तद्वदेतदपि आत्मान्तरेषु सत्वानामनेककुलसंघटावतारणे प्रत्यक्षं जीवितापहारि चेति । तदेतच्छक्यमप्रमत्तेन उद्वेष्टयितुं विनाद्ययितुम् । प्रमादा क्लयापनिद्रादिः तद्वहितेन प्रसम-स्यितेनेति, प्रशमनापितम्लसा प्रशमैकरसेन परं गहनम्, एतत् जालं निरवशेषम् आमुखाहुद्वेष्टयितुमिति ॥ ५८ ॥

कार्यं—जो अग्रमयी है और बेअग्रमें स्थित है, वह इस एगद्वेष दोषोंके महान् सचयरूप बने जाऊँगे पूरी तरहसे नष्ट करनेमें समर्थ है।

मावार्थ—जिस प्रकार मगर मच्छको पकड़नेके लिये बनाया हुआ जाल जीव-घातक होता है, वैसे ही एग-द्वेष कौरह तथा उनसे सञ्चित कर्मोंका यह जाल भी जन्मान्तरोंमें प्राणियोंको अनेक हुआपूर्ण संघटोंमें डकनेवाला है। जो क्लयाप-निद्रा कौरह प्रमादोंसे रहित है तथा विशुद्ध मन वैराग्यके रसमें हुआ हुआ है, वही इस बने कर्म-जालको छिन्न-भिन्न कर सकता है।

अस्य तु मूलनिबन्ध ज्ञात्वा तच्छेदनोद्यमपरस्य ।

दर्शनचारित्रतप स्वाध्यायध्यानयुक्तस्य ॥ ५९ ॥

प्राणवधानृत्तमापणपरधनमैथुनममत्वविरतस्य ।

नवकोटपुत्रमशुद्धोञ्छमात्रयात्राधिकारस्य ॥ ६० ॥

जिनमापितार्थसद्भावभाविनो विदितलोकतत्त्वस्य ।

अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारणे कृतप्रतिज्ञस्य ॥ ६१ ॥

परिणामपूर्वमुपागतस्य शुभभावनाध्यवसितस्य ।
 अन्योऽन्यमुत्तरोत्तरविशेषमभिपश्यत समये ॥ ६२ ॥
 वैराग्यमार्गसंस्थितस्य ससारवासचकितस्य ।
 स्वहितार्याभिरतमते शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता ॥ ६३ ॥

टीका—पञ्चमिः कारिकाभिः कुडकुम् । अस्य महादोषसङ्घटनस्य मूढनिबन्धं
 मांशं कारणं विज्ञाय । तच्छेदने उद्यमः—उत्साहः परो यस्य मर्यतमहाबाहं छेतम्यम् । इक्षानं
 तत्कार्यभ्रदानसप्तमम् । आरिषः सामायिकादि । तपोदादृशमेवमनशानादि । स्वाध्यायः
 पञ्चमकारो वाचमापुष्पनादि । स्यान्नेकाग्रचित्तानिरोपकक्षणं धर्म्य मुहुर्त्तं च । धनादनपेर्षं
 धर्म्यम् आह्लापावविपाकसंस्थानविषयमेवाह्वतुर्बिषम् । सुहृदमप्यत्यन्तविमुदास्यत्यप्युप
 क्तैश्चैववितर्कमुक्तक्रियाप्रतिपातिभ्युपरत्क्रियाकक्षणं चतुदा । यमिः सन्मग्दृशानिपरिवा-
 मीर्षुकस्य ॥ ५९ ॥ तथा—

ध्रमत्तयोगात् प्राक्कल्पपरोपणं प्राणवचः । अनृतभाषणं सद्भूतनिश्चयः नास्त्यात्मा
 इति भक्तदूतोद्गाहनं सवगत आत्मा' इति विपरीतकटुकसावद्याविषयनं च । मामर्थं
 भाषमावस्व विपरीतम् । कटुकं पश्यमाहोसादि । सावद्यवचनम् अनेन मार्गेण मृगपशुवृ-
 गतम् इति तुम्भक्यावाचये । चौपबुद्धया परस्वमात्मसात्करोति परधमहरणम् । मैसुनं इयो-
 र्योगः सञ्चितबो सञ्चितचित्तयोर्वा । मिथुनस्य मासो मैथुनं श्रीपुनर्पुंसकपेदोद्वादासेकनम् ।
 ममत्वकक्षयः परिग्रहः ममेर्षं स्वम्' अहमस्य स्वामी इति । मूढा परिग्रहः (तत्त्वायच्छ १२
 सू अ ७) इति वचनात् । पन्थाः प्राणिव्यादिस्यो विरक्तस्य । निशिमीबर्नं तु परिग्रहकक्षये-
 मात्सात्त्वानकक्षयेनचान्तमाचितम् । एवं मूढगुणानभिषाय उत्तरगुणानभिहितसुग्रह—

कोटि—भंसम् यथा फट्कोटिस्तम्भः पञ्चभिः पर्वण इत्यर्थः । न स्वयं
 इन्द्रि, नाम्बेन धैतयति, जन्तमन्धं नालुमेवते, एतास्तिरुः कोटयः । तथा न स्वयं पञ्चति
 न पाचयति, पच्यमानं नालुमेवते, इत्येता अपि तिरुः कोटयः । तथा न स्वयं क्रीपाति,
 न ह्यपयति, क्रीपानमप्यमपि नालुमेवते इत्येताश्चास्यास्तिरुः । एकत्र समाहृता नव कोटयः
 पुनरिमा द्विधा भिद्यन्ते—अविमुदकोटयो विमुदकोटयश्च । आद्याः पर्वकिमुदकोटयः पाद्यास्या-
 स्तिरुः भवन्ति विमुदकोटयः । उग्रम्—अन्वेषणम् अथा उग्रम् सेध पुच्छिञ्जा इत्यादि ।
 तेन सुदुमुद्रमुद्रश्च । उग्रमिष उग्रम् सुनेकैरपतितमीक्षिकानुबन्धनमुच्छं न कस्यापिद
 कृपीकक्षादे पीडाकारि । तथा अहृताकारितासंक्रुपिताननुमतमिसुदं कल्पनीयमाशीयमानं

१—२५ टुक्कलेकनविठर्कं विचारस्तम्—पु । —एतदुक्कलेकनविठर्कं विचारं कृत्वा—क व ।

२ वान्तमभितम्—मु । ३ इति—मु । ४ नमिन्द्रकोटिः—मु । ५ विग्रहकोटिः—मु । ६ पर्वणिक
 कोटिः—मु । ७ विग्रहकोटिः—मु । ८ विरुः—मु ।

न कंचन सत्त्वमपहन्ति । उच्छम्भे उच्छम्भाम् तेन तादृशा याभायामभिकारो यस्य स उच्छम्भानयाभाभिकारः । याभा तु महोरात्राम्यन्तरे विदितक्रियलुष्टानम्, तत्राधिकृतस्य नियुक्तस्य' इत्ययः ॥ १० ॥

विनैर्मापितोऽय उत्यादम्यमभौम्ययुक्ते जीवादिः सप्तविधः । स गणघरे सूत्रेण सूचितः । तस्यार्थस्यसद्भावं भावयति तच्छ्रीलस्ये । एवमेतत्- तद्यथा भगवद्विरुक्तं गणघरे इत्र तथैवायम्, नाम्यया इति विनभापितायसद्भावमाभिः । विदितम्-भयगतं लोकतत्त्व येनासौ विदितलोकेतत्त्वः । जीवाजीवाधारक्षेमं जाक, तस्य तत्त्व परमायः—नास्त्यत्र बाढाप्र-प्रमाणोऽपि प्रवेशो यत्र प्रसत्त्वेन स्वावरत्नेन वा नोत्पन्नो मृतो वा यथासमयम् । मयवा भनोमुत्तमलुकाकृतिः, मध्ये स्वाढाकार उपरि मल्लकसमुद्गाकारो नारकतियग्मानुप देवाभिवासो बन्धनरामरणोपद्रवबहुलः । अष्टादशाङ्गशीलाङ्गसहस्रधारस्ये कृतप्रतिद्वस्य-अष्टादशाशीलाङ्ग-सहस्राणि उपरि कस्यमाणानि भर्माङ्गम्यादीन्म्रिय इत्यस्यां कारिकायाम् । अष्टादशाशीलाङ्ग-सहस्राणि पारयितव्यानि यावन्वीचं मया इति आकृतप्रतिद्वस्य ॥ ११ ॥

विशुद्धिप्रकृत्ययोगादपूक परिणाम उच्यते मनसः, तमनुप्राप्तस्य । शुभभावनाध्यवसि-तस्य । अध्यवसितमध्यवसायाः । शुभभावना-पञ्चानां महत्त्वानां पञ्चविंशतिभावनाः परि पठिताः, अमित्यत्वादिना वा कस्यमाणा द्वादश भावनाः, तदध्यवसायस्य । समये-सिद्धान्ते । अम्योन्यम्-परस्परम् । 'इयोर्विशेषयोरयमुत्तरः प्रथमम् अमुम्भादध्ययं विशेषः प्रथमतः' इत्यादिविशेषमतिशय पश्यतो साकनामयेन ज्ञानेनेति ॥ १२ ॥

वैराग्यपथप्रस्थितस्य । सम्यग्दर्शनादित्रय वैराग्यमागः । संसारवासवकितस्य मस्तस्य इत्यर्थः । स्वहितम्-ऐकान्तिकादिगुणयुक्त मुक्तिसुखम्, तथैवायः । स्वहितार्थं आभिमुख्येन एता वदा प्रीतिर्मतिर्यस्य तस्यैकप्रकारस्य शुभेयमुत्पद्यते चिन्ता । इयम् इति कस्यमाणा, निबन्धोद्भवत्वात् शुभा जायते चिन्ता । अत्र कुण्डकपरिसमाप्तिः ॥ १३ ॥

अयं-इस दोष-जाकके मूक कारणको जानकर जो उसके छे-नेमें पुक है, सम्यग्दर्शन, सम्यक्चारित्र, तप स्वाध्याय और ध्यानसे पुक है, हिंसा, झूठ, चोरी मेषुन और ममकसे निरुक्त है, नवकोष्टि और उन्नमसे दुःख बन्स अज्ञान मात्रसे अपना निर्वाह करता है, विनभगवानक द्वारा कोइ गये जीवादि तर्षकोके अस्तित्वको मानता है, कोकके स्वरूपको जानता है, शीकके अद्वारह इवार मरौक्य पाकन करनेकी प्रतिज्ञा से युक्त है, अर्ध परिणामभावा है, शुभ भावनाजोमें निश्चय है, जानकके निषय-में परस्परमें जो उचरोत्तर विशेषता है, उसे जानता है, वैराग्यके मार्गमें स्थित है, संसारके निवाससे मयमीत है, और अपने दित-मोक्षमें कबडन है, उछीकोे भागे कही गई शुभ चिन्ता उत्पन्न होती है ।

साधार्यं-पहली कारिकामें जो दोषोंका जाक कतजाया गया है, उसके मूक कारणको जानकर जो उसके छेदनेमें उसाह करता है कि मुझे यह महाजाक छिन्न-भिन्न करना चाहिए' तथा जिसमें क्पर कही अन्य बातें पाई जाती हैं, उसके ही जाने कही गई शुभ चिन्ता उत्पन्न होती है ।

१ तच्छ्रीलस्य-मु । २ अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणि-मु । ३ अष्टम-मु० ।
४ मनस-मु० । ५ अमित्यत्वादिना कस्य-मु० ।

तत्पार्श्वक्य भ्रमाल करनेको सम्पददर्शन करते हैं। सामयिक बीरुहको धारित्र करते हैं। उसके अनन्तम बीरुह बाह्य भेद हैं। स्वाप्यायको बाधना पृच्छना बीरुह पौष भेद हैं। किसी वस्तुमें मूलके एकम करनेको ध्याल करते हैं। भर्ष्य बीरुह द्रुह द्रुम ध्याल हैं। भर्ष्यविषयक एकाम विन्तमकसे भर्ष्यध्याल करते हैं। उसके चार भेद हैं—अज्ञानविषय, अपापविषय, विपापविषय और सुखानविषय। अज्ञानविषय परिणामी धीमके द्रुहध्याल होता है। उसके चार भेद हैं—पृच्छत्ववितर्क, एकत्ववितर्क, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और न्युपरतक्रियानिर्मुक्ति।

प्रमादके पोगसे किसीक बात करनेको बिसा करते है। असत्यवचन अनेक प्रकारका होता है—१ असत्ये असत् कहना जैसे, अज्ञाना नहीं है। २ असत्यके सत्य कहना जैसे—अज्ञाना ध्यापक है। ३ विपरीत वचन, जैसे, नामको मोहा कहना। ४ कहुने वचन बोलना। ५ साधक वचन—इस माममें शिरलोक्य द्रुह्य गया है, ऐसा शिकारीको बतला देना। बिसाके कारण होनेसे कतुक साधक वचन भी असत्य ही होते जाते हैं। पुण्यमेकी बुद्धिसे परके धनको हरना चोरी है। जीवेद, पुणेद और मनुसक-वेदके उदयसे एमन करनेको मेयुन करते हैं। 'पह मेरी वस्तु है,' मैं इसका स्वामी हूँ' इस तरह के मन्त्रको परिग्रह करते हैं; क्योंकि तत्पार्श्वसूत्रमें मन्त्रको ही परिग्रह कहा है। परिग्रह अथवा चोरीके कथनमें रात्रिमोहनका अन्तर्भाव कर लिया गया है। क्योंकि रात्रिमोहन अति कलकसात सूचक है। इस प्रकार मूढगुणोंको अज्ञान उच्छरणोंको करते हैं—

न स्वर्ग मारता है, न दूसरेसे मारता है और न दूसरेको मारता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये तीन कोटियाँ हैं। तथा, न स्वर्ग पकता है, न दूसरेसे पकता है और न किसीको पकता हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये भी तीन कोटियाँ हैं। तथा न स्वयं खरीदता है, न दूसरेसे खरीदता है और न दूसरेको खरीदते हुए देखकर उसकी अनुमोदना करता है। ये भी तीन कोटियाँ हैं। इस प्रकार सिक्कर ये भी कोटियाँ होती हैं। ये दो प्रकारकी होती हैं—एक अनिष्टक कोटि और दूसरी निष्टक कोटि। आदिकी छह कोटियाँ अनिष्टक कोटियाँ हैं और अन्तकी तीन निष्टक कोटियाँ हैं।

आहारके खोबनेको उन्नन करते हैं। जो आहार उससे छुड़ा होता है वह उन्नमसुद्ध है। छोटे गये अन्तमें पच हुए शल्पके कर्मोंके पुण्यके उन्नन करते हैं। जिस प्रकार उन्नन किसी किसीक बीरुहको कष्टदायक नहीं होता, जैसे ही जो आहार न स्वर्ग बनाया गया है, न गूढोक्तके उन्ननसे बनाया गया है और न उससे उसमें अनुमति ही है, उस आहारको केनसे किसी प्रार्थनके धातक्य मन नहीं रहता। इस प्रकारके आहारसे धीमन-यात्रा करनेमें जिसका अनिष्टक है, अर्थात् जिनमनवान्ने उदात्त ध्यय और प्रौढ्यसे पुण्य जीवन्ति सात पदात्मिक कथन किया है। और गणधरदेवने उन पदात्मिकोंके हारसंगकथनमें संक्षिप्त किया है। वेसा मन्त्रान्ने कहा है और गणधरोंने अनभारण किया है— जीवन्ति सात तत्त्व भेदे ही हैं, अन्यथा नहीं हैं' इस प्रकारसे जो उन्नन सज्जन मानता है।

ज्योपर जीव और अजीव इत्य रहते हैं, उसे अनेक करते हैं। उसके तत्त्वको अर्थात् इस अनेकमें बाक्यी मोचने कारण भी ऐसा कोई स्थान नहीं है, जहाँ प्रस और त्यागकथसे पद जीव

उत्पन्न इत्या और मग न हो। अपना नीचा मुस किये हुए मङ्गलक आकार ज्योडोक है। पाकीके आकार मय्यजोक है। ऊपर मुस किये हुए मङ्गलके आकार ऊर्ध्वजोक है। इस जोकमें नाक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव बसते हैं, तथा जन्म, मरण, पुत्राया आदि उपद्रवोंसे यह ब्याप्त है। जोकके इस तत्त्वको जो जानता है। धीरुके बहुतरह हजार भेदोंको भाग करेंगे। जिसने उनक प्राण करनेकी प्रतिज्ञा की है। धृष्टिका प्रकर्ष होनेसे जिसके परिणाम अर्थात् हैं। पाँच महाज्योडोकी पचीस माननाएँ बतलाई गई हैं। अपना भागे अनित्यत्व आदि तरह माननाबोका कथन करेंगे। उन माननाबोका जो चिन्तन करता रहता है। तथा ध्यानमें वर्णित अमुक बात प्रधान है और अमुक बात उससे भी प्रधान है, इत्यादि विशेषको जो जानता है। सम्प्रदशन सम्प्रधान और सम्प्रचारित्रूप वैराग्यके मार्गमें स्थित है। संसारमें रहनेसे करता है। अपने जित—मोक्ष—मुक्तमें ही जो मुक्ततासे प्रीति करता है, उसके ही भागे कही जानेवाली छुम चिन्ता होती है। निरन्तरक कारण होनेसे इस चिन्ताको छुम कहा है।

तामेष चिन्तां स्पष्टयन्माह—

उसी चिन्ताके स्पष्ट करते हैं —

भवकोटीमिरसुलभ मानुष्यं प्राप्य क प्रमादो मे ।

न च गतमायुर्मूय प्रत्येत्यपि देवराजस्य ॥ ६४ ॥

टीका—कोटिसम्ब संख्यावाची। च न अनन्तसंख्यायाः सूचकः। महा मारकतिपरवेषाक्षया, तेषां बह्विभि कोटिभिः अनन्तामिच्छीतामिरपि न सुखं बुद्धमेव, मनुष्यस्य भाषो मानुष्यम्, मनुष्यजन्म इत्ययम्। तदेवैविधमतिकुभाप प्राप्य कोऽथ मम प्रमादोऽवबुध्यमानस्यैव मनुष्याणाम्। प्रमादो ज्ञानाधिपु मुक्तिसाधनेषु। कदाचिद्विदमाणोऽहं मम मनुष्यत्वमेवास्तु सर्वदा सुन्दरमधीणम् इति। तच्च न यतः न च गतमायु इत्यादि। प्रतिक्रममुद्यमप्राप्तं वेद्यमालमनुभूयते, मनुष्यत्वात् परिगच्छति। न च क्षीण पुनराकर्तते सीमन्ताधिपतेरपि शक्यस्य न प्रत्यागच्छति किं पुनरनस्येति ॥ ६४ ॥

अर्थ—ज्योडो मयोमें बुद्धम मनुष्य पर्यायको प्राप्त करके मुझे यह प्रमाद क्यों! देखता हम्ब की भी कीटी हुई आयु पुनः बोटकर नहीं जाती।

भावार्थ—यहाँ कोटि सम्ब संख्याका सूचक है। और यह अनन्तक सूचक है। अर्थात् अनन्त मग बीटनेपर भी मनुष्यक मग सिद्धना कहा ही बुद्धम है। इस प्रकारके बुद्धम मनुष्य-जन्मको प्राप्त मोक्षक साधन ज्ञान बौरहमें मुझे प्रमाद नहीं करना चाहिए। शायद कहीं यह सोचे कि मनुष्य-पर्याय सर्वदा बनी रहेगी किन्तु एसा सोचना ठीक नहीं है। क्योंकि प्रतिक्रमय उद्यममें जानेवाली आयु अपना फल देकर क्षीण होती जाती है, और क्षीण हुई आयु तो सीमन्तवर्गके इन्द्रकी भी बीटकर नहीं जाती—मनुष्य की तो बात ही क्या है।

न च निवृद्धं मनुष्यजन्म यस्मात्—
 और मनुष्य-जन्म निर्द्वन्द्वं भी नहीं है; क्योंकि—

आरोग्यायुर्वलसमुदयाभ्रला वीर्यमनियत धर्मे ।

तल्लब्धा हितकार्ये मयोद्यम सर्वया कार्य ॥ ६५ ॥

टीका—नीरुद्धत्वमारोग्यम् तल्लब्धम् अनित्यम् इत्यर्थः। नीरुद्धोऽपि रोगान् उमन्ते सनत्कृमागदिवन् । आयुर्पि सुकृद्विन्वापया नात् प्रभृति गमकीमारपीकनस्यविदास्त्वाम्नु प्रतिक्षणं क्षयेयुक्तम् अभ्यक्तानाद्विमिथ प्रक्यटैः सप्तभिर्भेदमुपैति । बलं प्राप्त् । उस्ताहो वीर्यान्तरायस्योपसम्पत्तः सामभ्यविशेषः । स च बलवतो ह्यट्, पुनस्तस्वीष दुर्बलावस्त्वानां न सम्बतीति अनित्य एव । समुद्रयो इति जनघान्पादिनिश्चयाः क्षणमङ्गुणः । वीर्यञ्च उस्ताहः । परीपह्वयवादी तद्वनियत विनश्वरम् । धर्मे क्षान्त्पादिके तल्लब्धा-प्राप्य हितकार्ये—हितं ज्ञानादि, तदेव क्षर्वम्, तैम । मया उस्ताहः सवया सवेप्रकारमविभ्रान्त्या क्षर्व इति ॥ ६५ ॥

अर्थ—आरोग्य, आयु, बल और कर्मा ये सभी बलक हैं । धर्मे उस्ताह्वरी सिद्धता नहीं है । इन्हें प्राप्त करके मुझे सब प्रकारसे हितकारी कर्मों प्रयत्न करना चाहिए ।

भावार्थ—नीरोगता सर्वदा नहीं रहती । नीरोग मनुष्य भी सनत्कृमाग बलवन्ती की तरह पेशी हो जाते हैं । आयु भी गर्म राक बनानी और युक्तयमें प्रविश्य नष्ट होती रहती है । वीर्यवृत्तपके क्षयोपशमसे होनेवाला बल भी कल्पान्तमें ही देखा जाता है । वही जब दुर्बल हो जाता है, तब बल नहीं रहता । अतः बल भी अनित्य है । धर्म-बान्धव चादि कर्मा भी क्षणमङ्गुल है । परीपह्वके जीतने कनेछमें मनुष्यच जो उस्ताह रहता है, वह भी सर्वदा नहीं रहता । अतः इन्हें प्राप्त करके ज्ञानान्पास वीर्य कर्माओं में मुझे सब प्रकारसे प्रयत्न करना चाहिए ।

किं पुनस्तद्वितम् ? इत्याह—

हित क्या है ? यह बतलाते हैं —

शास्त्रागमादृते न हितमस्ति न च शास्त्रमस्ति विनयभृते ।

तस्मान्छास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यम् ॥ ६६ ॥

टीका—शास्त्रकक्षयमुपरिष्ठाद् कस्यते शास्त्रि इत्याहो । शासनात्-उपदेशज्ञानात् प्राचाञ्च शास्त्रम् । मगवतो मुक्तपञ्चदशवर्षनिर्गमः, गणपरात्यकमच्छेन्वा सुपनिर्गमः । उभय ईदत्वं शास्त्रसम्बन्धायम् । शास्त्रमशागमः शास्त्रागमः गणपराभृत्याचार्यपरम्परया आगत इति भागमः । शास्त्रागमादृते शास्त्रागमाद्विना नापरं हितमस्ति । न च शास्त्रकामो भक्त्ये-विनीतस्व भावापादिमुधूपया विनीतेन शास्त्र प्राप्नते । तस्मान्छास्त्रागमज्ञानमिच्छता शास्त्रागमलिप्सुना विनीतेन भवितव्यमिति ॥ ६६ ॥

(६६-विष्णु-सु. । २ ब्रह्मसंहिता-सु. । ३ ब्रह्मसंहिता इति वन-सु. । ४ तप सु. मदी मस्ति । ५-ब्रह्मसंहिता सु.)

अर्थ—शास्त्रके ज्ञानके बिना हित नहीं हो सकता, और विनयके बिना शास्त्रका ज्ञान नहीं हो सकता । इसलिये जो शास्त्रक ज्ञानका इच्छुक हो उसे विनयी होना चाहिए ।

भाषाय—शास्त्रका मुख्य भाग कहेंगे । जो सम्प्रदायका उपदेश देता है और दुर्गतिसे बचाता है वह शास्त्र है । भगवान्क मुख-कमण्डसे निकला हुआ जल अर्थात् और गणभदेवके मुख-कमण्डसे निकले हुए सूत्र-ये दोनों ही शास्त्र शब्दसे कहे जाते हैं । शास्त्रको ही ज्ञान कहते हैं। क्योंकि गणभर बनेछे, वाचार्य-परम्परासे यह जाता है । शास्त्रागमके बिना कोई हित नहीं हो सकता, और शास्त्रका ज्ञान विनयके बिना नहीं हो सकता । आचार्य आदि की सेवासे ही विनयीको शास्त्रकी प्राप्ति होती है । इसलिये जो शास्त्रागमका ज्ञान चाहता है, उसे विनयी होना चाहिए ।

सत्स्वपि भनेकेषु गुणेषु पुंसां विनय एव भूपय परम् नाम्ब्यरूपसीमाग्यादीनि ।
इति व्दापञ्चाह—

अनेक गुणोंके होनेपर भी पुरुषोंका विनय ही प्रधान भूपय है । बंध, रूप सौभाग्य वगैरह भूपय नहीं हैं, यही बतलाते हैं—

कुलरूपवचनयोवनधनमित्रैश्वर्यसम्पदपि पुताम् ।

विनयप्रशमविहीना न शोभते निर्जलेव नदी ॥ ६७ ॥

टीका—विशिष्टाश्रय कुल क्षमिपादि । रूप शरीरानयनानां लक्षणाश्रितः सन्निवेश-
विशेषः । वचन मयुर प्रियमापित्वकाम्मिवादि । यौवन यूना भावः । युनाम मन्त्ररूपोऽपि
शोभते शायो यौवनगुणादेश । धन हिरण्यसुवणमणिमुक्ताप्रवालदिगोमहिष्यजाविकादिवा । मित्र
स्नेहानाम् पुत्र्यो विश्वम्मरुपानम् । ऐश्वर्यमीश्वरस्य भावः प्रभुत्वम् । सम्पच्छब्दः
प्रत्येकमनिसम्बन्धनीया—कुलसम्पद् रूपसम्पद् इत्यादि । सम्पत् प्रकृतिविशेषः ।
एषाऽपि कुलादिसम्पद् न भ्राजते पुरुषाणां विनयप्रशमविहीनत्वान् । विनयः अभ्युत्थानासन-
प्रदानादतिप्रवृत्तादिरुपचाराकम् । प्रशमो भाष्यस्वप्नमोदासीम्यम् । आर्भ्यां रहिता न शोभते
निर्जलेव नदी । यथा सरित्तलभूम्या ईससारसकृत्प्रवृत्ताकफुल्लपासेम्यमाना न भ्राजते
अतिशीघ्रगतमाममरुनीपमुदेवकमेव भवताति । एवं विनयरहितः पुमानिति ॥ ६७ ॥

अर्थ—पुरुषोंकी कुल रूप वचन, यौवन धन मित्र और ऐश्वर्य सम्पदा भी विनय और
वैतन्यसे छिन्न हो तो निर्जल नदीकी तरह शोभित नहीं होती ।

भाषाय—अश्रित काण्ड विशिष्ट वस्तुओंको बुझ कहते हैं । शरीरक बल-उपायोंकी श्रम लक्षण
सहित रचना-विशेषको रूप कहते हैं । मीमं, प्यार मोचना वचन कहलाता है । यौवन जगन्तीको कहते

है। जवान आदमी, सुरूप न होनेपर भी जवानोंके कारण प्रायः सुरूप क्यता है। चौंदा, सोना, मणि, मुक्ता, मूँगा कौरह तथा गाय, बैस, बगीचे आदि ज्ये धन कहते हैं। स्नेही और विवासी पुरुष मित्र कहलाता है। मणिकीको एकर्य कहते हैं। सम्पदा सम्पत्त सम्पत्त हरकके साथ क्याना आदि। बैस कुञ्जसम्पदा, रूपसम्पदा कौरह। उठना, बैठनेके लिए वासन देना हाथ जोड़ना, कौरह विनय कहलाती है। भाष्यरत्न—उदासीनताको प्रसन्न कहते हैं। जिस प्रसन्न इस सरस, चक्रवा कौरहकं छुणहोते विठी हुई भी मदी यदि निरक हो तो सुन्दर नहीं बनती, केवल एक क्यमा मझासा दिखलाई पड़नेके कारण मयानक बनती है, बैस ही लम्प सम्पदाओंसे मर-भूत होनेपर भी मनुष्य यदि विनयी न हो तो वह सुरूप नहीं क्यता।

न तथा सुमहाप्यैरपि वस्त्रामणैरलङ्कृतो भाति ।

श्रुतशीलमूलनिकपो विनीतविनयो यथा भाति ॥ ६८ ॥

टीका—न तथा सोमते सुमहाप्यैरवस्त्रामणभूषितः पुरुषः यथा श्रुतं शीघ्रभूषितः। श्रुतमागमः शीघ्रं भूषोत्तरगुणमेव परणम् तयोर्निकपः परीक्षास्थानम्। यदि विनीतस्त तस्तस्य तच्छ्रुतम् यदि च विनीतस्ततः शीघ्रम्। अन्यथा मूर्खो दुःशील एव च स्यात्। सुवचन-परीक्षा पाषाणकं निकपः इति प्रतीतम्। तद्वत् श्रुतशीलपरीक्षाविनयनिकपे कर्तव्ये विशेषण मीतः प्रापितो विनयो येनासी विनीतविनयः इति ॥ ६८ ॥

अर्थ—अल्पत बहुमूल्य वस्त्र और आभूषणोंसे भूषित मनुष्य भी बैसा सुरूप नहीं क्यता, जैसा धुन और शीघ्रकी मूक कसौटीरूप विनयी मनुष्य सुरूप क्यता है।

भाषा—धुन साधको कहते हैं और शीघ्र आचारको कहते हैं। यदि मनुष्य विनीत है, तो उसका धुन धुन है और शीघ्र शीघ्र है। अन्यथा उसे मूर्ख और दुःशील ही समझना चाहिए। जो धुन और शीघ्र-क, परीक्षा करनेके लिए कसौटीके समान है, तथा विनयसे भूषित, वह सबसे सुरूप है।

अपि च—

और भी—

गुवायत्ता यस्माच्छास्त्रारम्भा भवन्ति सर्वेऽपि ।

तस्मात् गुर्वाराधनपरेण हितकांक्षिणा भाव्यम् ॥ ६९ ॥

टीका—गुणन्ति प्रतिपादयन्ति शास्त्राभिमिति गुरक। तदायत्ता शास्त्रारम्भक। सृष्ट-पाठप्रवृत्तिरप्रथमप्रवृत्तिश्च गुवायत्ताः कान्तप्रवृत्तिसाध्यायप्रवृत्तयश्चसमुद्रसातुषापरिकृतः शास्त्रारम्भाः सर्वेऽपि इत्युच्यन्ते। तस्मात् गुर्वाराधनपरेण इति। गुपरातायनम्—

‘अहमिदं पादसेवा, सम्यक् क्रियानुष्ठानम् नृबलमलुक्कटाकनम् इण्डकप्रहणम्, तत्प्रवृत्ता गमनं भिषिधारम् तद्विमिहितानुष्ठानम् इत्याद्यापनम्—अभिसुखीकरणम् । तत्परेष्यति । तदुपयुक्तेन भवित्तम्यमिति ॥ ६९ ॥

अर्थ—एक शास्त्रक सभी आरम गुरुके आधीन हैं, अतः जो अपना हित चाहता है, उसे गुरुकी सेवामें ऊपर होना चाहिए ।

भाषा—जो शास्त्रके अर्थका कथन करते हैं, उन्हें गुरु कहते हैं । सुत्रोंके पढ़ने और उनके वचनों सुननेमें प्रवृत्त होना, कलम-महल, स्वाध्याय आदि शास्त्रके आरम्भ कहे जाते हैं । ये सभी आरम गुरुकी कृपापर निर्भर हैं । अतः रात-दिन गुरुकी पाद-सेवाके लिए तैयार रहना चाहिए । जैसा वे कहें, वैसा करना चाहिए । उनके उपकरण बगैर रखने उठनेमें ऊपर रहना चाहिए ।

गुरी चोपदिशति ‘पुण्यवानहमिति य एषमनुग्राहो गुरुणाम् बहुमन्तम्य एष न विद्ययाः

अब यह बतलाते हैं कि जब गुरु उपदेश देते हों तो उस समय ऐसा निश्चय कि मैं बड़ा पुण्यवान् हूँ जो मुझपर गुरुका इतना अनुग्रह है।—ऐसा विचारना चाहिए

धन्यस्योपरि निपतत्यहितसमाचरणधर्मनिर्वापी ।

गुरुवदनमलयनिसृतो वचनसरसचन्दनस्पर्शः ॥ ७० ॥

टीका—धनं ज्ञानादि तद्वन्मा धन्याः पुण्यवान् । तस्योपरि निपतति ‘वचनसरस चन्दनस्पर्श’ इति वक्ष्यति श्रीहरिसावधनसरस चन्दनस्पर्शः ? अहितसमाचरणधर्म-निर्वापी । अहितम्—असुखम् समाचरणम्—क्रियानुष्ठानम् अहितसमाचरणमेव धर्मा—ताप-विशेष, त निषादयति—अपनयति निरस्पति तच्छरीरभेति । गुरुवदनमलयनिसृतः इति । गुणो—भाषार्थदेवद्वन्द्वं मुक्तम् तदेव मलयपर्वतः, तस्माच्चिसृतो निगता । वचनमेव सरस चन्दनं स्नेहोपवृद्धितहितोपदेशागमम् तदेव चन्दनम्, तस्य स्पर्शः शीतो धमापनयनसमयः । मलये तु सरसं चन्दनमाद्रमभिनवाच्छिष्टम् तस्य स्पर्शो धमापनकारी भवति सुतराम् । अथवा रसचन्दनस्पर्शः रसो द्रवता चन्दनपङ्कः सपानीया इत्यप्य ॥ ७० ॥

अर्थ—शास्त्र विद्वद् आचरणकारी तापको दूर करनेवाला गुरु महाराजके मुखरूप मलय पर्वतके समानवत् वचनकारी सरस चन्दनका स्पर्श विरहे ही पुण्यवान्को प्राप्त होता है ।

भाषा—जिस प्रकार सरस चन्दनको छाननेसे जीवकी दाह मिट जाती है, वैसे ही गुरु महाराजके स्नेह युक्त हितकारी वचनोंको सुनकर मय्यजनोंका अहितकारी स्ताप मिट जाता है । गुरु महाराजका उपदेश सुनकर वे शास्त्र विद्वद् आचरणको जोकर शास्त्रविहित आचरण करने लगते हैं । गुरुकी यह अनुकम्पा विरल ही पुण्यशाली जीवोंको प्राप्त होती है । रसचन्दनस्पर्शः ऐसा भी पाठ है ।

एवं च द्वितोपदेशोऽनुगृह्यतां शिष्यान् भाचार्यस्य कः प्रत्युपकारः शिष्येण विनयाः' इत्याह—
 इत्यप्रकारेण द्वितोपदेशः कृतः शिष्योऽप्युपकारं करनेवाले भाचार्यका शिष्यको जो
 प्रत्युपकार करता चाहे, वह करताते है —

दुष्प्रतिकारो मातापितरौ स्वामी गुरुश्च लोकेऽस्मिन् ।

तत्र गुरुर्द्विद्वामुत्र च सुदुष्कतरप्रतीकारः ॥ ७१ ॥

टीका—गुरुश्राव्या प्रतीकारो दुष्कर इति वा दुष्प्रतीकारः । मातापितरौ तावद् दुष्प्रती-
 कारी । माता तु मातृमात्रस्यैवाभ्यासज्ञानान्तरनक्षीप्यानमूमाद्युपिशासनादिनोपकारेण द्विद्वामु-
 नपति, कल्पेवर्ताद्याहाराप्रदानेनोपकारवती अहहपूर्वस्था कुतोपकारस्य वाऽपत्यस्य दुष्प्रतीकारः ।
 नहि तस्या प्रत्युपकारः शक्यते कर्म । पिताऽपि द्वितोपदेशद्वारेण शिक्षाप्राप्तयेन मन्त्रपरिधान-
 प्राकरणादिनोपकरणेन अनुगृह्यतां दुष्प्रतीकारः । स्वामी राजादिसूत्यानां ब्रह्मज्ञानाकारादिना
 कृत्वा मन्त्रप्रत्युपकारकः मृत्यास्तु न तथा प्रत्युपकारसमर्थाय प्राणव्ययमहार्थां यद्यपि भियमानयन्ति
 स्वामिनो मृत्यास्तथापि पूर्वमकुतोपकारत्वात्मेव मृत्यानामुपकारकः स्वामी, मृत्यास्तु कुतोपकारः
 प्रत्युपकर्तव्यः । गुरु—भाचार्यदिः । स च दुष्प्रतिकारः सम्भारगोपदेशादित्यात्, शत्रु-
 प्रदानात्, संसारसागरोत्सारणहेतुत्वात् । इदामुत्र च—इहलोकं सुदुर्लभतः प्रतीकारो यस्य गुरो-
 रिति तु दुर्लभतः प्रतीकार इति ॥ ७१ ॥

अर्थ—इस लोके में माता पिता स्वामी और गुरुका प्रत्युपकार करना बड़ा कठिन है । उसमें
 गुरुका प्रत्युपकार तो इस लोके में भी असंभव दुष्कर है, और परलोकमें भी असंभव कठिन है ।

मातापितरौ—माता-पिताका प्रत्युपकार बड़ा दुष्कर है । माता तो बच्चे के रूप में ही तेजस्वी
 व्यक्ति बनना ही पिकला, मूत्र और हृत्पित्तकी पीना चाहे उपकारके इत्या उक्तका पाठन-योग
 करती है । जिस बच्चेको पहले उसने कभी देखा भी नहीं था और जिसने उसका कोई उपकार भी
 नहीं किया है, उसे वह रूप पिकला और आरोग्यवर्कक बाहर देकर उसका उपकार करती है ।
 अतः माताके उपकारका करना सुकला बड़ा कठिन है । पिता भी द्वितोपदेशके उपदेश देता है । पञ्चम-
 शिष्याह है, मोचन-का शीघ्रसे बन्धन-पाठन करता है । अतः उसके उपकारका करना सुकला भी कठिन
 है । स्वामी राजा ब्रह्म-ब्रह्म देकर सेकरीका उपकार करते हैं । सेकरी उस उपकारका करना नहीं
 सुकला संभव । यद्यपि सेकरी अपने प्राण देकर स्वामीकी कर्मकीको बचाता है, तथापि स्वामी पहले-
 पहले कोई उपकार किने किना ही सेकरीका उपकार करते हैं, किन्तु सेकरी स्वामीका उपकार पाकर
 ही उसका उपकार करते हैं । अतः उनका उपकारका करना सुकला भी कठिन है । किन्तु गुरु ही
 सम्पूर्णका उपदेश देते हैं, शार्ङ्गका अर्थ बताते हैं और संघत-सागुरसे पर ब्रह्मते हैं । अतः
 उनके उपकारका करना सुकला तो न इस जन्ममें ही संभव है और न अगले जन्म में ही संभव है ।

सम्प्रति विनयस्य पारम्पर्येण पयन्तवर्ति मोक्षात्म्यं फलं वक्ष्यामि—
 वयं यद् वक्तव्यं है किं परम्परासु विनयकस्य फलं मोक्षं है —

विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुतज्ञानम् ।

ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतित्फलं चाश्रवनिरोधः ॥ ७२ ॥

टीका—विनयस्य फलं शुश्रूषा—श्रोत्रुमिच्छा । यदावाय उपदिशति तत्र सम्पत्क
 शुश्रूषते श्रुत्वा च अनुतिष्ठति । गुरोः सकृदात्माकल्प्यं किं फलमिहावाप्यते ? अत आह—गुरु-
 शुश्रूषायां फलं श्रुतज्ञानम्—'भाग्यमज्ञाननामः' इत्यथा । ज्ञानस्य किं फलम् ? विरतिः—आश्रव
 धारेभ्यो निवृत्तिः । विरतेः फलमाश्रवद्वारस्वगनम् । विरती सत्यात्माश्रवद्वाराणि स्वगितानि
 मयन्ति । ततश्चाश्रवद्वारस्वगनात् सवरो जायते । फलभूता सद्गतात्मा मयति, अपूर्वकम-
 प्रवेसं निरोधः ॥ ७२ ॥

अर्थ—विनयकस्य फलं सुननेका इच्छा है । गुरुके सुननेका फलं सुनज्ञानकी प्राप्ति है । ज्ञानका
 फलं विरति है, और विरतिके फलं वासवका रुक्मा—संकर है ।

भाषा—वाचाय जो उपदेश देते हैं, उसे सब प्रकार सुनना है और सुनकर उसका पाठन
 करना है । यह विनयका फल है । गुरुके मुखसे शास्त्र-धर्म करनेसे आगमोक्त ज्ञान होता है । यह
 गुरुके सुननेका फल है । शास्त्र-ज्ञानके होनेपर तब कामोक्त करना छोड़ देता है, विनयके करनेसे कामोक्त
 बन्द हो जाता है । यह ज्ञानका फल है । तब कामोक्तें मित होनेपर वासवका शर बन्द हो जाते हैं ।
 अतः वासवके शरोंके बन्द हो जानेसे संकर होता है । अतः विरतिके फलं सबे कामोंके वासवको
 रोकना है ।

सवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जराफलं इष्टम् ।

तस्मात् क्रियानिवृत्तिं क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ ७३ ॥

टीका—संवरस्य फलं तपोऽनुष्ठानं प्राक्तनकर्मक्षपणायम् । तपसि बलं तपोबलम्—तपसि
 कृत्ये सक्तिविशेषः । तपसस्तु निवृत्तफलं कर्मपरिशाटनम् । तस्मात् कर्मापगमात् क्रिया निवर्तते,
 संवर फलं निर्जरायाम् । क्रियानिवृत्तनिवृत्तयोगित्वात् असयोगित्वात् ॥ ७३ ॥

अर्थ—संवरका फलं तपस्या करनेकी सक्तिका होना है । तपका फलं निर्जरा देखा गया है ।
 संवित कामोक्त निर्जरा होनेसे निवृत्ति होती है, और क्रियाकी निवृत्तिसे मन बचन और कल्पकी प्रवृत्ति
 का योन रुक जाता है ।

भाषा—विनयक साधारण ही फल नहीं है । पहली कदमके कदमे गये कर्मके अनुसार
 विनयसे संवरकी प्राप्ति होती है और संवरसे तप-सक्ति बन्नी है तप निर्जराका कारण है, और निर्जराकी
 क्रियासे श्रुतकला मिळता है, तथा क्रिया-निवृत्तिसे मन बचन कल्पका योगोक्त निरोध होता है । इस
 प्रकार एक विनयकके द्वारा योननिरोध तक दखा जाता है ।

योगनिरोधाद्भवसन्ततिक्षय सन्ततिक्षयान्मोक्ष ॥ १

तस्मात् कल्याणाना सर्वेषां भाजन विनय ॥ ७४ ॥

टीका—योगनिरोधस्य फलं बन्धनरूपमरणप्रवृत्तिसंज्ञाया मरकटादिमवसन्ततेरात्म-
न्तिकं क्षयः । बन्धादिसन्ततिक्षयश्च मोक्षात्वातिः । ऐकान्तिकात्यन्तिकादिगुणयुक्तं स्वात्मन्व-
यस्यान मोक्षः । तस्मात् पारम्पर्यद्वारेण सर्वकल्याणानां भाजनम्—भाष्यो विनयः । सर्वकल्याण-
रूपो मोक्षः । अथवा गुरुभूपादिकल्याणं यावद्व्योमित्यं मवसन्ततिक्षयश्च, सवाचयेतामि-
कल्याणानि, येषां फलं मोक्ष इति ।

अर्थ—योगोंके इत्यनेसे मरकटिकरूप मर्कोंसे परम्पराका नाश हो जाता है । मन्-परम्परा-
के नाश हो जानेसे मोक्षकी प्राप्ति होती है । अतः किन्तु सब कल्याणोंका मूळ है ।

माचार्य—विनयका फल योग-निरोध ही नहीं है । योग-निरोधसे नरक, तिर्यक मनुष्य और
देवरूप मर्कोंकी कमी नष्ट हो जाती है, और इस मन्-परम्पराके नाशसे अविनयका मोक्षकी प्राप्ति हो
जाती है । इस तरह विनयका मन्त्रान् फल है । इस गुणके कारण परम्परासे मोक्षका प्राप्ति हो जाता है,
और यह जीव सदाके लिए संसारक अनन्त दुःखोंसे मुक्त करता है ।

ये पुनरविनीतास्तेषां का फलविपाका । इत्याह—

अथ अविनयी मनुष्योक्ते जो कुछ फल मोक्षना पकटा है, उसे बतलाते हैं —

विनयव्यपेतमनसो गुरुविद्वत्साधुपरिभवनशीला ।

श्रुतिमात्रविषयसगादजरामरवन्निरुद्धिगना ॥ ७५ ॥

टीका—उक्तकक्षणो विनयः । तस्माद् व्यपेतं विगत मनो येषां विनयव्यपेतमनसः ।
गुरुणाम्-भाषार्थादीनाम् । विद्वान्शः-अन्वयेऽपि चतुर्दशपूर्वापर्यङ्गाः । ज्ञानादिसाधनबलेन मोक्ष-
मभिच्छनन्तः साधयन्तः साधकः । येषां परिमवा-अनादरो बंदनाभ्युत्थानादिप्रतिपक्षेणरूपम्
तद्वच च हीनं स्वभावो येषाम् । श्रुतिरनन्तपरमायुसंज्ञितकक्षणाऽन्यकाः सविद्विक्रम प्रकाशितः ।
वातावनादियु भ्रमम् इत्यतः । तस्मात्तो विषयसङ्गस्त्वयको भिस्सात् सम्भादिविषयेषु वा
सङ्गस्तस्मादासक्तोः प्रत्यक्षयमागामिनमभेतयन्तः । अचरामरवन्निरुद्धिगनाः । अतः च मरक-
टापरमरौ, अविद्वमानौ अचरामरौ पस्यासी अचरामरः, तद्विद्विद्विद्वान्-निर्मयाः युक्त्य एव
अचरामरः । सर्वसङ्गनिर्मुक्त्यः, तद्वद्वत्तमानं मन्यते नाहं अतः प्राप्त्यामि न च मरणम्, स्वस्वक-
विषयमुक्तासकल्यात् इति ॥ ७५ ॥

अर्थ—जो अविनयी हैं, वे गुरुओं विद्वानों और साधुओंका अनादर करते हैं और श्रुति
के अचर विषयोंमें आसक्त होकर अचर अन्त मुक्तकक्षणके समय निर्भव हो जाते हैं ।

माचार्य—विनयके मन्ने विनयका क्लेश भी नहीं रहता है, वे आचार्योंका, चौबह पूर्व मीनक
के पाटी विद्वानोंका और साधुओंका अनादर करनेमें स्वभावसे प्रवृत्त होते हैं । इतनेके द्वारा जाने

बाकी सूर्य-किरणोंके प्रकाशमें जो धूलके कण दिखाई पड़ते हैं, उन्हें बुटिले कहते हैं। उसके बराबर बड़ी कुछ विषयोंको भी पाकर वे उन्हींमें आसक्त हो जाते हैं। और अपनेको अजर-अमर मानकर आगामी संकटकमें मग्न नहीं करते।

एतदेव प्रत्यवायादिदृश्यापिपया स्पष्टतरामभिधत्ते—

अथ उच्ये संकटकं सुखात्ता करते हैं —

केचित् सातद्द्विरसातिगौरवात् साम्प्रतेक्षिण पुरुषा ।

मोहात्समुद्रवायसवदामिपपरा विनश्यन्ति ॥ ७६ ॥

टीका—केचित्तेषां विहितपरमार्थाः । सात सुखं सद्देशनीयम् । ऋदिविभवः कनकरजत-
पद्मपगोम्ब्रनीडमरकतादिमणिसम्पत् गोमहिष्यबायिककरितुरगरयाविसपत्न । रसा तिल
कटुककषायाम्बुसुखकष्याकष्याः । एतेषु सातादेषु गौरवम्-भावरः सुखात् सम्पद्यः
इष्टरसान्धवहापयभावरः । अतीव सुष्ठु गौरवम् । अतिगौरवादेतोः साम्प्रतमेव वतमानकाल
मेवैकान्ते नागामितम् । त एवविधाः पुरुषाः मोहान् मद्यानात् माहकर्मोदयाद्वा समुद्रवायसवद-
मिपपरा विनश्यन्ति मृतकरिकच्छेषपानप्रविष्टमांसास्वादनपृच्छकाकवत् । जलभिमध्यमध्यास्य
माने कच्छेरे विनिर्गत्य तैर्नवापानमार्गेण सकल दिग्मण्डलमन्त्रोक्त्य विधान्तिस्पागमपश्यन्
निर्लीपमानश्च पयसि निघनमुपगतः । आमिपपरा इति रसगौरवस्यैव प्रत्यवायकमुच्यते
वृथायामास प्रकरणकारः । न तथा सातद्विगौरवे बहुप्रत्यवाये यथा रसगौरवम्, मद्यमांस-
कुणपादेषु प्रवृत्तिः प्राणवचमन्त्रेण दुस्तम्भाया ॥ ७६ ॥

अर्थ—कुछ व्यक्तिगण मनुष्य सुख, ऋद्धि और रसमें लक्ष्मण आदर रखनेके कारण केवल
कर्तमान कालको ही देखते हैं। और मोहके बन्धीमूल होकर मृतके जोनी समुद्री कौबेकी तरह नाश
को प्राप्त होते हैं।

माथार्थ—जो परमार्थको नहीं जानते वे साम्प्रतिक सुख सम्पत्ति और इष्ट रसका स्वाद
छेनेमें ही मग्न रहते हैं और उन्हींकी प्राप्तिपर प्रयत्न किया करते हैं। अतः वे केवल कर्तमानको ही
देखते हैं, अनेक विचार नहीं करते। ऐसे मनुष्य अज्ञानके बन्धीमूल होकर मरे हुए हाथीके शरीरमें
गुदा-मार्गसे घुसकर मांस खानेमें आसक्त कौबेकी तरह नाशको प्राप्त होते हैं। जैसे एक कीड़ा मांस
खानेके छिपे हाथीके पेटमें घुस गया। जोरकी बर्षके कारण हाथी बहकर समुद्रमें जा पहुँचा।
वेचाए कीड़ा हाथीकी गुदासे निकलकर स्थान पानके छिपे इतर-उपर उठा और कोई स्थान न
पान्य पुनः उसी हाथीके पेटमें जा घुसा, और इस तरह अन्तमें पानमें घुसकर मर गया। इसी प्रकार
विषय-सुखके आकाशी मनुष्य भी सत्तार-समुद्रमें डूब जाते हैं। मांसके स्वादका जोनी (आमिप-
परा) निछेपन बनातेसे प्रवृत्त करने रसनेन्द्रियके विषयको आसक्तिको अधिक भुत्ता बतलाया है। कर्णों
कि हिंसा किये बिना मद्य मांस बौध्दकी प्रवृत्ति नहीं होती।

ते जात्यहेतुदृष्टान्तसिद्धमविरुद्धमजरमभयकरम् ।

सर्वज्ञाग्रसायनमुपनीत नाभिनन्दन्ति ॥ ७७ ॥

टीका—त एषं सुखद्विरसगात्सु सत्तमः । आत्मा हेतकस्वामाविकास्तध्यायः । उत्पत्तिः स्थितिभ्यश्च यदस्ति । तदुत्पद्यतेऽवतिष्ठते विनश्यति च तस्माद् उत्पत्तिमत्त्वात् स्थितिमत्त्वात् विनश्यत्त्वाच्च सर्वे पदाया मित्याभ्यानित्याश्च इति सप्तमङ्गीमन्तो भवन्ति । इष्टान्ताभ्याङ्गुल्यात्पः । यथा एकस्मिन्नेव काष्ठेऽङ्गुली मृतत्वेनावास्थिता कश्चिन्म विनष्टा, ऋजुत्वेनोत्पन्ना उत्पाद् स्थितिभ्ययवती, तथा आत्मात्पदा सर्वे पदाभाः आत्यहेतुमिदृष्टान्तैश्च सिद्ध प्रतिष्ठितमभ्याइतमविरुद्धमिति । न क्तु नित्यानित्ययोविरोधोऽस्ति द्रव्याद्यतया नित्यत्वमन्वयं समङ्गीकृत्य घटकपात्रसकृदाविषु सप्तभौविद्यिद्यत् सृष्ट इति प्रत्ययः । पर्यायास्तु घटकपात्राद्वयः पर्यायैर्वाङ्गीकरणात् तर्पणित्यत्वम् । मिथुनमिच्छत्वाच्च न सहाजवस्थानतश्चणो विराजोऽस्ति । तस्मादविरुद्धम् । सख्यग्रसायनम्—सकृदाग्र साह्यशाङ्गप्रवचन तत्र रसायनम् । यथा रसायनकुपयुग्मयानं नीकं चणुः कृपाति कदापञ्चितवर्जितम्, तथा मन्वद्वचनमप्युपयुग्मयानं विभिन्ना सकृदाग्रसाह्यारि भवति अन्मरणप्रपञ्च निरासश्चेति । अविद्यमाना चरा यत्र तद्वचनम् । विगतघटीत्वात्प्रयमपि मरणादिकमत एव तत्र नास्ति । अरामरणाभाक्त्वात् अन्मरणकरम् इत्युक्तम् । उपनीतं क्वचित्तमपितं वा नाभिनन्दन्ति—न पस्तिष्टास्तपुपयोगं कुर्वन्ति ॥ ७७ ॥

अथ—व स्वामयिक इत्युक्तं चौर दृष्टान्तोऽसिद्धमिदं रक्षित अन्मर चौर अययधरी सर्वत्र देवके वचनकपी रसायनको पात्रर भी उक्तश्च आन्मर नहीं करते हैं ।

माध्याय—मो कुछ सच है वह उत्पन्न होता है, टहता है और नष्ट होता है । अत उत्पत्ति, स्थिति और विनाशसे कुछ होनेके कारण सभी पदार्थ नित्य भी होते हैं और अनित्य भी होते हैं । जिस प्रकार सुई हुई अङ्गुलीके फैलानेपर एक ही समयमें उससे छीनों धर्म पाये जाते हैं । अङ्गुली रूपसे वह अर्धमित्त छटी है, टकपनको अपेक्षासे वह नष्ट होती है, और सीधापनको अपेक्षासे वह उत्पन्न होती है । क्योंकि टेढ़ीसे सीधी करनेपर टकापन चला जाता है और सीधापन आ जाता है । इसी प्रकार आत्मा आदिक सभी पदार्थ स्वामयिक इत्युक्तं चौर दृष्टान्तोऽसिद्धमभिगम्य सिद्ध है । तथा यह चित्त रक्षित भी है, क्योंकि नित्यता और अनित्यतामें कोई विरोध नहीं है । इत्युक्तं अपेक्षासे नित्य मानकर ही घट, कपाक औरछको मिठा कहा जाता है । और पर्यायार्थकत्वको माननेपर न घट-कपाक औरछ अनित्य हैं । अतः नित्यताका निमित्त मिश्र है और अनित्यताका निमित्त मिश्र । रसायन होना धर्म एक जगत् एव सम्यक् है और दोनोंमें कोई विरोध नहीं है । अतः निर्दोष हेतुओं और दृष्टान्तोऽसिद्ध तथा चित्त रक्षित सर्वज्ञमगधनकर इत्युक्तं रूप प्रवचन रसायनके समान है । जैसे रसायनके सेकनेसे घटी धूर्तियों और सफेद बाकोंसे रक्षित होकर बीरोग होजाता है, उसी प्रकार

विभिर्बुद्धि विनमगवान्के वचनको आचरण करनेसे अन्ध-मरणकारी प्रपञ्च नष्ट हो जाता है। इसी क्रिए विनमगवान्के वचनको बदर-बन्ध और धमयकपी कहा है। उक्त पीछेसे जो सांसारिक सुख, सुखि और रसमें आसक्त रहते हैं, वे उस रसायनके सिद्धनेपर भी प्रसन्न बिचसे उसका सेवन नहीं करते हैं।

एनमेवार्थं दृष्टान्तेन समर्थयति—

इसी बातके समर्थनमें दृष्टान्त देते हैं।

यद्वत् कश्चित् क्षीरं मधुशर्करया सुसंस्कृतं दृश्यम् ।

पित्तादितेन्द्रियत्वाद्वितथमतिर्मन्यते कटुकम् ॥ ७८ ॥

टीका— कश्चित् इति पित्तबहुलं प्रकृतपित्तमातुः। क्षीरं गोमहिष्यादीनां स्वभावैव स्वाद्यु किं पुनमधुशर्करयायुतम्। सुसंस्कृतमिति सुकृतं निरूपयित्वा ज्ञानस्वम्। इयं दृश्येयम्। पित्तादितेन्द्रियत्वादिति—पित्तेनादितो ग्याताः पित्तोदयेनाकुलीकृतान्ताःकरणो वितथमति—विपरीत बुद्धिः मन्यतेऽपगच्छति कटुकम् इति मधुरमपि सदिति ॥ ७८ ॥

अर्थ—इन्द्रियों के पिचसे पीड़ित होनेके कारण विपरीत बुद्धि हुआ करे मधुश्च मधु और शर्करासे युक्त उक्त पीछेसे तैयार किय गये दूधको कटुता समझता है।

सम्प्रति दृष्टान्तेन दार्ष्टान्तिकमर्थं समीकृतमाह—

दृष्टान्तको दार्ष्टान्तमें बटाते हैं—

तद्वन्नित्थयमधुरमनुकम्पया सद्भिरभिहितं पथ्यम् ।

तथ्यमवमन्यमाना रागद्वेषोदयोद्भृताः ॥ ७९ ॥

जातिकुलरूपवल्लामधुद्विवास्त्रम्यकधुतमदान्धा ।

क्षीया परत्र चेह च हितमप्यर्थं न पश्यन्ति ॥ ८० ॥

टीका—यद्यपि सुदुःख परीषेन्द्रियमिरोचसंपातात्प्रादीर्कटुकं तथापि नित्थय पथ्यन्त्येके मधुरम्—अनेककल्याणयागाद् रमणीयम् । अनुकम्पया सद्भिः—अतिदयप्राप्तिर्गणधरे र्मिहितं मम्यसत्त्वानामनुग्रहाय वैश्यम् । तथ्यं च रक्तमभिसंवादि । तदवमन्यमाना अनाद्विय माया निराकरणबुद्ध्या रागद्वेषोदयेभोद्भृताः स्वच्छन्दचारिणो न हितोपदेशभाक्षिय इति ॥ ७९ ॥ एकमुदुत्ताः किमाचरन्तीत्याह चातिः सामान्यः। कुलं विमन्ययं रूपं शरीरावयवसन्निवेशविशेषः। कलं शरीरं स्वजनकलं द्रव्यबलमेति। सामो यथाप्राप्तिसाप्तिः। बुद्धिश्च्युर्बिधा भीत्यसिन्ध्यादिः।

१-कुरव-५०। २-ना सुक-५०। ३ चारिणो-५०। ४ सुदुःख-५०। ५-आदवा-५०।

६-सुदुःख-५०। ७-व्यं च दृष्ट-५०।

शास्त्रान्यकं लोकाय प्रियविषयकल्पम् । भुतभागमाः शास्त्रपरिहानम् । एतद्वच आत्मादिश्रुतात्मै
महदेतुत्वात् महो गणः, तेनाग्या । यथाग्नाश्चतुर्विंशत्य न किञ्चित्प्रसन्नयोपै पश्यन्ति, तथा
आत्मादिगणाश्चान्या हिताहितविचारप्यारहितान् क्लीबा विषययद्वाद्रमका इवावृताः । तन्मात्रपरि
तोपादिह परलोकहितं न पश्यन्ति न कुर्वन्ति चेति ॥ ८० ॥

अर्थ—बैसे ही परिणाममें मरुत और गमभ्रातिकके द्वारा दया-बुद्धिसे कहे गये हितकारक
सत्यको निराहर करनेवाले, राम और हेपके उदयसे स्वच्छन्दचारी होत हैं ।

आदि, कुल, रूप बह, छाम बुद्धि, लोकप्रियता और साहजानक मदसे जन्मे हुए विषय-
बोसुपी मनुष्य इस लोक और परलोकमें हितकारक वस्तुको भी नहीं देखते हैं ।

साधारण—यद्यपि गणकर बने रहने मय्यजीवोक कर्मवागके किय जो सत्य और हितकारक
उपदेश दिया है, वह असत्य परीपह और इन्द्रियोंको रोकने को रहके कारण प्रथममें कुछ देनेवाला
असत्य है, किन्तु अन्तमें उसका फल शीघ्र ही होता है । परन्तु स्वच्छन्दचारी मनुष्य उसको और ध्यान
नहीं रख ।

जिस प्रकार जन्मे मनुष्य देखने योग्य वस्तु भी नहीं देख सकत हैं बैसे ही जसि कैरहके
मदसे जन्मे हुए विषय-बोसुपी मनुष्य भी हित और अहितकर विचार नहीं करते हैं ।

संसार परिभ्रमतां सत्त्वानां स्वकर्मोदयान् कदाचिद् ब्राह्मणजातिः कदाचिच्चण्डाल-
जातिः कदाचित् क्षत्रियादिजातयः, न निर्त्यकैव जातिमचति इति वचामभाह—

संसारमें भ्रमण करते हुए जीवोंको अपने अपने कर्मसे उदयसे कमी ग्राह्यण जाति, कमी
चाण्डाली जाति और कमी क्षत्रिय को रहके जाति होती है । कोई जाति सर्वदा नहीं रहती । प्यी
करते हैं —

ज्ञात्वा भवपरिवर्ते जातीनां कोटिशतसहस्रेषु ।

हीनोत्तममध्यत्व को जातिमदं बुध कुर्यात् ॥ ८१ ॥

टीका—महो नारकविबन्ध, तस्य परिवतः परिभ्रमणम्-नारका भूत्वा तियग्योनी
मनुष्यजाती वा चापते स्वकर्मवशान् मूय कैकदिनिश्चयःपञ्चोन्निवजाताहुत्पद्यते । तत्र एकेन्द्रि-
याणां स्वस्थाने शाक्यपुत्रानुप्रविमेश बहक । एवमतेबोतेयुवमस्यसीनामपि याकन्त्यय
योग्यस्ताकन्त्येव जातिसतसहस्रणि । तथा बेवानामपीति । अतएव चतुरसीतिबानिहसा
संसारः । स बोस्यमामो हीनोत्तममध्यमेषु कुलेषु बन्ध कर्मते । एषविषयमसमब्रह्मं वा संसार
मवगम्य ज्ञात्वा को नाम पिहान् जातिमदमाहम्मेत् ॥ ८१ ॥

अर्थ—संसारमें परिभ्रमण करते हुए जन्मों-कोहों जातियोंमें जन्म उद्यम और मय्यमने
को जानकर कोव बुद्धिमन् जातिक मर करेता ।

भाषाय—यह जीव नारकी होकर शिर्षमयोमि अथवा मनुष्ययोनिमें जन्म लेता है। पुनः एकन्द्रिय, दोन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चोन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय जातिमें उत्पन्न होता है। उसमें भी एकेन्द्रियोंमें पृथिवीकायक सर्पता, वायुकायक कोरह बहुलसे भेद हैं। इसी प्रकार जल अग्नि, वायु और बनस्पतिकी भी अतिनी योनियाँ हैं, उतनी ही छात्र जातियाँ हैं। देवगणोंमें भी ऐसा ही जानना चाहिए। इसी क्रिये संसारको चौरासी छात्र योनियोंवाला कहा गया है। उस संसारमें उत्पन्न हुआ जीव अल्प, मध्यम और उत्तम कुलोंमें जन्म लेता है। संसारकी इस विचित्रताको जानकर कौन विद्वान् जातिक्रम मद् कर सकता है ?

एतदेव स्युत्तरमाश्रये—

इसी बातको और भी स्पष्टतासे कहते हैं —

नैकान् जातिविशेषानिन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् सत्त्वाः ।

कर्मवशाद् गच्छन्त्यत्र कस्य का शाश्वता जाति ॥ ८२ ॥

टीका—जातिविशेषानामेकसंकयान् इन्द्रियनिर्वृत्तिपूर्वकान् इन्द्रियनिर्वृत्तिः पूर्वं कारण यथा जातिविशेषानाम् । एकस्मिन्निन्द्रिये स्वयनात्म्ये निवृत्ते एकेन्द्रियजातिः । स्पर्शनरसनतो दोन्द्रियजातिः । स्पर्शनरसनप्राप्यनिवृत्तौ त्रीन्द्रियजातिः । स्पर्शनरसनप्राप्यबभ्रुनिवृत्तौ च चतुर्दिन्द्रियजातिः । स्पर्शनरसनप्राप्यबभ्रुश्रोत्रनिवृत्तौ पञ्चेन्द्रियजातिः । स्वकर्मवशात् गच्छन्ति, अप कस्य का शाश्वता जातिः ? तस्मात् युक्त्ये जातिमदः ॥ ८२ ॥

अथ—कर्मके बचसे प्राणी इन्द्रियोंकी रचनासे होनेवाली अनेक जातियोंमें जन्म लेता है। यहाँ किसीको कौन जाति स्वामी है ?

भाषाय—जाति-भेदका कारण इन्द्रियोंकी रचना है। एक स्पर्शन इन्द्रियके होनेपर एकेन्द्रिय जाति है। स्पर्शन और रसनके होनेपर दोन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन रसना और श्रावके होनेपर त्रेन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन रसना श्राव और बभ्रुकके होनेपर चोन्द्रिय जाति होती है। स्पर्शन रसना, श्राव, बभ्रु और श्रोत्रके होनेपर पञ्चेन्द्रिय जाति होती है। इन जातियोंमें जीव अपने अपने कर्मके अनुसार जन्म लेता है। यहाँ किसीकी कोई जाति हमेशा नहीं रहती। अतः जातिक्रम मद् करना ठीक नहीं है।

कुलमद्भ्युदात्तापमाह—

जब कुलके मद्को दूर करनेके लिये उपदेश दते हैं—

रूपबलश्रुतिमतिशीलविभवपरिवर्जितांस्तथा दृष्ट्वा ।

विपुलकुलोत्पन्नानपि ननु कुलमान परित्याज्य ॥ ८३ ॥

टीका—पिभन्वयाः कुञ्जम् । तस्य विलीन लोकापयातम् । तस्य चोत्पन्नो रूपपरिधीयकः पुरुषो घोषिदा विरूपा यस्यावयावा हुडबामनाय्या । बल सापैरम् तेन परिधीयः सधस्य परिभूतः । श्रुतेन परिधीनोऽनन्तमूलाः निकृष्टो मातृकामपि जानाति । मति-बुद्धिः, साधपि हिताहितप्रति परिहारक्षमा नास्तीत्येतथा परिधीयकः । शीलं सदाचारता दूतपरवाराऽश्रुतभाषणतस्करत्-निष्पुण्यवादिपरिवागम्यसामम् । विमर्शो धनधाम्यकनकरजताविसम्पत् । विपुत्रेषु कुलेषुत्समानपि बीजान् विरूपाधिकानभ्योक्ष्य । ननु नियमेनैव कुञ्जमानो गवः परिवहन्त्याः गर्भायक्यशाभावादिषु ॥८॥

अर्थ—शोक-प्रसिद्ध कुञ्जम् उत्पन्न हुए मनुष्यों से भी रूप बल साध ज्ञान बुद्धि सदाचार और सम्पत्तिसे धर्म्य देखकर कुञ्जम् मद निश्चय ही ओहनेके योग्य है ।

भाषा—बड़ भारी कुञ्जे जन्म देनेपर भी धी खपवा पुरुष यदि कुञ्जम् हुवा, निर्बल हुआ अत्यन्त मूर्ख हुआ, क्षित और अहितका विचार करनेकी बुद्धि न हुई भुवारी, परबोगादी (पर पुरुषगामी), बलव्यवारी और चोर हुआ, पाठमें धन-धाम्य सम्पदा न हुई तो सभी उरक्य विरस्कर करते हैं । बल कुञ्जका मद नियमसे नहीं करना चाहिए । क्योंकि उसके गर्भके किए कोई त्वाज नहीं है ।

अपि च—

और भी—

यस्याशुद्ध शील प्रयोजनं तस्य किं कुलमदेन ।

स्वगुणाभ्यलङ्घ्यतस्य हि किं शीलवतः कुलमदेन ॥८॥

टीका—शीलमेव यस्यापेहृतमसदाभाराणुष्मनात् तस्यै त्वाभ्य एव कुञ्जम् प्रयोजना-भावात् । श्रुते तु शीले मरुत्तु माम गर्भः, कुशीलस्य हि गर्भो वीःशीलमेव सवदपति । स्वगुणा रूपबलश्रुतबुद्धिविमवाययो यस्य सन्ति सा तैरेवाङ्गुव अताः शीलवतोऽपि न किञ्चित् कुञ्ज-मदेन । इति परिफल्गुः कुञ्जम्, इति परिहार्यः ॥ ८ ॥

अर्थ—विरुद्धा शील रूफि है, उसके कुञ्जे मद करनेसे क्या प्रयोजन है । और जो शीलवान् है, वह अपने गुणोंसे ही भूफि है । उसे भी कुञ्जम् मद करनेसे क्या प्रयोजन है ।

भाषा—शीलके अङ्ग होनेपर गर्भ करना शील भी है, कुशील मनुष्यका गर्भ तो कुशीलता को ही खाता है । श्रुत जो रूप बल बुद्धि, सम्पत्ति औरहसे भूफि होते हुए शीलवान् है, उसे भी कुञ्जम् मद करना शोभा नहीं देता क्योंकि उसके गुण ही मद करनेके किए पर्याप्त हैं । उसे कुञ्जम् मद करनेसे क्या काम ।

रूपमशौ ऽपि न कार्य इति दर्शयति—

रूपक्य भी मद न करना चाहिए, यह बताते हैं —

क शुक्रशोणितसमुद्भवस्य सतत चयापचयिकस्य ।

रोगजरापाश्रयिणो मदावकाशोऽस्ति रूपस्य ॥ ८५ ॥

टीका—शुक्र पित्रा मिसृष्टं बीयम् । शोणित मातृसोमो स्फुटितस्फोटकभृतेम् । एतस्माद्भ्यात् समुद्भवस्य शरीरस्य । बीजविन्दोराभानात्प्रसृति फलदातुर्गमसपेक्षयाकारेणोपचयगच्छन् गर्भः शिरोप्रीवावाहूर्ःस्पन्दोदपादिमात्रेण वर्धते, रसहारिण्या च वनस्पत्यवहताहारसोपयोगात् सम्पूणाङ्गनचयबो नभमे मासि वृक्षमे वा मातृरुदपादिगच्छति । ततोऽपि स्तनक्षीरपातकाम्यबरोत् कुमारवीचनमर्च्यमस्यविराषस्याभिः शरीरं चयापचययुक्तम् । पच्येष्टाहारपरिणतेरुपचयो वृद्धिः, अपच्यानिष्टाभपानोपयोगात्पचयो हानिः । तौ चयापचयी यस्य तत्रयापचयिकम् । निरुदस्य वा उपचयः, माम्यादिभिरुपचयः । रोगां स्वपतीसारकासश्वासार्व्यः । अथ पूर्वावस्थात्यागेनोत्तरावस्थावस्कन्दनं पाषडत्यन्तस्यविराषस्येति । रोगजरायोत्पाद्यस्यैव शारीरकमाश्रयः । एवमेव शुक्रादिसपकनिष्पन्ने देहे को मद्ब्रह्म किं गर्भर्षाजं रूपस्येति ? ॥ ८५ ॥

अथ—यह रूप रज और शीयसे उत्पन्न होता है । सदेव घटता-बढ़ता रहता है । रोग और अणुका भर है । उसमें मद् करनेका क्या स्थान है ?

मादाय—पिताके शीर्ष और माताके रजस शरीर बनता है । शुक्राभानसे केकर कच्छ, अणुर्भोसपेष्टी बगैरह आकार धारण करता हुआ गर्भ सिर, गर्दन हाथ, छाती उदर बगैरह रूपसे बढ़ता है, और माताके हाथ खाये गये भोजनके रससे अन्न उपाङ्ग पूरे बन जानेपर नीचे अस्वा दसमें माहमें माताके उदरसे बाहर आता है । उसके बाद मी माताके स्तनोंका रस पीकर कुमार, यौवन प्रौढ़ और बृद्ध अवस्थाको धारण करता है । अतः शरीर हानि और वृद्धिसे युक्त है । पच्य और रुचिकर भोजनके मिश्रणसे पुष्ट होता है और अपच्य तथा अरुचिकर भोजनके मिश्रणसे दुर्बल हो जाता है । अथवा नीरोग दृष्टामें पुष्ट होता है और म्पदाभि बगैरह होनेसे दुर्बल हो जाता है । अतः अथोत्तर, खोटी, स्वच्छ बनेरह रोगोंका तथा बुढ़ापेका भर है । ऐसे शरीरमें कौन ऐसी बात है, जिससे इसके रूपका गर्भ किया जाय ?

नित्य परिशीलनीये त्वग्मांसाच्छादिते कलुपपूर्णं ।

निश्चयविनाशधर्मिणि रूपे मदकारण किं स्यात् ॥ ८६ ॥

टीका—नित्यमिति सर्वथा, परिशीलनीयं संस्कारान्यम् । यस्माद्भवति 'भातोदात्तो सदैवान्तर्गत मत्तं वृषिकासिंहापनिष्ठपूतकालोत्तोमूपुरीपस्वेदाशुद्धमति शारीरकम् । तद्वपनयन्-

१-नीचम्-प । २-स्फोटकभृतेम् सु । ३-बल-प । ४-वाहु इत्य पाठ पैठलि । ५-मन्त्रि वर्धते प । ६-रपीठकाम्यवहा-क । ७-पच्य-प । ८-स्वाभ्यासि घ-प । ९-वाग्निहा-क । १०-उत्पे प । ११-वाग्नि प । १२-दसं घ-क । १३-भोजन-क प ।

संभावनादि प्रतिक्षणमयमाचरति, अनिर्विण्णो रूपवान् । त्वया चमप्यासूत्रऽवता मसिन
 प्राच्छादिते स्वगिते । कसुर्यं मूमपुपीपरुभिरमेवोममाऽसियस्नापुमभृति तेन पूर्वं भ्यात् ।
 विनासप्रमो वस्यास्ति तदिनासप्रमि । निश्चयेन-अवर्ष्यतया अम्बुद्गोद्वतनस्नानानुष्ठेपनप्रति-
 विशिष्टप्रपातज्जाकितमपि विनश्यति पयस्ते, कृम्यादिपुत्रो वा भस्मेऽपशिषा शुष्कं चमास्त्रि-
 क्केश्वरप्रार्थं वा भवति । एवांप्रभे च रूपे किं पुनर्भवेत् मद्दकार्थं यम भाषन्ति
 निर्विनेका रूपमावा ॥ ८१ ॥

अथ—यह मित्य ही संस्कार करने योग्य है । चर्म और मींससे इका हुआ है । मन्त्रसे यह
 ही और नियमसे यह होनेवाला है । ऐसे रूपमें मरका क्या करना है ?

मावार्थ—शरीरमें जो मरका हैं । उनसे उदा डीठ, नाक, मूक, काग, धीरे मूत्र, विष्ट, पद्वे
 फौर मरका क्या करता है । रूपवान् शरी मनुष्य हरसमय उच्छ्रि सफ़ाईका प्याल रखता है । चर्म
 और रक्त मींससे यह इका हुआ है । किन्तु उसके अन्दर मूक, विष्टा, मूत्र, पेशा, मरका, इर्द, बसे
 वनेर मन्दी चीरे मरी इरे हैं । तैक उबटना, स्नान रूप और अन्धे-अन्धे साल-यात्रसे इका काकन
 पाकन करनेपर जो मर प्राप्त मर होता है । अन्तमें यह पा लो कीबोका डेर बन जाता है वा
 रक्ताका डेर बन जाता है, अथवा हड्डी और चमका मर रह जाता है । ऐसे रूपमें मर करनेका क्या
 करना है ! किन्तु मासमर रूपवाले उच्छ्र मर करते हैं ।

वक्क मर नहीं करना चाहिए —

घलसमुदितोऽपि यस्मान्न क्षणेन विवलत्वमुपयाति ।

घलहीनोऽपि च क्लवान् संस्कारवशात् पुनर्भवति ॥ ८७ ॥

टीका—बड़ेन शरीरका समुदित सम्यक्को बलवानपि परमात् क्षणेन-स्वस्वैर्न
 काकन अतितीव्रमर विशुद्धिकरनार्थमन् विगतबलो भवति । क्लहीनोऽपि दुर्बल सद्यपि
 प्रतिमान पर्याप्तता म्यक्कारसंस्कारवशात्वायेन बलसम्पन्नो भवति वापते । संस्कारो^१ शालना
 कर्मविपाक, तद्दशात्^२ शीर्षान्तरापसयोपशमविशेषात् इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

अर्थ—एक क्लवान् मनुष्य जो क्षणमरमें क्लहीन हो जाता है और क्लहीन भी पुच्छ
 मोत्रम बनेरके सेवनसे अथवा शीर्षान्तरापकर्मके क्षयोपशमसे क्लवान् हो जाता है ।

मावार्थ—मनुष्यको अपना वक्क भी मर नहीं करना चाहिए । क्योंकि यह एक विशुद्ध
 मनुष्य मर करता है, कपरे स्वामी बरत नहीं है । अन्धेसे अन्ध क्लवान् भी प्रबल रोग जातिके निमित्त-
 से क्षणमरमें क्लहीन देखा जाता है और क्लहीन मनुष्य भी शीर्षान्तरापके क्षयोपशम और वक्कपर
 सामर्थ्यसे क्लहीन देखा जाता है । अतः एक भी मर करनेकी बरत नहीं है ।

१-रुच्यैर्नर्त २-द्वि-क व । ३-आदिप-क व । ४-सु-क व । ५-दोमो

तस्मादनियतभाव बलस्य सम्यग्विभाव्य बुद्धिवलात् ।
मृत्युबले चाञ्जलता मद न कुर्याद्वलेनापि ॥ ८८ ॥

टीका—मनियतो माक सत्ता यस्य कदाचिद्भवति कदाचिन्न भवति ' इति बलम् उक्तेन म्यायेन इति सम्यग विभाव्य विज्ञाय यथावत् । कथं पुनरभावो बलस्य ? ' इत्याह— बुद्धिगम्यनेतत् इति प्रतिपादयति । मृत्युबले चोपतिष्ठमाने न शरीरबलं न स्वजनबले न द्रव्यबलं क्रमते प्रतिक्रियार्थं । अतो मद न कुर्यात् सम्यग्विभावितत्वादसमर्थो बलेनापि ॥८८॥

अर्थ—अतः बुद्धिहीन शक्तिके द्वारा बलहीन व्यक्तिगतो मन्वीर्षोक्ति जानकर तथा मोतके सामने शरीरिक बलहीन निर्बलताको देखकर बलका मद नहीं करता चाहिए ।

मावार्थ—इह सर्वज्ञ नहीं बना रहता, यह बात श्रेकही बुद्धिमें समा सकती है । और मोत सामने जानेपर तो समी बल बेकार होजाते हैं । अतः बलका मद नहीं करना चाहिए ।

कामका मद नहीं करता चाहिए —

उदयोपशमनिमित्तौ लाभालाभावनित्यकौ मत्वा ।
नालामे वैकृष्य न च लामे विस्मयः कार्य ॥ ८९ ॥

टीका—कामान्तरापकर्मणः क्षयोपशमाह्वानो भवति मत्तपानबलपामप्रतिभय पीठफलकोर्षे । कामान्तरापकर्मोदयात् न उभते किञ्चिदपि । अतो नास्ति नित्यो कामः, नाप्यकामः । नित्यानित्यौ च कामान्ताभौ विज्ञाय नातामे वैकृष्यं दीनता कथां नातिज्ञामे सति विस्मयो गबः कायः । यदि उन्मये ततो धमसाधन शरीररफमाद्य इद्यवियथक्रवाडसामाचारी समाचरणसमर्थं भविष्यति । न चेत्तन्म तपान्पदीनचेतसः साधोर्निबरामात्सवं भविष्यति । कर्मोदयक्षयोपशमनितः सन्वयभावो न स्वतो कामान्तामलक्षण इति ॥ ८९ ॥

अर्थ—कामान्तरापकर्मके क्षयोपशमसे काम होता है और कामान्तरापकर्मके उदयसे कुछ भी काम नहीं होता । अतः काम भी निश्च नहीं है और अकाम भी नित्य नहीं है । ऐसा जानकर अकाममें दीनता नहीं करनी चाहिए और कामके होनेपर गर्व नहीं करना चाहिए ।

मावार्थ—यदि साधुको आहारदिककाम काम हुआ तो वह धर्म-साधनके आधारभूत शरीर शौचव्यापादन करता है और यदि काम न हुआ तो भी दीनता रहित विचाराके साधुके कर्मोको निर्बल होती है । अतः काम और अकामको कर्मके क्षयोपशम और उदयका कुछ जानकर दोनोंमें सम-भाव रखना चाहिए ।

परशक्त्यभिप्रसादात्मकेन किञ्चिदुपभोगयोग्येन ।

विपुलेनापि यतिवृषा लभेन मदं न गच्छन्ति ॥ ९० ॥

टीका—पद्ये दाता गृहस्थादि, तस्य दानान्तरायस्योपशमननिता शक्तिः, स्वद्यत्तय नुरूप इति । अभिप्रसादात्मकेति—दातृपदमिप्रसन्नं चेत्तौ भवति साधु प्रति, मुक्तिसाधनं प्रकृतोऽयं तपस्वी निःसङ्गः समारम्भाविपुः, पामभूतोऽस्मिं दत्तं बहुफलं भवति । एवं ज्ञाना परप्रसादात्मकः । सबसपि तद्व्यादि किञ्चिदुपभोगान्तरं सामयति, न पुनर्यत्नीयितावधेस्तुतिं करोति । एव वर्यादेरपि अनित्यत्वात् किञ्चिदुपभोगयोग्यत्वम् । एवविधेन ज्ञानेन यतिवृषा यतिप्रधानभूताः विपुलेन विस्तीर्णेन बहुना न मनागपि मन्मुद्वहन्ति ॥ ९० ॥

अर्थ—दाताकी शक्ति और प्रसन्नताके अनुरूप प्राप्त हुए कुछ उपभोगके योग्य बने मरी ज्ञानसे भी मुनीवृषोंके मद नहीं होता है ।

भाषा—दानान्तरायके उपोपसमते दातासे दान देनेकी शक्ति प्रकट होती है । दाता अपनी सही शक्तिके अनुसार दान देता है । तथा यदि दाताका विषय साधुके प्रति प्रसन्न होता है कि यह साधु मुक्तिकी साधनाने ज्ञान हुआ है, तपस्वी है, आत्म और परिश्रमसे रक्षित है, सदाग है, ऐसे दान देनेसे बड़ा पुण्य होगा, तो दाता उस अपनी शक्तिके अनुसार दान देता है । जल ज्ञान दाताकी शक्ति और प्रसन्नतापर भी निर्भर है । तथा दानमें प्राप्त हुआ जल कीजह कुछ ही समयके लिए सटीरकी तृप्ति करता है । जल ऐसे ज्ञानसे, मछे ही यह बड़ा मरी हो, श्रेष्ठ मुक्ति कमी मदको प्राप्त नहीं होते ।

बुद्धिकर मद करना योग्य नहीं है —

ग्रहणोद्ग्राहणनवकृतिविधारणायावधारणाद्येषु ।

बुद्धधङ्गविधिविकल्पेष्वनन्तपर्यायवृद्धेषु ॥ ९१ ॥

पूर्वपुरुषसिंहानां विज्ञानातिशयसागरानन्त्यम् ।

श्रुत्वा साम्प्रतपुरुषा कथं स्वबुद्ध्या मद यान्ति ॥ ९२ ॥

टीका—अपूर्वसूत्राद्योपग्रहणसमया बुद्धिः, गृहीतं सूत्रमर्थो वा उद्गाहः—अन्वयस्मि प्रतिपाद्यं सुबुद्धिविद्येयम् । नवकृतिरिति—नवम्—अभिनव स्वयमव प्रकृत्याप्योपनिबन्धनादि करोति । विधारणा नाम सूत्रमेषु आत्मकमन्वमनोक्षाविषु बुद्धयनुसारिणी जिज्ञासा । भाषा-बोपाप्यावाविषयननिगतस्य शास्त्रायस्य सकृदेव ग्रहणं न द्विविधा । एवमाद्यु इति अग्नि

१-नवोपयो-य । १-नवोपयो-य । १-न कि बुद्ध्या क व । ४-बुद्धि-य । ५-उत्सवमयो क । ६-उत्सवमयो-य । ७-उत्सव-य क व सु । ८-पूर्व-य । ९-नवविधारणायावाविषयननि-निगतस्य अन्वयस्व सकृदेव ग्रहणं न द्विविधोपचारविधयः—अव ।

सद्भावं चारणा परिप्रकृते । पुदेरङ्गानि सुभूपाप्रतिप्रभप्रहणादीनि तेषां विधि-विधाना-
गमेन प्रतिपादनम् तस्य विधेर्विकल्पास्तेषु । क्विपत्सु ? अनन्तैः पर्यायैश्चक्षेपु । सुपोपशानभा-
द्विविकल्पाः परस्परमनन्तैः पर्यायैश्चक्षुः । असेर्बपर्यायसर्वत्रम्यविपयत्वात् मतिभुतयोः समस्त-
विद्वन्मनिबन्धनत्वाच्चावधेः तदनन्तमागतिकपिद्रम्यनिबन्धनत्वाच्च मनःपर्यायभुदेः । इत्येव
वृद्धपङ्क्तिविधिविकल्पेषु अनन्तपर्यायचक्षेपु सत्सु ॥ ९१ ॥

पूर्वपुरुषा गम्यपरप्रसृतयश्चतुर्विधापूर्ववराहयो मावदेकावशाङ्गविद्वसानः । सिंहा इव
सिंहा इव सिंहाः शौर्योपमानम् । परीपहकपोयेन्द्रियकुंरङ्गनिहनतात् पूर्वपुरुषसिंहा । विद्या
नातिशयो विज्ञानप्रकृत्यः स एव सागरः समुद्रो विस्तीर्णत्वात् । अनन्तस्य भाव आनन्दस्य
बहुत्वम् इत्यर्थः । सुपोपशामप्रज्ञानस्य प्रकृत्योपकृत्यवत्त्वानन्ता विज्ञानातिशयसागरा बह्व-
इत्यर्थः । अथवा इति सर्वभूतग्रन्थे वैकिपतेमोक्षेश्याकाशगमनसमिधभोमात्रयोऽतिशया
बहुप्रकारा स एव सागराः एकस्याप्यतिशयस्य दुरवगाहत्वात् । तदेतत् पूर्वपुरुषसिंहानां सुत्वा
साम्प्रतपुरुषा कुर्वन्मांशवर्तिनाः कथं केन प्रकारेण स्वल्पया सभिपमया माद्यन्तीति ॥ ९२ ॥

अर्थ-ग्रहण, उद्घाटन, गभीर रचना करना, निवारणा तथा अर्थको अवधारण करना
बनेछ और बुद्धिके अङ्गोंका वागमनें जो विधान है, उसके अनन्त पर्यायोंकी बुद्धिके किए हुए भेदोंमें
पूर्व महापुरुष सागरके समान महान् ज्ञानकी अनन्तताको सुनकर आज कलके पुरुष अपनी बुद्धिका गर्व
केसे करते हैं ?

मावाय-अपूर्व सूत्रों और उनके अर्थको ग्रहण करनेमें, दूसरोंको समझानेमें, गभीर प्रकरण
बगैरह रचनेमें, सूक्ष्म पदार्थोंका निवार करनेमें आचार्य कोरहके मुकसे निकले हुए अर्थका एक बारमें
ही अवधारण करने बगैरहमें हमारे पूर्वज बड़ दख पा । तथा छात्रोंमें बुद्धिके सुननेकी इच्छा बगैरह
जो बह्व बलकोपे हैं उनके भेद मतिज्ञान आदि हैं, जो परस्परमें अनन्त पर्यायोंकी बुद्धिके किए हुए
हैं । क्योंकि मति और सुन सब द्रव्योंको विषय करते हैं । अथि समस्त रूपी द्रव्यको जानता है, और
मनःपर्यय उसके अनन्तमें माग रूपी द्रव्यको जानता है । इस प्रकार परस्परमें अनन्त पर्यायोंकी
बुद्धिके किए हुए जो बुद्धिके भेद हैं, वे भी हमारे उन भोदह पूर्वके पाठीस केकर प्यारह अङ्गके ज्ञाता
पूर्वजोंमें पाये जात वे । इस प्रकार उनका ज्ञान सागरके समान गभीर और अनन्त पा । उनके इस
ज्ञानातिशयको सुनकर आज-कलके सुप्र बुद्धिका मनुष्योंको अपन ज्ञानका गर्व नहीं करना चाहिए ।

विद्यीके प्रिय होनेका मद भी नहीं करना चाहिए -

द्रमकैरिव चाटुकर्मकमुपकारनिमित्तक परजनस्य ।

कृत्वा यद्बालम्यकमवाप्यते को मदस्तेन ॥ ९३ ॥

टीका—रक्षित्वं चादुःखमेव समानार्थं चतुस्रध्वोऽपि विद्यते । चतुस्रध्वनाया उक्त्वा प्रत्ययो भवति । चतुस्रध्वं चतुस्रध्वम् । अनुवृत्तिः तत्प्रयोगानुष्ठानं तद्व्यवहारात् सा विद्यमानि-
दानम् इत्येषं कुर्वाणो ङोक्त्वा बन्धुमो भवति । आचार्यादीनामामोदितमन्युस्थानादि द्विषमाद्य
चतुस्रध्वं न बोधयामासति । उपकारो निमित्तं यस्य चतुस्रध्वः तदुपकारनिमित्तकम् । उपकारोऽनेन
प्राग् मम कृता करिष्यते वाऽतश्चतुस्रध्वं करोति । परबन्धुस्य इति गृह्यत्वादिसुबन्धुम् । तच्चतुस्रध्वं
कृत्वा यद्वाच्यते बन्धुभ्यर्कं को मद्दस्तेनेति—येषां चत्वेहनादिहायिनः पुरः स्थित्वा भक्त्यनुष्ठा-
पान्नादि कृतोपकारस्य यदाह्वयकर्मवाप्तोति किं तत्र विषमिति ॥ ९३ ॥

अर्थ—उपकारके निमित्त हीन मनुष्योंके समान दूसरे लोगोंकी आपसकी करके जो धनका
प्रेम प्राप्त किया जाता है, उसका क्या मर ?

भाष्य—इसने भेदा उपकार किया है, अपना भागे करेगा यह सोचकर मनुष्य मिथ्या
पोंकी तरह दूसरोंकी आपसकी करता है । उसके पीछे—पीछे क्या रहता है, उसका क्रम करता है,
उसकी बर्दाई करता है, और उसे बैठनेको आसन देता है । जिस प्रकार कुला रोटीका दुकवा डालने-
वालेका भागे सदा होकर अपने काम और पूछ दिखाता है । इस तरहके कामसे दूसरोंका जो प्रेम प्राप्त
होता है, उसमें कोई बचरन नहीं है । बल्कि उसका मर करना बेकर है ।

गर्वं परप्रसादात्मकेन वाङ्मन्यकेन य कुर्यात् ।

तद्वाङ्मन्यकविगमे शोकसमुदय परामृशति ॥ ९४ ॥

टीका—गर्व—अभिमानं चतुस्रध्वमोऽहम् इति परप्रसादेन अभितः । परो हि
चतुस्रध्वकारिणः परितुष्टाः कश्चित् प्रसादं करोति बन्धावपानादिकम् । तावन्माधेन च गर्वितो
भवति । तं चतुस्रध्वकारिणं वाङ्मन्यकविगमे विगते—बन्धुमत्वे द्वेष्यत्वे जाते, शोकसमुदयः पर-
वृत्तिं ह्युपति—तथासुवर्तितोऽयमेकपत्र एव निम्नहो जातः । यावन्ति चतुस्रध्वानि कृतानि तावन्त
एव शोकः शोकसमुदयस्तेन स्पृश्यते । शोकप्रतिपत्तौद्वाविधोप ॥ ९४ ॥

अर्थ—दूसरोंके अनुग्रहसे प्राप्त हुए प्रेमका जो मनुष्य गर्व करता है, उस प्रेमके मर हो
जानेपर उसे क्या मारी रज होता है ।

भाष्य—आपसकी करनेवालेसे प्रसन्न होकर दूसरे मनुष्य उसपर अनुग्रह करते हैं, उसे
कम-बल देते हैं । अपने ही से यह गर्व करता है कि मैं बहुतसे मनुष्योंको दिय हूँ । निम्न अथ प्रेमका
स्वान हीय के कैला है तब उसने त्रिणी हो सुखामय की थी, उठना ही उसे रंज भी उठना पड़ता है
कि इतनी सुखामय करनेपर भी अमुक मनुष्य एकदम ही दुःख बन गया ।

शुक्ल मर नहीं करना चाहिए —

माप्तुपोपारव्यानं श्रुतपर्यायप्ररूपणां चैव ।

श्रुत्वाप्रति विस्मयकरं विकरणं स्थूलमद्रमुनेः ॥ ९५ ॥

सम्पकोद्यमसुलभ चरणकरणसाधक श्रुतज्ञानम् ।

लब्ध्वा सर्वमदहर तेनैव मद कथ कार्य ॥ १६ ॥

टीका—स्वस्वेनापि श्रुतेन मापतो रूढीतेन बहमतिनाऽपि निषाण साध्यते । असमयो बहुभागममप्येते करणबहत्वात् मेधाधारणाविच्छाद्य । तस्यैवविषयस्य गुह्यमिरमुकम्प पद्मयमपितम् मा कस मा तस इति रगद्वेपनिप्रहगमम् । तस्य तद् भोपपत्तः करण-बहत्वात्साध्यमथा स्थिरीभूतम् मापतुप इति । श्रुयते च तस्य निषाणावाप्तिः । तस्म बह्वर्थात् मयाऽप्यथ परिहायते इति मिष्कारणो गकः । श्रुतपथायप्रकृपणा श्रवम्—श्रु मागम, तस्य पयाया मेदा—कश्चिद्वैश्यायस्यास्याकार्ये, कश्चिद्वैश्यायमापी तथाऽप बह्व्याख्यायी एकस्यैव सूत्रस्येति श्रुतपथायआकृप्य । अतिविस्मयकरश्च विक्रमं वैकि सिंहरूपनिमाण स्फुडमद्रमहर्षेभामिभाषिकाणां ब्रह्मनाय भागमामियोगजनितं छविषिकर श्रुतसम्प्रदायविच्छेदं च तस्य श्रुत्वा ष्ये नार्महिकापायमीत्याऽपि श्रुतमद कुपाय ॥ १५

भागमस्यैबहुश्रुतेराचायाविभिः सह सम्पक-संसगा, उद्यम-उत्साहोऽप्येतप्यायभ्य ष । सम्पकोद्यमाम्यां सुलभम्-अनायासेन प्राप्यम् । चरणं मूत्रगुणा, करणमुत्तरगुणा ते साधकम् निष्पाद्यकम् । श्रुतज्ञान लब्ध्वा-समासाद्य, सर्वेषां वात्स्यायिमदानामपमयनका मूयस्तेनैव कथ मद्रमाद्भीत आत्मनि ! न हि विषापहारि प्रयुज्यमानमगदं विपर्णा कपोतीति ॥ १६ ॥

अर्थ—मापतुप मुनिके कथानकको सुनकर, श्रुतज्ञानके मेदोकी प्ररूपमाको सुनकर वं स्फुडमद्र मुनिकी कल्पत वाश्रयब्रमक शिद्धियाको सुनकर कौन मनुष्य श्रुतका मद करेगा बहुश्रुत आचार्योंके संसर्गसे और अपने उसाहसे अनायास प्राप्त होमेवाके, मूत्रगुण वं उत्तरगुणोंके साधक तथा सब मदोको हरनेवाके साध-ज्ञानको प्राप्त करके उसका मद कैसे कि जा सकता है ?

भाषाय—मापतुपक प्रहम किम हुए पोहेंसे भी श्रुतसे अकबुद्धि मनुष्यको भी निर्वाण प्रा हो सकता है । मापतुप मुनि अकबुद्धि होनाक परण बहुत आने पढ़नेमें असमर्थ है । उनपर हम करके गुरु महात्माने उन्हें दो पर सिखडा दिये—'मा कस और मा तस' अथात् ए मत करो और द्रप मत करो । उन पदोंका उच्चारण करते करते उन्हें मापतुप पाद रह गया इतने मात्रसे ही उन्हें निर्वाणकी प्राप्ति सुनी जाती है । अतः मैंने बहुत पडा है, और मैं अपको सा जानता हूँ एसा गर्व करना निसार है । तथा आगम-ज्ञानके बहुतसे भेद हैं । कोई एक वर्षकी म्याख्या करता है और कोई दो वर्षकी म्याख्या करता है । तथा कोई उस एक ई सूत्रके अनेक अर्थ करता है ।

तथा भुक्तान् तो सभी मर्दोंको दूर करनेवाला है । भुक्तान्को पाछर मद करने काया करीतक उचित है । मियको दूर करनेके लिये ही गई ओपनि मियको क्वासी नहीं है ।

एवमत्र महर्षिको विविध मुताभ्यासते विविधा श्रद्धि प्रातः पूर्वे और उसके गर्भे आकर उन्होंने दर्शनार्थं आई हुई आर्यिकाओंको मपमीत्कर भुक्त-सम्प्रदायका विभुद किया । ' अतः कोन स्पष्टि होगा जो इत घटनाको सुनकर भुक्तान् मद करे !

एतेषु मदस्यानेषु निश्चये न च गुणाऽस्ति कश्चिदपि ।
केवलमुन्माद स्वहृदयस्य संसारवृद्धिम् ॥ १७ ॥

१ घटतीपुत्रमें एका दृष्ट मरुतीर-रंघ की मार्कतार विनमुक्त मरुतुत्तामी पूर्वमुत्ती वाचना देनेके लिये वेवार हो कये वरुं ने एत घटतर वेवार दृष्ट कि क्मयोऽर्धं पूर्ण करनेके बभारु, मोहनके बभयमें और मध्यमे वादर जाने-जानेके समयमें ही वाचना दे कये । तिराम ५ वातु-निर्वाणी परं । उनके वीचाराक वातु मरुतुके निकट इतिहासके मध्यमन निमित्त पहुँचे । परतु वाचनामयके मनुकृक न होनेके अन्त वातु तो मरुतुके निकटै चक रिये । उनमें से केरक एवमत्र ही एर मने और उन्होंने संकल्पार्थक मध्यमन करते हुए कर्मोपाह्व रघुर्षी वीक लिये ।

एक दिन एवमत्र एकात्मने स्मरणने पूर्वा मन्त्रपत्र कर ली ये । एही मन्त्रपर उनकी वात बहिनें मरुतुत्तामीके दर्शनार्थं आई । उन्होंने वही एवमत्रको न देखकर उनके निवास-स्थलके मध्यममें प्रथ लिये । मरुतुने उन्हे उनका विप्रमया कथा रिया ।

ब्रह्मिर्षी एवमत्रके रघुर्षी, परतु उन्होंने अनधी भुक्त-वृद्धि परित्यज करानेकी इतिहे विदुका रूप धारण कर लिया । ब्रह्मिर्षी दर गई और मरुतुत्तामीके निकट जाकर करने कयी—ब्राम-मन्त्र । वही एवमत्र नहीं है, बरिह एक विदु है । मरुतुने कथा कि एवमत्र ही विदुका कन बनाने है । ब्रह्मिर्षी पुनः एवमत्रका रघुर्षीकर क्लार्थं हुई ।

इतके बाद एवमत्र मरुतुके पाठ वाचना कये पहुँचे । मरुतुको मंदके मधी मध्यमका पुन, उक्त कुम्भेयव रंघमी एवमत्र हाय एव मरुतु मुदकनम्र मुफमयान देखकर वक्ता खेर और आकर्ष हुआ । वाचना देनेके निवेदनपर मरुतु एवमत्रके कलने कये—“ हे अनकार ! जो तुम्हें वक्ता है वही वक्ता है अब तुम्हें वक्ताकी ओरें मरुतु नहीं । ”

एवमत्रने और मन्त्रीन वातुओंने वाचना देनेके लिये वहुद मनुनक-विनय की पर मरुतु करने कये—“ धनयो; दिन-दिन कयव मनुक अन्त का एता है मनुष्योंकी मानसिक शक्तिशोका प्रतीयक प्वाक छेया का एता है उनकी लयता और वंभीरता न्त्र होती का रही है । इत मन्त्रकामे छेप पहुँका मवार करनेमें मैं तुम्हक वही देखता ।

एवमत्र ब्रह्मि वाचनाक लिये अन्तारह करने कये । अता मरुतुने रोष कार पहुँके कलकाम् यो एहीभर कर लिया परतु एवमत्रको उन पहुँके वृत्तोंके क्लार्थकी भावा नहीं छ ।

एक प्रकर एवमत्रके मुद्राभिवानके कल्प उनके वाच ही वात पूर्वीका मय हुआ ।

देवो वीर-निर्धन बभ्रु ओर जैनकाकमया तु. वं ४—१८ ।

टीका—वास्यादिव्यस्तु मद्दस्याभेषु पतेषु निश्चये परमाथविचारण्यायां पयवसाने वा न सतु कश्चिद् गुणो हस्यते पक्षिक आमुष्मिको वा । यदि माम् आतिर्बिस्मिता ततः किं स्यात् ? हीना चेत्ततोऽपि किम् ? केवलमुन्मादः स्वहृदयस्य—यदि परमुन्माद उन्मत्तता प्रहाविष्टस्यैव यत्किञ्चन प्रकाशित्व स्वहृदयस्येति । स्वचित्तपरिणामादेतानि मद्दस्यानानि भवन्ति । स च हृदयपरिणामो बहिर्बर्तित्तया बाह्यप्रयत्नेऽप्यवगम्यते । ततश्च संसारवृद्धिः—जन्मव्यारामण-प्रबन्धः ससात्, तस्य वृद्धिः—तद्दीर्घीकरणमिति ॥ १७ ॥

अर्थ—वास्तवमें इन मर्दोंके करनेमें कोई भी काम नहीं है । यह केवल अपने हृदयका उन्माद है और उससे संसारकी वृद्धि ही है ।

भाषा—इस प्रकार ज्ञान, पूजा, कुण्ड, जाति, बन्ध, ऋद्धि, तप और धरि—इनमेंसे एक भी एसी वस्तु नहीं है, जिसके करनेसे मनुष्यका कुछ विशेष काम हो । इनके करनेसे मनुष्य सदैव उन्मत्त बना रहता है और आत्म-संरूपको भूकर अनन्त संसारका बन्ध किया करता है । इसकी गर्व किसी प्रकारका भी अच्छा और भेदकर नहीं है ।

जात्यादिमदोन्मत्त पिशाचवद् भवति दुःखितश्रेह ।

जात्यादिहीनतां परमवे च नि संशय लभते ॥ १८ ॥

टीका—जात्यादिनाऽष्टप्रकारेण मदेनोन्मत्तो हृत्पूरकमक्षयपिसोदयाद् व्याकुली-कृतोन्मत्करणपुरुषवत् पिशाचवदा भवति दुःखितश्रेह । कश्चिद्गुणविशिष्टार्थकोहकः बनाकीर्ण देशमुत्सृज्य समुद्रमप्यवर्तितं क्षीपमनुप्रविष्टः । तत्र चैको बणिग् विनिर्जपोः प्रथमतः गतः । तत्र चैस्तुवाटाः प्रभूताः । तत्रसप्तानात् केवलात् गुडशाकडानीष गुडमुलेन विसृष्टानि । पुरीष-परिवामान्तराणि तानि तथाऽवलोकेषु स चोक्तपिशाचवत्त्वात् स्वाहृनि । दूतव्यास्ते प्रति-विषसम् । हृदय कान्ठान्तरेण हिण्डमामो बणिक् । ततश्चोद्विप्रस्तस्मादपि स्वार्णोर्ध्वगतोऽर्घ्यं क्षीपं गतः । तत्रापि बन्गुन्याविवृपितानि फलानि भुक्तवान् । एवं यत्र यत्र याति तत्र तत्र कुक्ष-माह् । एवंविधश्च परमवेऽपि हीनजात्यादित्सेनोत्पद्यते इति न युक्त्ये आतिमक् ॥ १८ ॥

अर्थ—जाति वगैरहके करनेसे उन्मत्त हुआ मनुष्य इस लोकमें पिशाचकी तरह दुःखी होता है । तब परमवमें नियमसे भीच जाति वगैरहको प्राप्त होता ।

भाषार्थ—एक ब्राह्मणपर पवित्रताका मूत्र स्रवत हो गया । पवित्र रहनेकी इच्छासे वह समुद्रमेंही बलीको छोड़कर समुद्रके बीचमें स्थित एक द्वीपमें जाकर रहने लगा । किसी व्यापारीका जहाज समुद्रमें डूब गया था । बहता हुआ वह व्यापारी पहले-पहल उस द्वीपमें जा गया । वहाँ इस लूच होती थी । केवल उसका उस द्वीपमें व्यापारीको गुडकी निविदाकी तरह टंकी होने लगी । उस

शास्त्रमने इम सिधिवोको बडा और स्वदिह अगनेपर प्रसिद्धि उन्हीको साकर दूत रहने कगा । एक दिन उसको छवि पूजे हुए म्यापाटीपर पड गई । अता उसे बडा डरेग हुआ और वह उस स्थानको मी छोडकर दूसरे हीपरने चला गया । वहीपर मी दूधित अणोको खाता । इस तरह जहाँ जहाँ गया, वहाँ वहाँ उसे दुःख भोगना पडा । इसी प्रकार जिस पुरुषपर गर्वका मूढ सपना होता है, उसे मी इस जोर और परमेकमें दुःख भोगना पडता है ।

सर्वमदस्थानानां मूलोद्गातार्यिना सदा यतिना ।

आत्मगुणैर्लक्ष्य परपरिवादञ्च संत्याज्य १९ ॥

टीका—तस्मात् सर्वेषां आत्यादिमत्स्थानात्प्राप्तमामपि यन्मूर्खे रीतिं गर्वाकर्मं तदुद्गातो विनाद्यात् तद्वर्तिना भानकभापविद्यपार्यिना, सदा सर्वकालं यतिना माससाधनप्रवृत्तेन प्रपन्न-
वता, आत्मगुणैर्वात्यादिभिः लक्ष्यो गर्व परेषाञ्च परिवादात् सर्वेषामापन्नं परिमकः परित्य-
जनीय इति ॥ १९ ॥

अर्थ—अतः सब मरोंके मूढ मानकभापको मास करके इच्छुक मुदिखे सर्वथा अपने गुणोंको प्रसंसा और दूसरोंको निन्द्याका छोड़ देना चाहिए ।

भाषार्थ—यमकभाप ही सब मरोंका मूढ है । जो साधु उसे उखाड़ फेंकना चाहता है, उसे न तो अपनी प्रसंसा करनी चाहिए और न दूसरोंको निन्दा करनी चाहिए ।

तस्मात् पुनः परपरिवादस्त्वांशयते इत्याह

पर-निन्दा क्यों छोड़ना चाहिए, यह बतलाते हैं —

परपरिभवपरिवादात्मोत्कर्षाच्च घृष्यते कर्म ।

नीचैर्गोत्र प्रतिभयमनेक भवकोटिदुर्मोचम् ॥ २०० ॥

टीका—परस्म परिमक—म्यककाल किमनेन आत्यादिहीनेन इति । परिवादस्तु
मर्कमापन्नम्—एवमेवं चाऽपमकरणीयं कथेति । आत्मनश्चोत्कर्षात्—आत्यादिभिर्दुःखताकवा-
पनात् घृष्यते—समाधीयते कम नीचैर्गोत्राकयम् । यच्च यत्रोत्पद्यते, तत्र तत्र हीनजातिषु म्लेच्छ-
दासबाण्डादिषु तदनुभवति । ततश्च कमयत्वात् संसारस्य तत्फलं संसारपरिभ्रमणं जन्म-
व्रतामरुपप्रवृत्तम् । प्रतिभवमिति—मयाभिमुखं सवन्न भीतिपुत्रम् । अथवा प्रतिभवम् भवे
भवे इत्याद्यः । मवानां जन्मना कोटिः । मगका चासीं मवकोटिश्च मनेकमवकोटिः । मवकात्पा-
मेकपा दुर्मोचं दुर्मोचं भावुमक्तिं वाक्यम् इत्ययम् । नामगोप्रयोर्विज्ञातिकोटिकोत्या स्थिति-
इति वचनान् ॥ १ ॥

अर्थ—दूसरोंके तिरस्कार और निन्दासे तथा अपनी प्रशंसासे मन्-मन्में नीचगोत्रकर्मका बन्ध होता है, जो मर्वाक्रीबनेक परम्पराओंमें भी नहीं मोगा जा सकता ।

भाषाय—नीचगोत्रकर्मकी उच्छृङ्खलित शोष कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण बतलाई गई है । अतः एक मन्मन् बाना हुआ कर्म अनेक मर्वाओं में भी नहीं मोगा जा सकता । ऐसी दशामें मन्-मन्में बौधे हुए कर्मका मोग तो कतोंकों मर्वाओं में भी होना असम्भव है ।

कर्मोदयवशात् हीनादिजातिषु शम्भ मवति भाकस्मात् इति वक्ष्यति—
कर्मोदयके कारण ही नीच बगैरह जाशियोंमें जन्म होता है, यह बतलाते हैं —

कर्मोदयनिर्वृत्तं हीनोत्तममध्यम मनुष्याणाम् ।

तद्विधमेव तिरश्चां योनिविशेषान्तरविमक्तम् ॥ १०१ ॥

टीका—कर्मशब्देन गोत्रमेवाभिसम्बन्ध्यते । हीनं नीचैर्गोत्रकर्मोदयात् उत्तमसुखैर्गोत्र-
कर्मोदयात् मध्यमं म्यतिभिन्नकर्मोदयात् । मनुष्याणां तिरश्चां च भिन्नियमपि मवति तद्विध-
मेव तिरश्चाम् इति वचनात् । अमम्पोत्तममध्यमम्' इत्यर्थः । योनिविशेषान्तरविमक्तम्
इति—तिर्यग्योनिविभेदेन मनुष्ययोनिभेदेन च विमक्तं कृतविभागम् । विशेषास्तु तिरश्चामेकद्वि-
विशतुष्टयान्निद्रियाक्याः, मनुष्याणां सम्मूठनगमजातिविशेषाः । अन्तरशब्दोऽप्यन्तप्रतिपाद्
नाय । इति शरिकाद्यतं किहूतम् ॥ १०१ ॥

अर्थ—मनुष्योंमें नीचपना, उच्चपना और मध्यपना कर्मके उदयसे होता है । तिर्यकोंमें भी उसी तरह जानना चाहिए । अन्तर केवल इतना है कि दोनोंमें योनिके भेदसे भेद पाया जाता है ।

भाषाय—यहाँपर कर्म शब्दसे गोत्रकर्म किया जाता है । नीचगोत्रकर्मके उदयसे नीचपन होता है, उच्च गोत्रकर्मके उदयसे उच्चपन होता है और दोनों कर्मोंके उदयके भेदसे मध्यपन होता है । मनुष्य और तिर्यकोंमें ये तीनों ही पन पाये जाते हैं । इसमें तिर्यकोंकी और मनुष्ययोनिके भेदसे भेद है । तिर्यकोंके भेद एकैन्द्रिय, दोन्द्रिय, त्रैन्द्रिय चोन्द्रिय और पञ्चन्द्रिय हैं, और मनुष्योंके सम्पूर्णजन्मशब्दे, गमशब्दका अर्थ भेद है ।

एकमुक्तेन म्यायेन हीनादिजन्मप्रतिपत्तिः कर्मोदयजनितेति महर्षेराग्यकारणम् तद्येव मपरं वैराग्यस्य निमित्तमाख्याति—

इस प्रकार उक्त शीतसे नीच औरह जन्मोंको कर्मोंका फल जानकर महान् वैराग्य उत्पन्न होता है । जब वैराग्यका अर्थ भी निश्चित बतलाते हैं —

देशकुलदहवित्तानायुर्वलभोगमूर्तिवैपम्यम् ।

दृष्ट्वा कथमिह विदुषा भवससारे रतिर्भवति ॥ १०२ ॥

टीका—देसो मगधाङ्गकडिङ्गदिवार्यं, सङ्गवगनकिरातादिवार्यं । कुण्डमिस्वाङ्ग-
हरिवंसाविकम् अपर स्नेह्यासचाण्डाकाविकुण्डम् । सङ्गसपावपवत्तिविशेषविशेषो देहः, अपरः
कुण्डवृण्डसधिवेसाधिः । विज्ञानं विधिष्टो बोधो बीबादिवार्यविषयः, अपरः प्रकृत्याज्ञानपरिगतः
किञ्चिद्दः । बीर्वेपायुषा वयाकाङ्कविभागवर्तिना युक्तः, अपरस्तु गमकीमारपीवणावस्मादिष्ट
अनियतायुः । बळं सारीर्यदि, तेन सम्पन्नो बीर्वेवान् अपरो बुवकः स्वशरीरकपि कयञ्चिद् धार
वति । मोगवाननेकेप्रव्याधिसम्पुपमागसमयं अपरो मोगपहितस्सतोऽपि च मोगानसमयं
मोकतुम् । हिरण्यसुवर्णमनभान्बाविविभूत्या युक्त एकः, अपरो वायिामिभूतो बरेङ्गुनी कण्ड-
निबसणः एषां देहात्मीनां ससृष्टिपर्यन्तानां वैषम्य विपमतां किञ्चोक्य कर्मोदयबनिताम् कथं केन
प्रकारेण, विवुषां बुद्धिमतां मरकदिविभवसंसारे रति प्रीतिर्मवति ? इति कर्मोदयनिमित्तं शुमाद्युभ
कस्य देसाधि विज्ञाय उद्येगः ससप्तत्कार्यः । तस्मात् धर्मानुष्ठानादर एव भवान् इति ॥ १ २ ४

अर्थ—देस, कुण्ड, शरीर, ज्ञान बाहु, वरु मोग और मिन्दुकिष्टी विपमता देवकर विशलोको
इस मरकदिकरुप संसारमें कैसे रति होती है ?

माहार्य—कोई मगध, अङ्ग कडिङ्ग बौरह कार्य देखमें जन्म लेता है । कोई एक, पन्न
किरुत बौरह जन्ममें देखमें जन्म लेता है । कोई इस्वाङ्ग, हरिवंश बाधि उष कुर्मों जन्म लेता है ।
कोई विद्यापीठों बौरहके नीच कुर्मों जन्मते हैं । किस्तीका शरीर शुभ कण्डन और शुभ अवयवोंसे युक्त है,
और किस्तीका शरीर कुण्डक, ईशक बौरह सत्त्वानबाधा है । किस्तीको जीबादि परावोंका मिश्रिष्ट ज्ञान है
और कोई किङ्कुक ज्ञानी है । किस्तीको वायु सूत्र कन्वी और अग्रे समपपर पकनेबाधे होती है, और कोई
गर्भवत्त्वामे, अथवा कुण्यावत्त्वामे अथवा मरुवगामे ही मर जाता है । कोई वया बळी है और कोई
किङ्कुक निर्बळ है, कोई अनेक मोगोंको मोननेमें समर्थ है और किस्तीक सक्ति होते हुए भी वा तो
मोगनेको मोन नहीं हैं वा मोग-सामग्री होते हुए भी मोननेकी सक्ति नहीं है । एक सोना-बौंदी,
कम-बाल्य बौरह मिन्दुकिष्टे युक्त है तो दूनठ गरीबीमें दिन कटता है । इस विपन्नको देवकर विज्ञान्
मनुष्य संसारसे कैसे प्रीति कर सकत है ? उन्हें तो संसारसे वैषम्य ही करना चाहिए । अतः धर्म-कार्यमें
विचर ज्ञाना ही हितकर है ।

तथाऽपरं वैपश्यनिमित्तमार्हायच्छाह—

वैपश्यते और भी निमित्त बतवाते है

अपरिगणितगुणदोष स्वपरोभयबाधको भवति यस्मात् ।

पथेद्वियवलविषलो रागद्वेषोदयनिषद् ॥ १०३ ॥

टीका—गुणाश्च दोषाश्च गुणदोषाः, अपरिगणितो अनाहता गुणदोषाश्च वेनासो
अपरिगणितगुणदोषः । प्रेक्षापूर्वकाद्यै गुणाम् दोषांश्च विनाय गुणेषु प्रवर्तते, दोषान् परिहरति ।
यथानाज्ञोभित्तगुणदोषः स तस्य स्वपरोभयबाधको भवति । स्वमात्रमानं बाधतेऽपच्छ बाधते ।

दोषप्रवृत्तावात्मानं बाधते, यथाऽप्य प्रवृत्तस्तथाऽहमपि प्रवृत्तयामि इति परमपि बाधते । पञ्चेन्द्रियबन्धेन विबद्धो विगतबद्धः । पञ्चेन्द्रियबन्धेन महाताऽभिभूतत्वावुग्भागायायिनाऽन्वेन बन्धेन मार्गं प्रतिपादयितुमशक्यः इति विबद्धः । रागद्वेषोवयेन निबद्धो नियमितः रागद्वेष-परिणतः इत्ययः ॥ १०३ ॥ यस्माद्गताढोपितगुणद्वेषो एवंविधो भवति—

अर्थ—यत् पौर्णो इन्द्रियोंके बन्धके बाधे निर्वन्ध हुआ और राग तथा द्वेषके उदयसे जकड़ा हुआ मनुष्य गुण और द्वेषका विचार नहीं करता और अपनेको, दूसरोंको तथा दोनोंको कष्ट दता है ।

भाषार्थ—सोच-विचार कर काम करनेवाला मनुष्य गुण और दोषका विचार करके गुणोंमें प्रवृत्ति करता है और दोषोंको छोड़ देता है । जो गुण-दोषका विचार नहीं करता, वह दोषोंमें प्रवृत्त होकर अपनेको कष्ट देता है । तथा उसके देखा-देखी दूसरे लोग भी दोषोंमें प्रवृत्त होते हैं । अतः वह दूसरोंको भी पीड़ाका कारण होता है । तथा पौर्णो इन्द्रियोंके बाधमें वह ऐसा कैसा जाता है कि प्रयत्न करनेपर भी उसे सुमार्गपर जाना कठिन होता है ।

तस्माद् रागद्वेषत्यागे पञ्चेन्द्रियप्रशमने च ।
शुभ परिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् ॥ १०४ ॥

टीका—यस्माद्देव तस्माद् यथा रागद्वेषयोरास्पृष्टिः कस्तस्यागो भवति तथाऽनुद्वेषम् । पञ्चेन्द्रियबन्धेन यथा प्रशाम्यसि—नोवृत्तताकिमवति तथा शुभपरिणामावस्थितिहेतोर्यत्नेन घटितव्यम् । शुभ एव परिणामो यथा वसकुम्भविज्ञानाद्विज्ञाप्यते, शुभ परिणामावस्थिति यो हेतुः, तस्य हेतोः प्रयत्नेनावाति यथा स्नात् तथा चेषितव्यमिति ॥ १०४ ॥

अर्थ—अतः शुभ परिणामोंकी स्थितिके लिए राग और द्वेषको त्यागनेमें तथा पौर्णो इन्द्रियोंको शान्त करनेमें प्रयत्न करना चाहिए ।

भाषार्थ—यत् गुण-दोषका विचार न करनेवाले मनुष्यमें उक्त दुराश्यों पाई जाती हैं । अतः ऐसा प्रयत्न करना चाहिए, जिससे राग और द्वेषका सबका अभाव हो तथा पौर्णो इन्द्रियोंकी शक्ति शान्त हो । और उसके लिए शुभ मार्गोंको प्राप्त करने तथा उन्हें बनाय रखनेका प्रयत्न करना चाहिए ।

तत्कथमनिष्टविषयाभिकाङ्क्षिणा भोगिना वियोगो वै ।
सुव्याकुलहृदयेनापि निश्चयेनागम कार्य ॥ १०५ ॥

१-हे पञ्चेन्द्रियबन्धेन यथा-क य । २-नवावति । ३-कः नियमबन्धे राग-क य ।
४-गुण-य । ५-एव-य० । ६-रवात्सव यो-य० । ७-यमित्याह-क य ।

टीका— तत्कथं पेशितम्यम् इत्याह— भविष्य विपया वक्ष्यमाणेन म्यायेन, तान्
 आकाङ्क्षति अभिलषति तेन भविष्य विपयामिकाङ्क्षित्वा भोगिना भोगासक्तम्, कथमास्पन्तिको
 विपयोगः स्यादेभि सह इति। विद्यायाः पादपूर्व्ये। सुदुम्याकुञ्जइत्येनापि वाङ् म्यप्रहृद्येनापि
 सता। निश्चयेन यथावद् विद्याय पतानिह परं चापायवद्भान् शम्पादिविपयान्। भागमः
 कथा— भागमो भगवद्दर्शित्सर्वज्ञप्रणीतोऽभ्यासितम्यः कायः। तत्तर्थापामास्पन्तिकः स्वात्मनि
 प्रलयो भवत्यनेनाभ्युपापनेति ॥ १ ॥

अथ—(प्रथ) — भविष्य विपयोंकी इच्छा करनेवाले भोगासक्त मनुष्यसे इन विपयोंकी विपे
 कैसे हो सकता है ? (उत्तर) — हरपक्ष कल्पमें म्याकुञ्ज होनेपर भी इन विपयोंसे जानकर भागमक
 अभ्यास करना चाहिए)

भाषाय— पहले यह प्रश्न किया गया है कि जब मनुष्य भोगोंमें आसक्त है और उत्तरिन
 भोगोंकी वाञ्छा करता रहता है तो वह उन विपयोंकी स्वप्न कैसे कर सकता है ? बादमें उसका उत्तर
 दिया गया है कि भोगोंके किए हरपक्ष आकुञ्जित होनेपर भी पहले उसे भोगोंकी असक्षिपत्कसे जानना
 चाहिए, कि ये विपय इसकोके और परकोकमें दुःखदायी हैं। उसके बाद भगवान् अर्द्धन्देवके शाश्वत
 उपदिष्ट भागमक अभ्यास करना चाहिए। इस उपायसे उन विपयोंकी इच्छा विकुञ्ज नष्ट हो जाती है।

कथं पुनरनिष्टा विपया' इत्याह—

विपय भविष्य क्वो है ! यह बतकते हैं —

आदावत्यम्युदया मध्ये श्रृङ्गारहास्यदीप्तरसा ।

निकपे विपया वीभत्सकरुणालज्वाभयप्राया ॥ १०६ ॥

टीका— आर्षी प्रथम कुन्हाइकाकुत्सुकता मत्पम्युदयान् उत्सवभूतान् मन्वते। उत्सव
 भागमिभ्यतीति मकल्पानन्दधेतसि प्रथमम्। मध्ये विपयप्राप्ती सत्यां श्रृङ्गारवेपामरण्यकुञ्ज
 कण्ठास्तेपमुकपुम्बनकरंरुक्षतप्रहारपट्टिहासप्रणयकोपादिमत्वाङ् वीप्तरसाः। निकपे इति—
 विशिष्टसंयोगोत्तरकालं विपयाः स्वशादयः प्रतिभान्ति वीभत्साः निवसणत्वात् प्रकृत गुदवपङ्क
 विद्वत्तहासात्। कम्पास्तु बहुविद्यापविसरकल्पनप्रवणात् कम्पाभयत्वात्कुम्पापाप्रवत्।
 परिसमाप्तप्रयोजना च स्वरिततरमाहसे प्रपावती निवसमाप्ति विभेति च गुदवमहासाङ्गते ' मा
 मैर्बिद्यामद्राकीर्त कश्चित् इति। एवमते विपया वीभत्सकल्पनज्वाभयपासवद्गुहाः पश्यते।
 मध्येऽप्युदितदीप्तामोहवेदनाः भारम्भेर्तु कुन्हाइकाकुत्सुक्यमावाह आह्वित्स्वास्वम्यापादयन्तीति
 स्याम्या ॥ १ ॥

अथ— ये विपय प्रारम्भमें उत्सवकी तरह हैं। मध्यमें श्रृङ्गार और हास्यसे उत्सव उदीप्त करते
 हैं। और अन्तमें वीभत्स, कन्दना कन्दना और मय कीरहकी करते हैं।

१-रूप-१०० ॥ २-वर्ण-१०० ॥ ३-कल्प-१०० ॥ ४-कृति-१०० ॥

५-भाष्य-१०० ॥ ६-येऽति कु-१०० ॥ ७-वा-१०० ॥

मावाय—प्रारम्भमें यह मनुष्य कुतूहलसे इन विषयोंको, उत्सवोंकी तरह मानता है। अर्थात् जैसे किसी उत्सवकी सूचना मिलनेपर उससे आनन्द होता है वैसे ही आनन्द विषयोंकी प्राप्ति होनेसे पहले होता है। विषयोंके प्राप्त होनेपर श्रुत वेद, अलङ्कार, हास्य, प्रमत्तके और संभोगके अन्तमें लुभे हुए कामार्जुनोंको देखकर बड़ी रूचि होती है। नवोद्गाके पीकरके स्मरण करके उत्सव दिया जाती है। एक दूसरेको मग्न देखकर आती है। उस अवस्थामें गुरुजनोंके देख देनेपर भय आता रहता है। इस प्रकार अन्तमें ये विषय रूचि करणा, आना और भय बगैरके उत्सव करत हैं। मनुष्यमें मोहकी तीव्र बेइनामी उत्पन्न करते हैं और आरम्भमें कुतूहल और उत्सुकता पैदा करते हैं। ये कभी भी मनुष्यको स्वल्प नहीं होने देते। अतः छोड़नेके योग्य हैं।

१. मनुष्य उपभुञ्ज्यमानः सुखलोभोपभोगात्प्रमत्तमनुष्येणो विषया' श्रंभयिकारे पठति—

२. विषय-भोगसे मनुष्यको बोधा-रहित सुख भी होता है, अतः विषय उपभुञ्ज्यते, इसका उत्तर देते हैं—

यद्यपि निपेक्ष्यमाणा मनसः परितुष्टिकारका विषया ।

१. किंपाकफलादनवद्भवन्ति पश्चादतिदुरन्ता ॥ १०७ ॥

टीका—निपेक्ष्यमाणा उपभुञ्ज्यमानाः क्षणमात्र यद्यपि मनोहृष्य जनयन्ति तथापि पश्चात् विपाककाले भापातरमणीया अपि सन्तः किंपाकफलादनवद्भवन्ति पश्चात् किंपाककाले अस्मानि हि रस-मात्रेणैवैवामाणानि स्वादुनि सुरभीणि च परिणतिकाले परासुतया पोषयन्ति । अतो दुरन्ताः 'दुष्मास्ता इत्यथा ॥ १०७ ॥

१. अर्थ—यद्यपि सेवन करते समय विषय मनको सुखकर आते हैं, तथापि किंपाक कालके पकने के मध्यमके समान अन्तमें दुष्करापी होते हैं।

मावाय—किंपाक कालके पक जानेमें बड़ आदिष्ट और दुर्गन्धित होते हैं; किन्तु वेदमें रहते ही जहलका काम करते हैं। विषयोंको भी ऐसा ही जानना चाहिए।

१. तथाऽपरं निर्वृत्तमाह—

इसप उदाहरण देते हैं—

यद्वञ्छाकाष्टादशमन्नं बहुभक्ष्यपेयवत् स्वादु ।

विषसयुक्तं मुक्तं विपाककाले विनाशयति ॥ १०८ ॥

टीका—छाकं तीमनमष्टादश यत्प तद् शाकाष्टादशमन्नम् । बहुभक्ष्यं मोहकादि, पेयं पानकविद्येयः सीसुप्रसन्नादि च। तस्येयं यमास्त्यत्र तत्पेयवद्भवम् । स्वादु-मनुष्यादिरसयुक्तं विषम्यतिमिधु भुञ्जन्, विपाककाले परिणतिसमये यथा विनाशयति ॥ १०८ ॥

१-इत्ये क व । २-इत्यादिकारे प -क व । ३-वेद्योक्त-क-व । ४-अपिमाह-क , व । ५-वेदकामकारकादि, प । ६-विश्वसुक्तं क व । ७-अने वि-क व ।

तद्वदुपचारसमूतरम्यकरागरससेविता विपया ।

भवशतपरम्परास्वपि दु स्वविपाकानुबन्धकरा ॥ १०९ ॥

टीका—वाद्यान्तिकमय इष्टान्तेन समीकरोति तद्वत् इति । उपचार-वाद्यक्रम विनय प्रतिपत्तिः, तेनोपचारेण संभृत बहुकृतं रम्यकं रमणीयत्वमतिशयप्रीतिहेतुत्वम्, रागा स्नेह-विशेषः, तस्य रसो-अतिशयः, उपचारसंभृतरम्यकरागरसेन सेविता उपभुक्ता विपयाः शब्दादयः । सङ्ग्रहणरूपविधात् विपाकइष्टान्तं सूचीकरोति पश्चाद्देन-भवशतानां परम्परया पद्धतया समस्ततया तासु कुक्षेण विपाकेन अनुबन्धकरवशात्ता युक्ताविशेषेदकारिण इति ॥ १०९ ॥

अर्थ—विद्य प्रकर अङ्गुल प्रकरके शाक और बहुतसे खाने । योग्य और पीने योग्य स्वादिष्ट मनुष्योंसे कुछ स्वादिष्ट मोहन यदि विपेया हो तो उसके खानेसे अन्तमें मृत्यु होती है । वही प्रकर सुशामर और विनय गौरवसे बड़ी हुई रमणीयता और अत्यन्त रामके मोगे हुए विपय सैकड़ों मर्षोंकी परम्परामें भी दुःख-मोहनकी परम्परालोके करनेवाळ होते हैं ।

भाषाय—विषय-भोग, सुखानु विशेष मोहनके समान अन्तमें बुद्धदायी होता है । विपेये मोहनके खानेसे तो एक ही बार मृत्यु होती है । किन्तु विषयोंके सेवनसे मक-मकमें क्या उठना पड़ता है ।

अपि पश्यतां समक्ष नियतमनियतं पदे पदे मरणम् ।

येषां विषयेषु रतिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् ॥ ११० ॥

टीका—पश्यतामपि समक्षं प्रत्यक्षेण प्रमाणेन मरणं नियतकालमनियतकालञ्च । इवमारकाणां नियतकालमेव । अनियतकालं मनुष्याणां तिरश्चा च । पदे पदे स्थाने स्थाने नारकादिबन्धमनि आयातापादिभेदे गोमहिष्यावाबिक्रादिभेदे च । अथवा नियतम् इति स्वकालमेव अनियतं मनुष्यतिरश्चाभायुः सम्प्रतितनानाम् । एवमवगतानित्योयुः स्वकपाला-मपि येषां विषयेषु रतिः शक्तिर्भवति न तान् मानुषान् गणयेत् कुशाळः । त्रिपञ्च एव हि ते निबुद्धिस्त्रिभक्तिः ॥ ११० ॥

अर्थ—इगह-जगह नियत और अनियत मरणके प्रायश इच्छते भी विपकी विषयोंमें जासकि है, उन्हें मनुष्योंमें नहीं गिनना चाहिए ।

भाषाय—मन दो लक्षण होता है—एक नियत काल और दूसरा अनियत काल । देव और नास्तिकोंका मरण नियत कालमें ही होता है; क्योंकि उनकी अकल्प मृत्यु नहीं होती । वही अनि-काल काल मरण मनुष्य गति और तिर्यक गतिमें होता है । सभी मतिधर्मोंमें मृत्यु प्रायश है । संसारमें देसा कोरों भी स्थान नहीं दे, नहीं मृत्यु व होती हो । अथवा दूसरा अर्थ एसा भी कर सकते हैं कि मरण

१-रके विषय उप-प । २-व-व-व-व-व । ३-वा व । ४-व-व-व-व-व । ५-व-व-व-व-व ।

सर्वदा ही व्यनियत है; क्योंकि आसु प्रत्येक समयमें क्षय हो रही है। और यह बात हम अपने सामनेके मनुष्यों और तीर्थस्थोंमें प्रकट देखते हैं। तो भी आसुको अनिरय जानकर भी जो विषयोंमें फँसे हुए हैं, उन्हें मनुष्य नहीं समझना चाहिए। मासमक होनेके कारण वे पशु ही हैं।

विषयपरिणामनियमो मनोऽनुकूलविषयेष्वनुप्रेक्ष्यः ।

द्विगुणोऽपि च नित्यमनुग्रहोऽनवद्यश्च संचिन्त्य ॥ १११ ॥

टीका—मनोऽनुकूला ये विषया इत्यां शब्दादप्यस्तेषां विषयाणां परिणामोऽनुप्रेक्ष्य-चिन्तनीय आलोचनीयः । इष्टपरिणामाः सन्तोऽनिष्टपरिणामा भवन्ति, अनिष्टपरिणामाश्चाभीष्ट-परिणामा भवन्ति, नावस्थिता कश्चित् परिणामोऽस्ति । एवञ्जानवस्थितपरिणामविषय विरती सत्यामनुग्रहो द्विगुणोऽनवद्यश्च संचिन्त्य । मनुग्रह-गुणयोगः, स च द्विगुणः । बहुगुण एव द्विगुणो उक्तः, विशिष्टस्योपलक्षणत्वात् । अनवद्यश्चाती पापवन्धामावात् इत्यनुप्रेक्ष्यः ३११ ॥

अर्थ—मनके अनुकूल विषयोंमें विषयोंके परिणामके नियमका अरन्धार चिन्तन करना चाहिए और सबदा निर्दोष तथा बहुगुणयुक्त कामका विचार करना चाहिए ।

भाषार्थ—मनके प्रिय जगनेवाले विषयोंके मायी परिणामका विचार करना चाहिए । अर्थात् अच्छे जगनेवाले विषय काकाष्ठमें बुरे जगते हैं, और बुरे जगनेवाले विषय काकाष्ठमें अच्छे जगने जगते हैं । उनका कोई परिणाम सर्वदा नहीं रहता । अतः अस्थिर परिणामवाले विषयोंसे विरक्ति होनेपर आत्माका बड़ा मायी दोष दृष्टि कल्याण होता है । क्योंकि विषयोंसे विरक्ति होनेपर पापकर्माका रूप नहीं होता । अतः उस कामका सर्वदा विचार करते रहना चाहिए ।

इति गुणदोषविपर्यासदर्शनाद्विषयमूर्च्छितो ह्यात्मा ।

भवपरिवर्तनमीरुभिराचारमवेक्ष्य परिरक्ष्य ॥ ११२ ॥

टीका—इति इत्थं गुणान् दोषरूपेण यः पश्यति दोषांश्च गुणरूपेण प्रेक्षते, विषयास-र्थात् विपर्ययं बुद्धयते । विषयेषु शब्दाद्विषु मूर्च्छित-तन्मयता गता य आत्मा । मन् ससारः, तत्र परिवर्तन नरकाद्विषु अन्ममरणप्रवन्धः, तस्मात् विभ्यद्भिः आचारमवेक्ष्य प्रथमाङ्गाप-मनुचिन्त्य परिरक्ष्यः परिपालनीय इति ॥ ११२ ॥

अर्थ—इस प्रकार गुण और दोषमें विपरीत दर्शन होनेसे यह आत्मा विषयोंमें आसक्त हो जा है। संसार-अन्ममते करनेवाले मन्म जनोंको आचारका अनुशीलन करके उचरकर रखा करनी चाहिए ।

भाषार्थ—यह आत्मा गुणोंको दोषरूपसे देखता है और दोषोंको गुणरूपसे देखता है। इस विपरीत दर्शनसे विषयोंको सुखदायी समझकर यह उनमें जीन हो जा है। जो मन्मजीन नरकादि नशियोंमें अग्रम करनेसे करते हैं, उन्हें आचाराङ्गके अर्थका अन्वय करके अपनी आत्माको रखा करनी चाहिए ।

स आचारपथः पञ्चप्रकारः इति दर्शयति समासेन—
 तस्य आचारके षोडश भेदः । सधेयमे उच्ये कृतकते हैं —

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रतपोवीर्यात्मको जिनैः प्रोक्तः ।

पञ्चविधोऽयं विधिवत् साध्याचारः समनुगम्य ॥ ११३ ॥

टीका—तत्र तत्त्वाद्यज्ञानस्यैव सम्यक्त्वाचारः । तदनुगम्यहीतो मत्स्यादिज्ञानपञ्च-
 काचारः । अद्यविषयकमथरिच्छीकरणात्पारिभाषाचारः । तयोदादिमनेदमनशानादि तप आचारः ।
 वीर्यमात्मशक्तिर्षीर्वाचारः । एवमेव पञ्चप्रकार आचारः प्रथमाह्वारः । तीर्थक्षेत्रपर्यटोऽभिहितः,
 तच्छिष्यैश्च सूचीकृतः, विधिवत् समनुगम्याः विधेयः । कः पुनर्विधिः । सुप्रसङ्गविधिविस्तारः,
 धर्मबोगादि, धर्मप्रवृत्तयश्चिदनुपयोगप्रस्वापनादिः । साधूनामाचारः साध्याचारः—अहोरात्र-
 म्यन्तरेऽनुष्ठेयः क्रियाकलाप इति ॥ ११३ ॥

अर्थ—जिन भगवान्ने सम्यक्त्व, ज्ञान, चरित्र तप और वीर्यरूपसे सम्यक्त्वके षोडश भेद
 कहे हैं । साधुओंके इस आचारको विधिवत् जानना चाहिए ।

साधारण—तत्पर्यन्त अज्ञान करना सम्यक्त्वाचार है । सम्यक्त्वाचारसे कुछ षोडश ज्ञान आचार
 हैं । आठ प्रकारके कर्मोंको गृह करनेवाला चरित्राचार है । अनसन औरइके भेदसे आठ प्रकारका तप
 तपाचार है । आत्मशक्ति सखि वीर्याचार है । इस प्रकार वीर्यइकरेके आचाराङ्गमें षोडश आचारेण्य
 अर्थरूपसे कल्प किया है । उनके सिम्प नमपरदेवोंने उसे सूत्ररूपमें निबद्ध किया है । साधुओंके इस
 आचारको दिन-रातमें की जानेवाली क्रियाओंको विधिवत् जानना चाहिए ।

विमलत्वात्साधारणस्य पञ्चधा नमःप्रवृत्तयश्चिदनुपयोगप्रस्वापनादिभिर्काण्डोत्पन्न पुनर्कणो-
 देसुतोऽर्धमापद्ये समासेन—

इस प्रकार आचाराङ्गके आभारपर आचारके सामान्यसे षोडश भेद कहे हैं । तस्य आचाराङ्गके
 प्रथम सुदत्कर्ममें गौ अप्यन हैं । अतः अब उनके आभारपर आचारके षोडश संख्यसे कहे हैं ।

पद्मजीवकाययतनालौकिकसन्तानगौरवत्यागः ।

शीतोष्णादिपरीपहविजय सम्यक्त्वमविकम्पम् ॥ ११४ ॥

संसारदुःखेण क्षणोपायञ्च कर्मणां निपुणः ।

वैयाचृत्योद्यागः तपोविधियोपितां त्यागः ॥ ११५ ॥

टीका—छात्रपरिहायां गृह वीर्यनिकायाः प्रविश्यसेवोवातुवनस्पतिप्रसाह्याः । तमादी
 वीर्यास्तित्वमतिपावनं सामान्येन तत्र प्रविश्यादिक्रियस्वरूपम्यावपनम् । तदभावात् संसाध्येत

क्षया बनेछेके हात्त कोष, धन, माया और सोम कवत्यको बितनेका विधान है। सीतेष्य नामके तीजे अण्यपनमें मूक-प्राप्त, मनी-सही कौण्ड बार्स परीपहोके बितनेका कथन है। सम्पत्त नामके बीजे अण्यपनमें छंका यमि रोपोसे छित तथार्थक ब्रह्मनरूप मिच्छत सम्पत्तर्तवका वर्णन है। सोकसार नामक पाँचवें अण्यपनमें संघाते उहोका कथन है। क्योंकि जो हिंसा कौण्डमें बना हुआ है, वह मुनि नहीं है। शिष्ट जो हिंसा कौण्डमें अनेक दोष देखकर उपसे निरुद्ध हो जाता है तथा काम मोतसे निरुद्ध और अपरीमही होता है, वह मुनि है। सोकसारको दखनेवाला मुनि कुमार्त्त कोकर अथको सारको प्रहण करता है। मूठ नामके छठे अण्यपनमें कुजुम्नी मिथ सी, पुत्र कौण्डसे निरुद्ध रहनेका, उनके परिणामका, शावात्तपरिक कपोके छव करनेके उपायका सुखानके, अनुसार आचारन करनेका और छपी तथा उपकरकोंके त्यागनेका वर्णन है। महापरिहा नामके छठवें अण्यपनमें मूठ और उच्छरुकोको मकीमिदि जानकर मन्त्र छत्र तथा आकाशगाम्ये अथिके प्रयोग न करनेका विधान है। और प्रायस्मानपशिर्में त्यागने योग्य वस्तुकोका त्याग करके निरुद्ध होकर ज्ञान, वर्धन और चरित्रमें सुखा उपर रहनेका विधान है। इसे ही वैयाहृत्यमें उपर कहा गया है। निमोक्षपत्ता नामके आठवें अण्यपनमें शारकोके एकदेस मोक्षका और साधुकोके सुदिश मोक्षका वर्णन है। अर्थात् शारकोके एकदेससे कर्मका छप होता है। अष्ट उतका एकदेससे मोक्ष कहा जाता है, और मुनिकोके छपस कर्म छूट जाते हैं। अष्ट उतका छर्दिससे मोक्ष कहा जाता है। कपोसे मूठ होने ही का नाम मोक्ष है। मच्छपयच्छपय इंगिनी और पादपोपामन नामके छत्र मोक्षका विस्थापे वर्णन किया गया है। प्रवाल होनेसे तपोनिकिच प्रहण किया है। उपचावकुत नामक नौवें अण्यपनमें मगवान् वर्णमापल्यमीके उपका वर्णन है और शिषोके त्यागरूप मगवर्णक विधान है। इस प्रकार नौ अण्यपनोंके आचारपर आचारके नी फेर किये गये हैं। । ।

सम्पत्ति आचारोपेयु अण्यपननकादाहृषेयु विस्तपचितेष्यधिकार्ये वर्णनमे— १

अथ अचारज्ञेय नौ अण्यपनोंसे केकर निरुद्धरूपक रथे गये त्रितीय कुलस्तप्यकी प्रथम पृथिव्यके अनिकर्योका वर्णन है—

विधिना भैक्ष्यग्रहणं स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिता शय्या ।

ईर्याभापाम्बरमाजनैपणाग्रहा शुद्धा ॥ ११६ ॥

टीका—विष्टीनजाप्यपने उग्रमोत्पादनिपणादोषवर्जितो भिक्षात्तयूहो प्राजा । अय्या प्रतिभयः, तम स्त्रीपशुपण्डकविवर्जिते स्थाने स्थानम्बरम् मूषेत्तरगुणमुखा शय्या प्राजा । ईर्याप्यपने भिक्षार्थमनादिक्रियाग्रहणः ईर्या शय्या पुरस्तात् पुग्माप्रनिकुद्धरिः स्वात्तराणि चङ्गमानि च सत्यानि परिसम्पन्नवर्जितेति । भावावाताप्यपने शक्यमात्तमपराविरोप्याम्बोष्य

१—अथकन्यो द्विषोकी ईर्यामें उपर उतका नी कथन और चरित्रमें ही उपर उतका है क्योंकि वे कन्याधिके वाच्य हैं । १—उर्ध्वं मु० । २—अथके-प० । ४—विचनं क-प । ५—अय्या-प । ६—अथोः पु-प० व ।

वाच्यमिति । वक्ष्यपणाध्ययने मूलेत्तरगुणद्युत्तं लक्षणयुक्तं वासाः समादेशमल्पपरिक्रमादि । पार्थिवजायामपि चोद्गमादिविद्युत्तपाप्रग्रहणमन्वेषादि यथोक्तमादेशम् । अक्षग्रहप्रतिमाध्ययनेऽक्षग्रहो वेधेन्द्रपञ्चगृहप्रतिष्ठाभ्यातरसाभक्तिंक्षायां पञ्चपा । सद्यया सद्यता पटिमितोऽक्षग्रहो पान्थयो यम भावनक्षान्न प्रभञ्जपुर्णपोस्सगस्वाप्यापस्वानयुक्तोऽक्षग्रहो योग्या । इति प्रथमचूडा समाध्ययनपरिभाषेयम् ॥ ११६ ॥-

अथ—विभिर्भूतक मिथ्याग्रहण, श्री, पशु, और पण्डक (नपुंसक) से रहित सप्या, ईर्ष्याद्युक्ति, माताद्युक्ति, बन्धु भूपय युक्ति, और अथग्रहद्वयदि, ये प्रथम चूडिकारके सप्त अर्थपर्यन्तके नाम हैं ।

भाषार्थ—विभेदना नामके अर्थपर्यन्त उग्रम, उत्पादन और एषया दोषसे रहित मिथ्या ग्रहण करनेका विधान है । वृत्ते सप्येपया नामक अर्थपर्यन्त श्री, पशु और पण्डक (नपुंसक) से रहित स्थानमें उदरनेका विधान है । ईर्ष्याप्ययनमें कहा है कि जब साधु मिथ्या केने औरहके किए गमन करता है तो अप्रा एक युगमत्र (चार हाथ) पूर्विकेको देखकर प्रस और स्थावर जीवोंकी रक्षा करता हुआ भीरे-भीरे गमन करता है । माया अर्थपर्यन्त अपने और दूसरोंके अविद्वद्ध सोचकर बोलनेका विधान है । वक्ष्येपया नामके अर्थपर्यन्त मून्गुण और उद्योगोंकी प्रवृत्तके अतुरूप ऐसे बन्धु केनेका विधान है, जिसमें कम आरम्भ हो । पान्थेपया नामके अर्थपर्यन्त भी उग्रमदि दोषोंसे रहित पात्र केनेका कथन है । अथग्रह मिदिकृतको कहते हैं । उसके पूर्व वेद है, लोकके मध्यमें सुमेह पर्यन्तके नीचे स्थित ऋत मध्य प्रदेशोंसे लेकर आधा दक्षिण नाम देवेन्द्रको मिदिकृत है । मरत बगैर क्षेत्र चक्रवर्ती राजकी मिदिकृत है । गौन, कस (वेत), उषान, पहाड गुच्छ बगैर उस स्थानके नास्तिक जमीरदारकी मिदिकृत है । जिस गृहस्थके धर्म उदरना हो उस गृहस्थके धर बगैर उस गृहस्थकी मिदिकृत है । और जिस स्थानमें समावर्णी अर्थ साधु बगैर उदरे हों, वह स्थान उन साधुओंकी मिदिकृत है । इन यत्किर्योसे उदरनेके किए परिचित स्थानकी पाचना करना चाहिये । वह स्थान इतना हो कि उसमें कर्म होने, मन्त्र-मन्त्र त्यागने और स्वाप्याव बगैर करने की सुविधाये हों ।

सम्प्रति द्वितीयचूडासमाप्त्तयनानि सप्तकामिमानानि, तमाधिच्छातः—
अथ सप्त सप्तकी द्वितीय चूडिकारके परिचर्योके करते हे—

स्थाननिपद्याव्युत्सर्गशब्दरूपक्रिया परान्योन्या ।
पञ्चमहाव्रतदार्यं विमुक्तता सर्वसङ्गम्य ११७ ॥

टीका—प्रथमाध्ययने स्थानं कायोत्सर्गाद्यव्ययते । द्वितीयाध्ययने निपद्यास्थानं निर्विघ्नाद्यवमासयापते । तृतीयाध्ययने उद्यात्प्रत्ययवत्सागयोग्यमदेशप्रकरणं म्युत्सर्ग-स्थानयुक्तम् । चतुर्थाध्ययने साध्याकारपरिष्यतद्रव्यग्रहणे सति रागद्वेषत्यागः । पञ्चमाध्ययने

१-अरजुदि ५० । २-वा सर्वत्र ५ । ३-अरव-क ५०-अरव सु० । ४-द्विदि एव उग्रह दिवद कारीव कारमी ॥ ११६ ॥ भाषा, २ प्रु १ प्रु ५५-रापवि-५० । ६-मिदेष-५० ।

नालाविषरूपदर्शनेन रागद्वेषपरित्यागः क्लृपः । सर्वत्र क्रियोपाधेनामिसम्बन्धः—स्वामेक्रिया
 निपद्याक्रिया' इत्यादि । पठे परक्रियानिषेधा—प्रयत्नवत्तत्पठि प्रवृत्तस्य निष्प्रतिकर्मघटीरस्य
 परा यत्रुपकरोति संस्कारोति तद्व्युक्तम् । सप्तमाध्ययनेऽभ्योम्बक्रिया परस्परक्रिया साऽपि
 निष्प्रतिकर्मव्युपयो न युज्यत इति । तृतीयपूजा भावना । तत्प्राप्तस्तभावनानां विहाय प्राप्तस्त-
 भावनादसनद्वानपरत्पतपोवैरोऽप्यादिक्य भाव्यो एकैकमहावतभावनानां मन्त्रा' पञ्चमहावत-
 हावनायमिति । विमुक्तता सबसङ्केभ्याः' इति चतुर्थचूडिकायां विमुक्ताभ्ययने कमणो
 विमुक्तिरूपोपतो देहातो वापि चिन्त्यते—यावन्तः केचित् सङ्गास्तेभ्यो विमुक्तिरिति । निशीया-
 म्यपरं पञ्चमी पूजा चतुस्रपु पूजासु योऽतिचारस्तद्विमुक्तव्ययं प्रायश्चित्तज्ञानं त्रुमति ॥ ११७ ॥

॥ अर्थ—त्यागक्रिया, निपद्याक्रिया, व्युत्सर्गक्रिया, सम्प्रक्रिया, कल्पक्रिया, परक्रिया पौंच
 यद्वाजनोंमें दृढता और समस्त परिग्रहका त्याग—य नो अर्थपरमोंके नाम हैं ।

भाषा—पहले अर्थपरमों के क्रयप्रसर्गके योग्य स्थानका वर्णन है । दूसरे अर्थपरमों के स्वाध्याय
 करनेक योग्य स्थानका वर्णन है । तीसरे अर्थपरमों के मन्त्र-मूत्रके त्यागके योग्य स्थानका वर्णन है । चोथे
 अर्थपरमों के सुनाई पढ़नेवाले सम्प्रियों के राग और द्वेषके त्यागके वर्णन है । पाँचवें अर्थपरमों के दिव्यकार्य
 पढ़नेवाले अनेक प्रकारके रूपोंमें राग और द्वेषके त्यागके वर्णन है । छठे अर्थपरमों के परक्रियाका
 निषेध किया है । अर्थात् तपस्यामें क्ये हुए साधुको गृहस्था कीरहके द्वारा की गई सेवा-सुसुखादि
 इष्ट करना मुक्त नहीं है । सप्तमों अर्थपरमों के साधुओंके किए परस्परमें एक दूसरेकी परिचर्या करनेको
 अनुक्त कहा है । द्वितीय चूडिकामें ये सात अर्थपरम हैं । तीसरी चूडिकाका नाम भावना है । साधुको
 अष्टम भावनाओंके छोड़कर दहन 'इल चारित्र्य तप कीरहकी शुभ भावनाएँ मायी चक्षिए । एक
 एक महावतकी पौंच पौंच भावनाएँ होती हैं । उनके मानेसे पौंच महावत दृढ़ होते हैं । चौथी चूडिका
 विमुक्ताभ्ययनमें एकद्वेष अथवा सर्वद्वेषे कर्मोंसे मुक्त होनेका निचार किया गया है । अर्थात् जो कुछ
 परिग्रह है, उससे मुक्त होनेका उसमें वर्णन है । पाँचवीं चूडिकाका नाम निशीयाव्ययन है । उसमें चार
 चूडिकाओंमें जो अतीचार उग जात हैं उनमें-विद्युदिके किए प्रायश्चित्त देनेका वर्णन है । ॥

साञ्चाचार स्वत्वयमथदशपदसहस्रपरिपठित ।
 सम्यगनुपाल्यमानो रागादीन् मूलतो हन्ति ॥ ११८ ॥

टीका—पहलेप साधुनांभाषा—चतुस्रपु पूजासु योऽतिचारस्तद्विमुक्तव्ययं प्रायश्चित्तज्ञानं त्रुमति—
 पद्मजनपाऽश्वात्पद्मसहस्रात्मक परिपठित । यम चापौषधिमिस्तत्पुमिति । सम्बन्ध-
 ययाक्तन विधिना ग्रहणप्राप्तानुष्ठानभ्यामप्यामिरुपास्त्यमाना—अभ्यस्यमानो रागद्वेषमोहात् ।
 समूहकल्प कपतीति । अयथापये गुणः प्राप्यते ॥ ११८ ॥

१-चक्षिष्य ५० । २-स्वामि-क ५० । ३-वैवाह्यपरि-५ । ४-वरा ५ । ५-स्त्री व-५५
 व । ६-देवकी वर्णव साधु-वपुदान एकद्वेषते कर्मवृत्त ब्रह्मवाते हैं । विद्वत्पैठी वरं कर्मवृत्त है । ७-न
 दना-५० व । ८-मो वाच्यकद्वयपठों वर-५ । ९-चक्षिष्यकपाल-५ ।

अथ—इस प्रकार अठारह हजार पदोंके ज्ञात कहे गये साधुओंके आचारके विभिन्नरूप पाठन करनेसे प्रगाधिकका मूच्छे बाध हो जाता है ।

भाषाय—जो साधु शीशके अठारह हजार मंत्रोंका विधिपूर्व पाठन करता है और इनमें कभीक भी दोष नहीं करने देता, उसका राग सबसे नष्ट हो जाता है ।

आचाराध्ययनोक्तार्यभावनाचरणगुप्तहृदयस्य ।

न तदस्ति कालविवर यत्र क्वचनाभिभवन स्यात् ॥ ११९ ॥

टीका—आचाराध्ययनम्—आचारागमः, तपोक्तो योऽथस्तत्र भावना वाचनाभ्यासः पदश्रीवनिष्कायतनादिका तदाचारमेव च गुप्तहृदयस्य मूढोत्तरगुणैर्गुप्तमनस्कस्य तदमुष्मान्-
व्यग्रस्य किं भवति ' इत्याह—न तदस्ति कालविवर कालछिद्रं क्वचन क्वचित् । यत्र छिद्रमभि-
भूयते क्वायग्रमाद्विक्रमादिभिरनाचापिमिति ॥ ११९ ॥

अथ—आचारागमे अन्वयगोमे जो आचार कहा गया है, उसका भावनापूर्वक आचरणसे जिसका हरव सुरक्षित है, कालकक्ष ऐसा एक भी क्षण नहीं है, जिसमें रागादिक उठे रहा सके ।

भाषाय—जो आचारागमे कहे गये आचारोंका हरपसे पाठन करता है, वह कभी भी प्रगाधिकके बन्धनमें नहीं होता ।

' तथा आचारार्थव्यग्रस्य न क्वचिद्विमक्तिपरिपन्थिनी साधोभवति ' इत्याह—

अब यह बतलाये हैं कि जिसका मन आचारमें लगे जाता है, उस साधुको कभी भी मुक्तिकी बाधक कुतुब्धि उत्पन्न नहीं होती—

पैशाचिकमारुहान् श्रुत्वा गोपायनं च कुलवध्वा ।

सयमयोगैरात्मा निरन्तरं व्यापृतं कार्यः ॥ १२० ॥

टीका—केनचिद् बन्धिका मन्मथलेन पिशाचको पश्याकृतः । पिशाचकेनोक्तम्-
ममाद्यादानमनवर्तत कायम् । यद्वाद्यं न उमे तद्वाहं भवन्तं विनाशायामि ' इति । प्रतिपन्नश्च
बन्धिका, आद्या च इत्या । प्रदकरणमनभान्वानपनकनकरजतादिविभूतिरिद्या पचम्भं बन्धिका
सम्पादित्वा पिशाचकेन । पुनश्चाद्या मागिता । बन्धिकाऽभिहितम्— दीपतमं बंधमानातीय गृहार्णवे
निष्ठाप्य आरोहणमबरोहणश्च कुर्वीयास्तावथापश्यन्त्याद्यादानस्यावकाशो भवति ' इति । न
चास्ति छिद्रं किञ्चिद् बन्धिका यत्राभिभवः स्यादिति । साधोरल्पहाराप्राप्त्यन्तरगुप्तवासु क्रियासु
वतमानस्य नास्ति छिद्रं विज्ञोतसागमनमिति ।

अथर कुतुब्धरूपतावन्वयवती केनचिद् बित्तन इया प्रायिता परिमोगम्, प्रतिपन्नश्च तथा ।

१-व गु-प । २-सकत-क-व० । ३-सि कालछिद्र-प । ४-ई वन-क० व० । ५-पुव-क व ।
६-वा वाच-क, व । ७-करावि-क, व । ८-येन क व । ९-द्विषेप ।

श्रद्धा श्रद्धा श्रद्धायाप तन्निर्भाष्यं सन्म गृह्य्यापारे नियुक्तम् । प्रस्तरेव गृहप्रमाबंनगोमुक्त-
करणभाण्डप्रसाहनाभिभयपरम्भनपरिवेषनमाबंनमाबंनोपक्षेपनक्षण्डनद्वैतपाद्मसाहनाभ्य-
ङ्गनानेककार्यगंभ्रया कुम्भेय निद्रामासाद्यति । तस्या सुप्रादेव विट्प्रार्थना क्रमा भ्यवेता ।
साधोरप्याचार-भ्यप्रस्य विस्तरत्येवाभ्या विपयादिक्रमेति । अतः संप्रमयोगीयस्मां निरन्तरं
भ्यापुताः कार्य-संघमाः सप्तदशमेव, तद्विपया योग्यापारः, तैरस्मा भ्यापुतो भ्यप्र-
कार्य इति ॥ १२० ॥

अथ—विद्याचक्रे कथा और कुम्भ-बूके (सप्तमके सुप्रकर आहवाक्ये सर्वथा संप्रमके पाठन
करनेमें बनाये रहना चाहिए ।

भाषाय—किसी बलिपने मन्त्र-बबुके एक विद्याचक्रे बशमें कर दिया । विद्याचक्रे कथा—सुभे
सदा कोई न कोई काम करनेकी आज्ञा देते रहना चाहिए । जमी सुभे आज्ञा नहीं मिलेगी, तभी मैं
आपको मार डारूँगा । बलियेने यह बात मान ली और उठे घर तैयार करने, उसमें धन-भान्य आकर
रखने तथा सोना चाँदी कौरसे भरपूर करनेकी आज्ञा दी । विद्याचक्रे उसका पाठन किया और फिर
आज्ञा भनी । बलिये ने कहा—एक मूख कम्बा बाँध आकर उसे करक बौमबमें गाड़ दो और जबलक में
रूखी आज्ञा न हूँ तबतक उसपर चढ़ो और उठो । ऐसा करनेसे विद्याचक्रे कोई ऐसा कपसर नहीं
मिळ सकता, कि वह बलियेके प्राम के सके । इसी प्रकार वो साधु दिन-उठके अन्तर आचरण करनेके
योग्य किवाबोक पाठनमें लग्य रहता है, वह कभी भी प्रमाद कीलके कशी-भूत नहीं होता ।

रूखी कथा एक कुम्भ-बूकी है । किसी दुराचारीकी दृष्टि एक कान्ठकली सुम्पीपर पड़ी ।
उसने उससे संमोगकी प्रार्थना की । बूके उठे लीकार कर दिया । उसकी सासक्ये जब यह बात
माख्य हुई तो उसने बूके करके काम-भान्यमें बना दिया । बेचारी बू सुबह उठते ही घरमें भाड़ देती
थी, उसका बाद गाबोंसे सानी करती थी उसके बाद बर्तन मकती-भोती थी, फिर (कोई बनाती थी ।
जब परके सब लोग मोजम कर केते थे तो फिर बर्तन मकती थी । पर लीपती थी चटप कौख लूटती
थी, हाथ-पैर भोती थी सासक्ये ठेक बनाती थी । इत्यादि अनेक कामोंमें दिन-रात लगी रहती थी ।
उसको सोनेका समय भी कठिनतास मिळ पाता था । इस प्रकार करके काममें कँस जानेके कारण वह
उस दुराचारी मनुष्यकी बात ही भूख मई । इसी प्रकार वो साधु अपने आचरणके पाठनमें दिन-उठ
लगा रहता है, उसे विपय कीलके कथा भूख ही जाती है । अतः आहवाक्ये सर्वथा संप्रमके भ्यापारमें
बनाये रहना चाहिए ।

इयं विहितक्रियत्युद्यनम्यप्र पेक्षिकेषु मोगकारणेषु भावयेद्विन्वितान् इत्याह—

इस प्रकार वो साधु शाखविहित क्रियाबोक पाठनमें लग्य रहता है, उधे इस लोक सम्कनी
भोतके कारणोंमें अविन्वितान् विचार करना चाहिए, यह करते हैं —

क्षुण्विपरिणामधर्मा मर्त्यानामृद्विसमुदया सर्व ।

सर्वे च शोकजनका सयोगा विप्रयोगान्ता १२१ ॥

टीका—क्षणेन विपरिणामधर्मा । विद्युच्चः कुस्त्यायाम् । कुत्सितो परिणामधर्मा—स्वता प्रीतिकारिणः सन्तोऽप्रीतिकारिणः परिणतिविशेषोऽत्राप्यस्ते स्वल्पेणैव काष्ठेनान्यस्वभावा भवन्ति । मरणधर्माणो मत्या तेवामृद्विसमुदयो विभूतिसमुदया धनधाम्यद्विरप्यसुवर्णादयो सर्वे दक्षिणोत्तरमधुरादयनिवासिबन्धिभ्यविभूतिसमुदयकर्तृ अन्यथास्वय प्रतिपन्ना शोकहेतवो निपमे न स्युः । संयोगा पुनपक्षीप्रभृतयो विप्रयोगान्ता एव भवन्ति । न खलु कश्चित्संयोगोऽस्त्यास्यन्ति । इति भाष्यतोऽभिन्नापस्तेषु न भवतीति ॥ १२१ ॥

अप—मनुष्योक्षी समी सम्पदा क्षममरते बदरुनेवाक्षी हे । और समी सयोग अन्तमे वियोग वाशे होनेके कारण शोकको पैदा करते हैं ।

भाषाय—मनुष्य स्वमारते ही मनुष्य काइत है । उसकी धन धाम्य सम्पदा भी क्षममरते ही हवा हो जाती है । जो वस्तुएँ उसे व्याज प्यारी लगती हैं, वे ही कठ बुरी लगने लगती हैं । पत्नी, पुत्र शौचका सम्पत्त भी अन्तमे वियोग क किए ही होता है । कोई सम्पत्त सर्वदा नहीं रहता । कत उसके रज ही होता है । ऐसा निचार करते रहनेसे उनमें अभिजापा नहीं होती है ।

तस्मान्न किञ्चिद् विषयसुखानिवापेन इति दशयथाह—

अतः विषयसुखक्षी अभिजापा करना म्यर्ष हे, यह बतछते हैं —

मोगसुखे किमनित्यैर्भयवहुले कांक्षिते परायत्तै ।

नित्यमभयमात्मस्य प्रथमसुख तत्र यतितव्यम् ॥ १२२ ॥

टीका—शुभ्यन्त इति मोगा शब्दादय तच्चाभितानि सुखानि मोगसुखानि । तानि योक्तुम म्यायेनामित्यानि । किम् इति सपे । न किञ्चिदेभिः इत्यभिप्रायः । भाषयन् परिहायादाभिभूतिसन्धो नित्यमेवादाहृते । मोगसुखकारणेषु मृद्विसमुदयेषु भयवहुलेषु प्रभूत-मयेषु । कांक्षिते इति—अभितानि । परायत्त' इति—शब्दाद्विषयपायत्तः । मनोहारिषु शब्दादिवु सत्सु सुखमुपवापते भागवतामिति । तस्मात्तु अभिजापमहाय नित्यम्—आस्यन्ति कम्, अभयम्—अविद्यमानभौतिकम्, आत्मस्वम्—आत्मापत्ते न परायत्तं प्रथमसुख मध्यस्व-स्वाराद्यदिष्टस्योपवास्तकपायस्य दसरेवैविष्यम् । तत्रैव प्रयत्नः काय इति ॥ १२२ ॥

अप—अनित्य, मयसे परिदुम, और परायत्त मोगोके सुखोक्षी शौछसे क्या काम । सनता-क्षी सुख नाय है, मयसे रहित है और अपनी आत्म्यक जयोन है । अतः उससे हो प्रयत्न करना चाहिए ।

१-कारि-प० । २-नाम्ने कर्षः प० । ३-वैद्य-प० । ४-वै-स्वभाव-प० । ५-वै-वै-प० । ६-वै-वै-प० । ७-वै-वै-प० । ८-वै-वै-प० । ९-वै-वै-प० । १०-वै-वै-प० । ११-वै-वै-प० । १२-वै-वै-प० । १३-वै-वै-प० । १४-वै-वै-प० । १५-वै-वै-प० । १६-वै-वै-प० । १७-वै-वै-प० । १८-वै-वै-प० । १९-वै-वै-प० । २०-वै-वै-प० । २१-वै-वै-प० । २२-वै-वै-प० । २३-वै-वै-प० । २४-वै-वै-प० । २५-वै-वै-प० । २६-वै-वै-प० । २७-वै-वै-प० । २८-वै-वै-प० । २९-वै-वै-प० । ३०-वै-वै-प० । ३१-वै-वै-प० । ३२-वै-वै-प० । ३३-वै-वै-प० । ३४-वै-वै-प० । ३५-वै-वै-प० । ३६-वै-वै-प० । ३७-वै-वै-प० । ३८-वै-वै-प० । ३९-वै-वै-प० । ४०-वै-वै-प० । ४१-वै-वै-प० । ४२-वै-वै-प० । ४३-वै-वै-प० । ४४-वै-वै-प० । ४५-वै-वै-प० । ४६-वै-वै-प० । ४७-वै-वै-प० । ४८-वै-वै-प० । ४९-वै-वै-प० । ५०-वै-वै-प० । ५१-वै-वै-प० । ५२-वै-वै-प० । ५३-वै-वै-प० । ५४-वै-वै-प० । ५५-वै-वै-प० । ५६-वै-वै-प० । ५७-वै-वै-प० । ५८-वै-वै-प० । ५९-वै-वै-प० । ६०-वै-वै-प० । ६१-वै-वै-प० । ६२-वै-वै-प० । ६३-वै-वै-प० । ६४-वै-वै-प० । ६५-वै-वै-प० । ६६-वै-वै-प० । ६७-वै-वै-प० । ६८-वै-वै-प० । ६९-वै-वै-प० । ७०-वै-वै-प० । ७१-वै-वै-प० । ७२-वै-वै-प० । ७३-वै-वै-प० । ७४-वै-वै-प० । ७५-वै-वै-प० । ७६-वै-वै-प० । ७७-वै-वै-प० । ७८-वै-वै-प० । ७९-वै-वै-प० । ८०-वै-वै-प० । ८१-वै-वै-प० । ८२-वै-वै-प० । ८३-वै-वै-प० । ८४-वै-वै-प० । ८५-वै-वै-प० । ८६-वै-वै-प० । ८७-वै-वै-प० । ८८-वै-वै-प० । ८९-वै-वै-प० । ९०-वै-वै-प० । ९१-वै-वै-प० । ९२-वै-वै-प० । ९३-वै-वै-प० । ९४-वै-वै-प० । ९५-वै-वै-प० । ९६-वै-वै-प० । ९७-वै-वै-प० । ९८-वै-वै-प० । ९९-वै-वै-प० । १००-वै-वै-प० ।

भाष्यार्थ—मोर्गोसे उपन होबेबाका सुख अभाव होता है, एतदिन चोरोक, कुट्टुविपोक, बालक और राजक म भगा जता है। तथा अन्तरिक विपोक प्राण होनेपर सुख होय है, अन्यथा नहीं होय। अतः उसकी बाध न करके एग और इसके मागसे उपन होतबाक समताकरी सुखको प्राण करनेक प्रयत्न करना चाहिए। यह सुख नित्य है। इसमें किसी प्रकारक मग नहीं है और न यह परके अर्थात् है।

- ५. तच्च सुखममेव इति वदतति—
- ६. यह सुख सुखम है, यह वदताते हैं —

यावत्स्वविषयलिप्सोरक्षसमूहस्य चेष्टयते तुष्टौ ।
 तावत्तस्यैव जपे वरतरमशठ कृतो यत्नः ॥ १२३ ॥

टीका—अक्षसमूहस्य—इन्द्रियग्रामस्य स्वविषयलिप्सोः शब्दाद्विषयवाभिजापिका शम्भावीम् स्वविषयान् अन्तुमिच्छतः तुष्टौ मिये कर्तव्ये पाषण्डयते मयासाः क्रियते। तावत्तस्यैव जपे—अक्षसमूहस्याभिमाने निद्राहो नियमने वरतरं शोभनतरं, बहुगुणमशठं मायारहितसूत्रुणा पितेन यत्नः कृतः। 'वरतरमशठम्' इति क्रियाविशेषणम्। यत्न तत् क्रियते तत् वरतरमशठमिति। इत्यत्र प्रथमसुखं सुखमम् ॥ १२३ ॥

अर्थ—अपने विषयोंकी इच्छुक इन्द्रियोंकी सन्तुष्टिके लिए बितना प्रयत्न किया जाता है, उनके जीतनेमें एक-कपट (द्विज उटना ही) प्रयत्न करना श्रेष्ठ है।

भाष्यार्थ—इन्द्रियों सदा ही अपने विषयोंको चाहती हैं। उन्हें संतुष्ट करनेके लिए मनुष्य बितना प्रयत्न करता है, उटना प्रयत्न यदि सख विच्छेदे इन्द्रियोंके इच्छन करनेमें किया जाये तो उससे प्रथम सुखकी प्राप्ति सदा ही में हो सकती है।

तथा—

यत्सर्वविषयकामोद्भवं सुखं प्राप्यते सरागेण ।

तदनन्तकोटिगुणितं मुधैव लभते विगततरागं ॥ १२४ ॥

टीका—यत्सुखं सकलविषयसामग्र्यामाकाङ्क्षितायाम् उन्मुक्तम्-उपजातम् सपामेव रागता मूपासापासेन प्राप्यते। तत्रेव सुखमनन्ताभिः कोटिभिर्गुणितम् अन्यस्तं मुपैव विना मूलमेव विना चापासेन विगतरागं प्रथमसुखमवाप्नोतीति ॥ १२४ ॥

अर्थ—एगी मनुष्य सब विषयोंको प्राप्तिसे उपन हुए जिस सुखको प्राप्त करता है, वीरुणी मनुष्य उससे अनन्त कोटिगुने सुखको सदा ही में प्राप्त कर लेता है।

भाष्यार्थ—एगी मनुष्यको सांसारिक सुख पानेके लिए इन्द्रियामरके विषयोंकी इच्छा रहती है। इनको प्राप्तिके लिए दिन-रात परिश्रम करता है। तब नहीं बोबादा सुख मिलता है, किन्तु बीरुणी

मनुष्य समस्त किन्ताबोंसे मुक्त होनेके कारण उससे अनन्तगुणे सुखको बिना परिश्रम किय ही प्राप्त कर लेता है। क्योंकि आत्मिक-सुखके किय किसी पर-परदारकी आवश्यकता नहीं होती है।

और भी —

इष्टवियोगाप्रियसप्रयोगकारुण्यसमुद्भवं दुःखम् ।

प्राप्नोति तत्सरारगो न संस्पृशति तद्विगताराग ॥ १२५ ॥

टीका—इष्टस्य चाप्यादेः पुमात्वेना द्विरण्यसुखजद्विर्वा वियोगे, अनिष्टस्य चाप्रियस्य वा संयोगे इष्टे तावद्विप्रयोगाकारुण्यं अनिष्टे च विप्रयोगाकारुण्यं तस्याः कारुण्ययाः समुद्भूतम्-उत्पन्नं यत्सुखं सरारगो विपयसुखामिच्छापि यत् प्राप्नोति तदुक्तं विगतारागो न संस्पृशति-नासादृश्यति ।

विगतारागेण मध्यस्थेन सुखं प्राप्यते । इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

अर्थ—इष्टका वियोग, अनिष्टका संयोग इष्टके वियोग न होनेकी इच्छा, और अनिष्टके संयोग न होनेकी इच्छासे होनेवाला जो दुःख सरारगीको उठाना पड़ता है, भीतरानीको वह दुःख छूट्य भी नहीं है।

माथार्थ—इष्ट पुत्र वहीरहका वियोग हो जानेपर तथा अनिष्ट-अप्रिय वस्तुका संयोग हो जानेपर सरारगीको बड़ा दुःख होता है तथा रात-दिन वह यही चाहता रहता है, किसी इष्ट वस्तुका उसके वियोग न हो और अनिष्टका संयोग न हो। किन्तु भीतरणी इष्ट और अनिष्टमें सममुक्ति होता है। अतः उसे इष्ट-वियोग और अनिष्ट-संयोगसे होनेवाला दुःख कभी नहीं होता।

प्रशमितवेदकपायस्य हास्यरत्यरतिशोकनिमृत्स्य ।

मयकृत्सानिरभिभवस्य यत्सुखं तत्कृतोऽन्येषाम् ॥ १२६ ॥

टीका—प्रशमिता प्रशम नीता वेदकपाया येन । वेदाः क्री पुत्रवृत्सकारुण्यः । कपायाः श्लेषादयः । वेदोदयास्तुमानमिदपति स्त्रियम् स्त्री च पुमांसम् तदुभयं वपुसकम् । तत्रुमपाश [तदुभयस्य चाप्रा-] अप्राप्तौ दुःखम् । प्रशमितवेदस्य तत्र भवति । श्लोभाद्यन्ध्याशीपितोऽपि दुःखमागेष ज्ञायते । शमितकपायस्वातु तदमाशः । हास्यं ह्वपान्द्रवतिः रति प्रीतिविषयेषु सक्तिः । अरतिवेदगः शोको मानस दुःखमिष्टवियोगादी । पतेषु हास्याविषु मोहमेदेषु निमृत्तः सस्यः । सत्यपि हास्यकारणे नास्ति हास्यं न रतिभारतिः । सत्यपि तत्कारण्येषु अनित्यता भावना ततश्च शोकोऽपि नास्त्येव । मयमिहोर्कोवि सप्तविभम् । कृत्सा सुगुप्ता निम्वा । साप्य नित्यताभावात् एवनिश्चिता । मयमपि सावद्यन्ममेव भवकारणापगमाद्वा विजयते । एवं मय-कृत्सान्ध्यार्मनभिभूतस्य यत्सुखं प्रशान्तपेतत्तः तत्कृतोऽन्येषां रतिगामिति ॥ १२६ ॥

अर्थ—विद्युते वेद आर कर्मात्मके शास्त्र कर दिया है, हास्य रति, अरति और शोकमें जो स्वस्थ रहता है, तथा मय और मिथ्याते जो परामृत नहीं होता, उसे जो सुख होता है, वह सुख दूसरों को कैसे प्राप्त हो सकता है ?

भाषार्थ—वेदके उदयसे पुरुष धीकी अमिकाया करता है, वही पुरुषकी अमिकाया करती है और नपुंसक दोनोंकी अमिकाया करता है। उनके न विद्युतेपर हुआ होता है। किन्तु विद्युत के उदय हो जाता है, उसे वह सुख नहीं होता। इसी प्रकार शोषकपी आगमें जलता हुआ प्राणी भी दुःखी ही होता है। किन्तु विद्युती कपाय शास्त्र हो जाती है, उसे वह सुख नहीं होता। इसी तरह हास्य श्मेरुको भी दुःखका कारण जानना चाहिए। ईशिके कारण उपस्थित होनेपर भी जो हास्य नहीं करता, प्रीतिके कारण उपस्थित होनेपर भी किसीसे प्रीति नहीं करता वरिणके कारण उपस्थित होनेपर भी उद्विग्न नहीं होता और शोकके कारण उपस्थित होनेपर भी शोक नहीं करता। प्रिये क किसी प्रकारका मय सदाया है और न जो मिथ्याके वचमें होता है, उस सम्यक्सी मनुष्यको जो सुख होता है वह सुख सभी जनोंको कैसे प्राप्त हो सकता है ?

पुनः प्रथममुक्तस्वयंभोत्कृप विषयमुक्ताभिरुपायाः—

किं न विषयमुक्तसे प्रथमस्य सुखको उत्कृष्ट बतकते हैं —

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी ध्यानतपोयत्नयुतोऽप्यनुपशान्तः ।

तं लभते न गुणं यं प्रथमगुणमुपाभितो लभते ॥ १२७ ॥

टीका—शुद्धचिन्तोपरहितः सम्यग्दर्शनसम्पन्नः, यथासंभवं च मत्सादिज्ञानेन युक्तः, मुमध्यायबोधेन च युक्तोऽपि केवलमनुपशान्तः—असामितवेदकपायोऽनुपशान्तः—तदुक्तं न लभते न प्राप्तोति प्रथमगुणमुपाभितो यं गुणं लभते ज्ञानचरित्रोपचयलक्षणं निरसुक्तगुणं च । न चानुपशान्तः तं गुणमवाप्नोतीति । तस्मात् प्रथममुक्तावैव पतितव्यमिति ॥ १२७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टि, ज्ञानी और ध्यान तथा तपोवचसे युक्त साधु भी यदि असम्पन्न न हो तो उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता, जो गुण प्रथम गुणसे युक्त साधुको प्राप्त होता है ।

भाषार्थ—कोई साधु सदा आदि शेषोंसे रहित सम्बन्धरहित, कर्मापेक्ष्य मति वरिण ज्ञान, और ध्यानसे युक्त हो और वृथा माती उपलब्धी भी हो; किन्तु यदि उसके काम शोचदिक सम्पन्न नहीं हुए हैं तो उसे उत्कृष्ट ज्ञान, उत्कृष्ट चरित्र वरिण उन गुणोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती, जो गुण प्रथम शोचदिके भीतवेदके साधुको सदा हीमें प्राप्त हो जाते हैं। अतः प्रथम सुखको प्राधिके किं ही प्रयत्न करना चाहिए ।

सुबोऽपि प्रथममुक्तस्वयंभोत्कृपयापनायाः—

किं न प्रथम सुखको उत्कृष्टता बतकते हैं —

नैवास्ति राजराजस्य तत्सुख नैव देवराजस्य ।

यत्सुखमिहैव साधोलोकव्यापाररहितस्य ॥ १२८ ॥

टीका—राजराजः—चक्रवर्ती वासुदेववर्षा । पुष्पकङ्कमरुतक्षेत्राधिपतिः, उत्तरोऽथ मरुताधिपतिः । मनुष्यजन्मसुखस्य प्रकृपवर्तिनापेती । चक्रवर्त्यर्थाचक्रवर्तिनोरपि नास्ति तादृशं सुखं यादृशं प्रशमस्यतस्यति । तद्वि चक्रवर्त्यादिसुखं चाध्याविससृष्टिबानितम् तस्य चानित्यत्वं प्राक् प्रतिपादितम् । न चैकान्तेन सुखहेतुत्वं चाध्यावीनां विपरिजतिप्रमत्वात् । वैशम्पत्यस्य सुखं प्रकृत्यै स्वादिति तदपि चोपरितनेन्द्रसुखप्रकृपवदसनात्तदाकाङ्क्षायाः श्रुतिचिन्तनाच्च दुःखस्यति क्षीर्यमेव । अथवा देवराजः सर्वदेवोत्तमत्वाद्पुत्रपरिमाणवासी तस्यापि, यत्सुख तदपि स्थितिद्वयं मनुष्योपिपुत्रगतनिमज्जनं च दुःखमनुचिन्तयतस्तस्यापि न तादृक् सुखमस्ति दुःखहेतुशाकङ्क्षितं परिर्हय सुखं साधोलोकव्यवस्थानि प्रशमस्यतस्य विनिवृत्तसकटाङ्गुल्यात्मरहितगोत्रेपियो विशिष्ट ज्ञानसमन्वितस्य लोकव्यापाररहितस्य । लोकव्यापारः कृम्यादिबहुतिस्यमभोगसाधनोपादिस्ता । एवंबिधेन व्यापारेण रहितस्य प्रशमसुख एव भ्यवस्थापितचेतोहृतेयत्सुखं न तत्र राजराजे न देवराजे इति ॥ १२८ ॥

अथ—सांसारिक संहरतोऽपि रहित साधुको इष्टी जन्मने जो सुख मिळता हे, वहा सुख न तो चक्रवर्ती और अर्धचक्रवर्ती ही सुखम हे और न देवराज इन्द्रको ही सुखम हे ।

भाषाय—चक्रवर्ती अथवा वासुदेव कीरव अर्धचक्रवर्ती राजाओंके राजा कहे जाते हैं । चक्रवर्ती समस्त मरुतक्षेत्रका स्वामी होता है । ये दोनों ही पद मनुष्य पर्यायमें सबसे ऊँचे होते हैं । किन्तु इन्में भी वहा सुख नहीं होता जो निरुक्त साधुको होता है । क्योंकि चक्रवर्ती वनेरहका सुख सांसारिक विषयों और वैभवसे उत्पन्न होता है, अतः वह अस्थिर है । वह बात पहले बतका जाये है कि विषय सर्वथा सुखक देनेवाला नहीं है, क्यों नै स्वामी नहीं होते हैं ।

देव-पर्यायमें इन्द्रका पद सबसे उत्कृष्ट है; किन्तु इन्द्रको भी अपनेसे ऊपरके इन्द्रोंसे देखकर उसको अक्षय्य सत्तही रहती है और मरुतक्षेत्र समीप जायानेपर वहाँसे श्रुत होनेकी विन्त्या सत्ताने काती है । अतः उनका सुख उत्कृष्ट होनेपर भी दुःखसे भिन्न हुआ है । अथवा सर्व देवोंमें उत्तम होनेके कारण मनुष्यराजासी देवोंसे देवराज कह सकते हैं । देवसुखे विनाश और मनुष्य मोक्षमें पुनः जन्म लेनेके दुःखके विचार करनेपर उनका सुख भी दुःखसे भिन्न हुआ ही प्रतीत हो जाता है । अतः वेदम्यमें मग समस्त इन्द्राओंसे रहित अश्रम-रहितको खोजनेवाले विशिष्ट ज्ञानी और सांसारिक प्रवृत्तियोंसे दूर रहनेवाले साधुको इष्टी जन्मने जो सुख है, वहा सुख न तो राजाओंके राजाको प्राप्त है और न देवोंके राजाको प्राप्त है ।

प्रथमसुखमेव पुनः स्पष्टयति—

प्रथम सुखं पुनः सुखात्ता कर्ते ॥ १२७ ॥

॥ १

सत्यज्य लोकचिन्तामात्मपरिज्ञानचिन्तनेऽभिरत ।

जितरोपलोभमदन सुखभास्ते निर्न्वर साधु ॥ १२९ ॥

टीका—श्लोकः स्वयमः परिचयश्च, तद्विषया चिन्ता वाचिद्विद्वीर्माग्वादिज्ञानम्, अकृतपुण्यानाञ्च परलोके पुनरितिप्राप्तिः। अथा, तां परित्यज्य विहाय भात्मनःपरिज्ञानम्-अनादी संसारेऽप्यमात्मा प्राचीपाणि मानसानि बुभ्वाभ्यनुमन्व वृत्तः। काममोगसुखेषु कथमपि मनुष्यजन्मासादितवान् बोधिञ्च तद्वपुना यथा संसारे बहुदुःखं न भ्रमति तथा प्रयत्नः कर्षो मया इति भात्मपरिज्ञानचिन्तन एवाभिरतः परकथयविमुक्तः। चिन्ताः परिभूता रोपलोभमदनादयो येन। रोपग्रहणाद् द्वेषः, लोभग्रहणाद्वाग मदनग्रहणात् पुण्यकेशादि। एतज्जयाञ्च सुखभास्ते-स्वस्व-स्तिष्ठस्युपवद्रपरहितः। स्वरो रोमविशेषः, तेन प्रस्तः परितापविशिष्टरक्षणमेव। एतमचिन्तनं सुखभास्ते। स एवविशेषो निगतोऽपतो स्वरो यस्मात् स निश्चयः। अत्र इव स्वरो रोपलोभमदनादयो। मोक्षसाधनाभ्युपगतः साधुरिति ॥ १२९ ॥

अर्थ—स्वयम और परजनकी चिन्ताको छोड़कर वास्तवके ज्ञानके चिन्तनमें कर्मकीन हुआ और (ग) होय और कर्मको जीतनेवाला अत्यन्त बीरोग हुआ साधु आत्मपूर्वक रहता है।

भावार्थ—अपने कुटुम्बिकों और दूसरे लोगोंको छोड़ करहेते हैं। उनको इच्छित्य, अनान्य-पन, पुण्य न करनेपर परलोकमें दुर्लभिकी प्राप्ति, इत्यादि बातोंका विचार करना लोक-चिन्ता है। साधु इस चिन्तासे दूर रहता है। तथा सर्वदा यह विचार करता रहता है कि— इस संसारमें शारीरिक और मालसिक सुखोंको मोगते हुए और काम मोगसे कमी तृप्त न होते हुए इस अज्ञाने किस्ती तरह यह मनुष्य-जन्म और ज्ञान प्राप्त किया है। अतः अब मुझे ऐसा प्रयत्न करना चाहिए जिससे सुखोंसे भरे हुए इस संसारमें पुनः भ्रमन न करना पड़े। तथा राम-द्वेष और कर्मको जीत देनेके कारण यह साधु रोम-रहित हो जाता है, क्योंकि रागादिक नकारिक रोगोंके समाप्त ही सुखदायी हैं। अतः संसारके जोनों-ही चिन्ता छोड़कर आत्मक चिन्तन करनेवाला शीतपानी साधु सुखपूर्वक निश्चित रहता है।

सत्यज्य लोकाचिन्ताम् इत्युक्तम्। तत्कर्म परित्यक्तलोकाचिन्तस्व भरणपोषवादि-
विपरम्पः स्यात्। इत्याह—

अत्र लोकाचि चिन्ता छोड़नेका निर्देश किया है। अतः लोककी चिन्ता छोड़कर साधु अपनी भरण-पोषण कैसे करेगा। इसका समाधान करते हैं।

या चेह लोकवार्ता शरीरवार्ता तपस्विनां या च ।

सद्दर्मचरणवार्तानिमिचकं तद्द्वयमपीष्टम् ॥ १३० ॥

टीका—वर्तनं वृत्तिः भरणपोषणादिका वृत्तिरेवंप्रकारा यस्याधिपते सा वाता कृपि पशुपाश्यादिभिर्यादिः लोकस्य वाताः तस्याः चिन्तनमेतादृशेव लोकवातायामुपस्थिते भिक्षाकाले स्यात्समेवोपसाधितेऽशानादिषु हिण्डमानोऽकृताकारितानुप्रमत्तमशानादि यत्तुभ्यते लोकवाता । पतस्तच्छरीरवार्तायाः कारणं भवति, साधुनां शरीरवृत्तेः शरीरस्थितेरिति मवति तपस्विनाम्, तत्र येयं लोकवार्ता या च तपस्विनां शरीरसंभारणवाता पतन्वार्ताद्वयमपि सद्भ्रमणरणवाता- निमित्तकमिदम् । सद्भ्रमो दशाक्षरकः समादिः । कारणं मूत्रोत्सर्गपक्षपायः । सद्भ्रमणरणवृत्तिः सद्भ्रमणरणवाता । सद्भ्रमणरणवृत्तेरन्तरं कारणं शरीरसंभारणम् शरीरसंभारणवृत्तेश्च लोक- वार्ताकारणम् । पारम्पर्येण सद्भ्रमणरणवार्तायां लोकवाता कारणमिति ॥ १३ ॥

अथ—ओ लोक-वार्ता और शरीर-वार्ता साधुओंके समीचीन धर्म और आदिब्रह्म प्रवृत्तिमें कारण है, वे दोनों इष्ट हैं ।

भाषा— वाता सम्प्रके दो अर्थ होते हैं—एक जीविक और दूसरा वात । खेती पशु-पालन स्यापार और लोक-वार्ता कहे जाते हैं । भिक्षाके योग्य कालमें शरीरकी स्थितिके लिए मोहन बनेरहेके निमित्त भ्रमण करता हुआ साधु कर्म, कारित, और अनुबोदनात् रहित मोहन और प्राप्त करता है, वह लोक-वार्ता है । यह लोक-वार्ता स धुओंके शरीरकी स्थितिके कारण होती है । और ये दोनों ही वार्ताएँ उत्तम धर्मादिके धर्म और मूत्रगुण तथा उत्तममूत्रगुणके आदिब्रह्म प्रवृत्तिमें कारण होती हैं । क्योंकि मोहनके बिना शरीर नहीं रह सकता और शरीरकी स्थितिके बिना धर्माचरण नहीं रह सकता । धर्म धर्माचरणमें शरीर-स्थिति कारण है और शरीरकी स्थितिके कारण लोक-वार्ता है । अतः परम्परासे लोक-वार्ता की धर्माचरणकी प्रवृत्तिमें कारण है । इसलिये ये दोनों ही इष्ट हैं । किन्तु इतना प्यान रखना चाहिये कि शरीरकी चिन्ता अतनी ही पर्याप्त है अतनी धर्माचरणके लिए आवश्यक हो और मोहनकी वार्ता भी अतनी ही पर्याप्त है, अतनी शरीरको बनाये रखनेके लिए आवश्यक हो ।

अपि च लोकवार्ताम्येवमेव प्रयोजनमिदमपरम्—

लोक-वार्ताको रखनेमें एक दूसरा कारण भी बतलात है —

लोक स्वत्वाधार सर्वेषां ब्रह्मचारिणा यस्मात् ।

तस्मात्स्यैकविरुद्ध धमविरुद्धश्च सत्याजम् ॥ १३१ ॥

टीका—लोक स्वत्वाधारः अतः सर्वेषां ब्रह्मचारिणा यस्मात्—ब्रह्म संयम सप्तदशमम् तद्योगात् सयमिनस्तेषां सर्वेषामिति गच्छन्नासिनां गच्छ- निगन्त्यानाम् । तस्मात् लोके यद्विरुद्धं वातमृतकसूनकसमूहनिपाकृतादिपदेषु भिक्षादिग्रहणम- भोग्येषु च परिहायम् । तथा चार्थ्यरप्युक्तमुक्तम्—

१-नेत्रिका एवं प्रकाश-क० व० । २-इतिहे-क० व० । ३-वात्पदे-व० । ४-रघार-क० ।

५-रघार-क० । ६-वर्धे वा-प ।

ये अर्द्धिं दुर्गुक्तिषो ऋतु पम्बाणवसहि भक्तपावेषु ।
श्लिष्यवयमे पहिङ्गुत्वा बभूव्ये तद्वा पयस्तेन ॥ १३१ ॥'

यद्य जोकैःकरोते'ऽविकरं मधुमांसजसुनशीवानस्तच्छयाधि धमसाधनविकन्दमनक
तदपि परिहार्यमिति ॥ १३१ ॥

अर्थ—यतः जोक सभी सुयमितोक्त आहार है। अतः जोकविकर और कर्मविकर कर्मोक्तो
होय देना चाहिए।

भाषार्थ—सभी सभी जोकमें ही निवास करते हैं। अतः जो कर्म जोकविकर हैं, वेस—
जन्म मरणके सूत्रकाष्ठे और वासि बहिष्कृत बगैरह मरोंमें मिच्छा केना, न करना चाहिए। तथा जो
कर्म कर्मविकर हैं, वेते स्मिरा, मांस कांसुन और अनल्पकज्य वनस्पतिश्च मद्यज्य कर्मैश्च, उन्हे भी
न करना चाहिए।

इतश्च साकृन्वातांस्तेषुर्भे भेदोऽस्ति इति दर्शयति—

अथ जोक-वार्ताको कस्यानकर्त्री क्तकाले है—

देहो नासाधनको लोकाधीनानि साधनान्यस्य ।

सद्धर्मानुपरोधात्तस्मात्सोकोऽभिगमनीय ॥ १३२ ॥

टीका—सारीरमाद्यं ऋतु धमसाधनम्। तस्य च देहस्याहापोपविशस्याः साधनम्
साधनपहितस्य देहस्यासमव एव। तानि चास्य साधनानि लोक्याधीनानि लोक्यायत्तानि भवन्ति ।
अतः किम्? सद्धर्मानुपरोधात्—सद्धर्मस्य समादेशविरोधात् सोकोऽभिगमनीयः—लोक्यातां-
श्लिष्यभेदमव करणीयम् इति ॥ १३२ ॥

अर्थ—साधनके बिना शरीर नहीं रह सकता। और उसके साधन जोकके आधीन हैं। अतः
सर्वोधीन कर्मके अविकर जोकका अनुसरण करना चाहिए।

भाषार्थ—धर्म-साधनका प्रदान शरीर है। अतः शरीरक साधन भोजन वगैरहके बिना शरीरका
रिक्ता अवमव ही है। किन्तु वे सभी साधन जोकके आधीन हैं। अतः जोक-वार्ता करनी चाहिए, किन्तु
इतना ध्यान रखना चाहिए कि वह जोक-वार्ता कर्मके विकर न हो।

पर एवोपदद्या मयति गुणदोषयोः इत्याह—

दोष और गुणकी शिक्षा जोऽस्ते ही देनी चाहिए, यह क्तकाले है।—

दोषेणानुपकारी भवति परो येन येन विद्वेष्टि ।

स्वयमपि तदोपपदं सदा प्रयत्नेन परिहार्यम् ॥ १३३ ॥

टीका—येन येनाभ्यस्यमानेन कर्मणा परो लोको विद्वेदि-कृष्पति, मवति चानुपकारी, प्रस्युतापकारे प्रवर्तते । स्वयमपि भात्मनापि तद्वोपपदं परिहार्यमप्रमत्तेन सता भन्या कुवन् परस्य ह्यः किञ्चिदप्रियकारणम् तद्वेक्ष्य स्वयमपि तद्वोपस्यामं परिहायम् भनेनास्याप्रिय मवति इति सकलप्रमादपहितेन परित्यजनीयमिति ॥ १३३ ॥

अथ—निस तिस दोपसे दूसरे लोग अनुपकारी हो जाते हैं; इय करने जगते हैं, उस दोष स्थानको स्वयं मी सदा प्रयत्पूर्वक छोड़ देना चाहिए ।

माभार्य—जिन कर्मोंके करनेसे दूसरे लोग क्रोधित हो जाते हैं और अपकारतक करनेपर उदार हो जाते हैं, जिन किसी प्रमादके उग कर्मोंके दुरन्त छोड़ देना चाहिए । अर्थात् साधुने यदि किसी बादमीको कोई ऐसा अप्रिय कार्य करते देखा जिससे लोग उसके दुश्मन हो गये तो उस कार्यको दुराईका पर जानकर साधुको उससे बचना चाहिए ।

यद्यतत्पिद्विद्विषय तर्पतदपि ' इत्याह—

तथा—

पिण्डैपणानिरुक्त कर्त्व्याकल्पस्य यो विधि सूत्रे ।

प्रहणोपभोगनियतस्य तेन नैवामयमय स्यात् ॥ १३४ ॥

टीका—पिण्डैपणाभ्यपने निरुक्त-निश्चयेनाभिहितः उद्गमोत्पादनपत्रोपरहितो यो विधिः कल्पनीयाकल्पनीया-प्राज्ञत्याग्यज्ञक्षणा, सुप्ते-पारमर्षे भागमे । प्रहणे निषेधः परिमितो प्राज्ञो यथाग्यज्ञनीयवोपो न भवति, उपभोगे च नियता द्वाभिधतः कल्पनायां न्यूनागामेनाभ्यस्यहारः अयः । तर्थाप्यर्षेऽप्युक्तम्—

अनुमसणस्स सम्भजनस्स कुग्घा दवस्स दो भार ।

बायपबिभारण्ट्ठा छग्गामं ऊणयं कुग्घा ॥ १ ॥

इत्यथ प्रहणोपभोगनियतस्य कल्पनीयस्य तेन विधिनाऽभ्यस्यद्वियमाणस्य न ज्ञातु- किञ्च आमयमयम्-अधीत्यज्ञनित्यव्याधिमयं भवेत् । एवं च मान्यादि-दोषाधिकरणपरिहार- चम्प्यसु च क्रियासु प्रवृत्तेरपरिहानिः । तस्मात्कल्पस्यपरिहारेणापरिमितानियत भोगत्यागेन च मुञ्चानस्य न किञ्चिदुत्पत्तीति ॥ १३४ ॥

अथ—परमामर्षे पिण्डैपणा नामके अभ्यपने प्रहण करने योग्य और स्नानन योग्य रूप जो विधि बतकार्य है, उसी विधिसे जो साधु परिमितक प्रहण और परिमितक उपभोग करता है, उसे कभी रोगक मय नहीं रहता ।

मासार्थ—परमानन्दे एक अध्ययनमे मिश्रायै विधि वक्तव्यम् । इत्येवम् एव अध्ययन—
 कृत्वादिभिर्होतृणां अध्ययनम् । तस्मै वक्तव्यम् । किं साधुके प्रथमं कर्तव्यं कथम् । अथ अत्रेव योऽपि
 कथम् । तस्मै अनुसृतं यदि साधु परिमितं भोजनं कृते प्रथमं कृते, तिसृषु उते नृत्नं भोजनं
 पापं न वदन्ता एव तथा परिमितं अर्थात् बधीस माससे कम ही भोजनं कृते, तो उते अतीर्णं मन्वादि
 क्रीडा रोग नही हो सकते और बार्निक क्रियाओंमें हानि होनेका सम्भावना नही रहती । अथ अपरि-
 मितकर त्याग करके भोजन करनेवाके साधुको कोई दोष नहीं लगता ।

एतदेव स्पष्टयन्नाह—

अतीको स्पष्ट करते हैं —

त्रणलेपाक्षोपाङ्गवदसङ्गयोगभरमात्रयार्थम् ।

पद्मग इवाम्यवहरेदाहारं पुत्रपलवम् ॥ १३५ ॥

टीका— त्रणलेपकत् अक्षोपाङ्गवद इति दृष्टान्तद्वयम् । प्रणलेपस्तावानेव देवो यावता
 पूषादिभिर्होतृणां संयोगे भवता । अतोऽतिमात्रयाऽकिञ्चित्कर्मैव हेतुज्ञानम् । अक्षस्व उपाङ्ग-
 अन्वयज्ञानम् । तथा नवनीतादि तारमन्त्राभयेव शीयते यावता शकटं भारमुद्दति भगवासेन । न
 चास्तीति कृत्वा प्रकामं नवनीतादेरन्वयज्ञानस्य दानम् निष्कृत्वात् । एवं साधुनाऽपि सुप्रण
 संयोगेनाप्यज्ञात्वेनमभानमसङ्गयोगभरमात्रयाऽपि कार्यम् । सङ्ग स्नेहः योगा मनोबाधका ।
 योगेषु क्षीणेषु साधन्यन्त्रायासपरिहारोऽसङ्गः । अतोऽसङ्गयोगः—योगेणसंगः इत्यर्थः ।
 योगानां मरु-क्रियापुष्टानम् । यावता क्रियासमयं शरीरादि भवति तावन्मात्रमेवाभ्यस्येदति-
 नातिरिक्तम् । याथा वसविषयकज्ञातसमाचारिस्वाभ्यासमिसाधनमप्यदिका च याथा-
 त्वयम् । पद्याह—

तं पि न क्वरसत्यं भुञ्जतां न चेष इत्यर्थम् ।

अन्मपुत्रवहप्राप्त्य अरुक्तोपगो न क्वरस्यं ॥ १ ॥

भोजनैपजामपिहृन्नाह— पद्मग इवाम्यवहरेदाहारम् । सपेहि मत्स्यमपित्वा न
 क्वपमाचरति प्रस्य एवं गिहस्येव तथा साधुरपि भुञ्जानो न चर्वने करोति । तथा चापसुत्र-
 नो वामाठ इपुष्पाठ दाहिर्न इपुष संकमेना दाहिवाठ वामं इत्यादि ।

पुत्रपलवम्—पलं मांसम् पुत्रमांसम् इत्यर्थः । पुत्रशब्दोऽपत्यवचना । विद्यतपुत्र-
 न्यापवित्तदुहितृमांसास्वादनवदिति । अयमभिप्राय—पितृर्जातुषा भक्षयतस्तस्मात्सं न तत्रासि
 रसगात्रधम् शरीररक्षणार्थमेव केवलं ताभ्यामास्वादिते न रसार्थं इत्यर्थं वा मांसोपयोगः कृत्वा ।
 तथा साधुनाऽपि रसेभ्यश्चेन इत्यादिबहिर्जन पथात्तन्म-मेपजीयम्—मोक्षम्यमिति ॥ १३५ ॥

१-अं ठे-प । २-नदिन-प । ३-तकारेणो-प । ४-पुत्रपलं मां-प, न ।

अथ—शरीरादिकमें निःस्पृहता, संयमका निर्वाह और पात्रके छिपे पात्रके छेपकी तरह, गाड़ीके पहियेके बाँगठकी तरह, और पुत्रके मांसकरी तरह सौंपकी नार्ई मानन करना चाहिए।

भाषाय—नाशपर उठना ही छेप लगाना चाहिए, जिससे उसका मवाद बुर हो सक और नाश भर सक। उससे अधिक छेप लगाना बकार है। पहियेको बाँगठे समय उठना ही ठेक देना चाहिए जिससे गाड़ी सरकनाक साथ बोझा ठो सके। अधिक ठेक देना बेकार है। इसी प्रकार साधु भी मूखकपी बाबको पूत्रके छिपे आहारकपी कपको उठना ही केता है, जिससे शरीरादिकमें क्षाण्य और सफ़ाई कीरहका मात्र उत्पन्न न हो और शरीरादिक नित्य-क्रियाओंके करनेमें—स्वाध्याय भिक्षाटन कीरह तथा गमना-गमन करनेमें समर्प बना रह।

तथा सौंप जैसे अपने बाहारको चट निगल जाता है—जवा जवा कर नहीं खाता, जैसे ही साधु भी जवा-जवा कर नहीं खाता। तथा—

जिस प्रकार बिनाकी पुत्रके द्वारा मासि गई पुत्रीका भोंस उसका पिता बगैरहम करके अपने शरीरकी रक्षाक छिपे ही खाया वा उस भोंसके स्वादमें ठनकी कोई भासकि नहीं की, जैसे ही साधुको भी स्वादमें भासक न होकर खजा-खजा-जैसा भिन्न जाये, खा देना चाहिए।

पुनरभ्यवहारमेव विहितम्—

फिर भी मोहनक ही बारेमें कहते हैं —

गुणवदमूर्च्छितमनमा तद्विपरीतमपि चाप्रदुष्टेन ।

दारूपमभ्रुतिर्ना भवति कल्यमास्वाद्यमास्वाद्यम् ॥ १३६ ॥

टीका—गुणवन्-इष्टरसगन्धम् । मूर्च्छितं मीत रागयुतं चेतो यस्य स मूर्च्छितमनाः । न मूर्च्छितमना भ्रमूर्च्छितमनाः, तेन भ्रमूर्च्छितमनसा भ्रम्यमास्वाद्य भोग्यमिति । तद्विपरीतमिति भ्रमनोद्धमनिष्टरसगन्धम् । तदपि भ्रयदुष्टेन भ्रद्विष्टेन द्वेषरहितेन इत्ययः । याप्रासादनमाप्रमा उन्मनीकृत्य परिक्लिष्टेपनीयमरक्तद्विष्टेन चित्तनाभ्यवहरेत् । दारूपमा भ्रुतिपस्याधिकारिणी । कष्टं हि वाप्यादिभिस्तत्प्रमाणं न देयं भवत नापि चन्दनपुष्पादिभिः पूज्यमान राग-मुदहति । यथा तद्वचन रागद्वेषरहितं तद्वत्साधु नापि सत्यपि चतनाबन्ध इष्टानिष्टऽभ्रपानकाम सति मोक्षम्यम् भरक्तद्विष्टेन क्लृप्तनीयमास्नाद्यभसर्णीयम् । पुनः आम्वाद्यम्' इति मोक्ष-प्यम्' इत्ययः ॥ १३६ ॥

अथ—एकहीठ समान धैर्यशाही साधु प्रहस करके योग्य स्वादिह मोहनको धरा रहित मनसे और स्वाद रहित मोहनको भी द्वेष रहित मनस यदि क्या है तो वह मोहनक योग्य मोहन होगा है।

मासार्थ—कर्महीनो यदि वसूलासे छीमे तो वह देव नहीं करती, और यदि पुण्य चन्दन वहीछसे बसुकी पूजा करे तो वह राग नहीं करती । उसी प्रकार सासु सचेतछ होनेपर भी इष्ट और बलिष्ठ ब्रह्म-पानमें रम-देव नहीं करता । इस तरह राग और देव (द्वित मनसे किया हुआ मोहन ही सायुक्त उपयुक्त मोहन होता है ।

‘तत्र मोहनं कान्धाद्यपेक्षमभ्यवहित्यमाणं नाजीर्णाद्विदोपकारि भवति इति वर्तयति-
कान्धादिक की अपेक्षासे प्रथम किया हुआ मोहन, जकीरं वहीछ रोगोक्ते उपक नहीं करता,
यह बतलाते हैं —

कालं क्षेत्रं माश्रां स्वात्म्यं द्रव्यगुरुल्लाघवं स्वधलम् ।
ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यं मुञ्चे किं भेषजैस्तस्य ॥ १३७ ॥

टीका—मोहना कान्धोऽपेक्षणीय ग्रीष्मकर्णाशिशिरमेकः । ग्रीष्मे बहुपानकं पातय्य
मतः स्वस्वतरं मुञ्क्ते यत्र मत्त पानं नाऽऽह्वयेनीय जीयते । तथा कर्णसु साधारणं मत्तं पानं च
यथोदरपद्मभाग ऊनो भवति तथा मुञ्क्ते । शिशिरे बहुमेव मुञ्क्ते स्वस्वतरमुदकमापिबति । तथा
क्षेत्रं सौपेक्ष्यम् कसं स्निग्धं शिशिरे च त्रिधा क्षयम् । तत्र कसे सुरापानौ बहुमत्तमोवी
भवति । स्निग्धे बलवद्बुद्धिपये माभ्यमभ्यवहारं कर्तव्यं यथा सुखं भवति । तथा
शिशिरक्षेत्रे सीतवद्बुद्धे कस्मीर्यदौ भक्षपरिपाका सुखो भवति यथा तथाऽभ्यवहर्तव्यम् ।
माश्रा निवाश्रिबन्धापेक्षा । प्रमाणयुक्तोऽप्याहारः कस्वचित् क्षमते, अतः तादृशी माश्रा
फल्यमा वा सुखं भवति । स्वात्म्य इति स्वमातः । कस्वचित्स्वत्पन्नसिग्धं यथाहार
सुखं परिजमते कस्वचित्सुखं, कस्वचित्स्वत्पन्नः । विरुद्धद्रव्यसम्पर्कोऽपि कस्वचित् सुखावह,
कस्वचित्सुखकर, स्वात्म्यस्वानेकप्रकारत्वात् । द्रव्यं माश्रिषं इति क्षीरं वा गुरु, बहु तु गर्भं
इति पयो वा । एवमभ्येवामपि द्रव्याणां गौरवं जायते च अण्डकलायव्योदनान्दीनां क्लान्त
स्वच्छं च वातप्रकोपादि व्याधिपित्तमहृपित्तं च ज्ञात्वा योऽभ्यवहार्यमवादि मुञ्क्ते किं भेषजै-
स्तस्य इति—न किञ्चिदौषधंस्तस्य प्रयोजनम् । मनवक्ययानि हि तत्र भेषजानि इत्यर्थः ॥१३७॥

अर्थ—कस्य क्षेत्र, माश्रा, स्वमात, इत्येक्य मारीपना और इत्येक्यपना तथा अपनी सतिक्ते
जानकर जो मोहन करता है, उसे जोषिते क्या प्रयोजन है !

मासार्थ—मोहाको गन्धी सुदी और कर्ण-काक्य प्यान रखकर मोहन करना चाहिए ।
गन्धी पानी बलिक पीना चाहिए और मोहन कम होना चाहिए । जिससे मोहन सरकतसे हजन हो
सके । कर्ण अद्यमें साधारण पान-पान इत्याः करना चाहिए, जिलेसे पैटर छत्र माग जाती रह सके ।
सुदीमें ठंड बलिक पवती है, कस्य पानी कम पीना चाहिए । तथा मोहाको कसे विकले और ठंडे
प्रदेशमें प्यान रखकर मोहन करना चाहिए । विकले जकप्रधान प्रदेशमें परिमित मोहन करना चाहिए ।

१-कालं-४० । २-वद् बहुतरं वाचयेत्-४ । ३-कला-४० । ४-वक्षेसे सु-४० । ५-
वृद्धि-४० । ६-नी वा कस्य-४० । ७० ।

सेरठ (काठियावाड) वगैरह कच्छ प्रदेशमें पेटका उष्ण भाग खाकी रखकर मोजन करना चाहिए । शीतप्रमाण काश्मीर वगैरहमें इतना मोजन करना चाहिए कि वह सुखपूर्वक हजम हो सके । तथा मोजनकी मात्राका भी ध्यान रखना जरूरी है, परिमित आहार भी किसी किसीको हजम नहीं होता । जठ आहारकी मात्रा इतनी होनी चाहिए, जिसका सरलतासे पाचन हो सके । तथा मोजन ग्रहण करते समय अपने स्वभावका भी ध्यान रखना चाहिए । किसीको क्षणिक भिक्षण मोजन ही अनुकूल पड़ता है, और किसीको सूखा मोजन अनुकूल पड़ता है तथा किसीको न अधिक भिक्षण और न अधिक सूखा मोजन अनुकूल पड़ता है । विद्वय वस्तुओंका संयोग भी किसीको अनुकूल पड़ता है और किसीको प्रतिशूल पड़ता है । मैत का भी-रूप भारी होता है और गीका भी-रूप हल्का होता है । जठ मोजनके समय मोजनके मापीरन और हल्केपनका भी ध्यान रखना चाहिए तथा अपनी शक्ति वगैरहका भी ध्यान रखना चाहिए कि मुझे काल वगैरहकी कुर्ये न्यायि तो नहीं है । उक्त सब बातोंका ध्यान रखकर जो मोजन करता है, उसे कमी जोपनि कमेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वह कमी भीमार नहीं पड़ता ।

ननु च पिण्डप्रतिश्रयवस्त्रपाभादि परिग्रहन् कथमकिञ्चन न्यान्त्याभुर्वापिग्रहो भवेत् ?

इत्याह—

सकृद्—मोहन, आभय, वस्त्र, पात्र वगैरह ग्रहण करनेवाक साधुको अपरिमही कैसे कहा जा सकता है ? इसका समाधान करत हैं—

पिण्ड शय्यावस्त्रेपणादि पात्रेपणादि यचान्यत् ।
कल्प्याकल्प्य सद्वर्मदेहरक्षानिमित्तोक्तम् ॥ १३८ ॥

टीका— पिण्ड ' इति आहारश्चतुर्विधोऽशनीपादि । तस्या प्रतिश्रयः । वस्त्र पाप-
कामचोडपट्टकमुल्लवस्त्रिद्यादि । भादिग्रहणत्त वस्त्रग्रहणे यो विधिदृष्टः स सकृद् परिग्रहते ।
पात्रग्रहणान् प्रतिग्रहकामाप्रग्रहणम् । इहाप्यादिग्रहणान् पात्रग्रहणाविधा यो विधिदृष्टः तस्यापि
ग्रहणम् । यथाभ्यत् इति औपग्रहिकं इण्डकंदि स्रृहीतं कल्पनीय तावदुत्सगतं सद्वम-
रक्षानिमित्तोक्तम् । देह शरीरम् । सद्वर्मो देहावक्षणक क्षमादि । शरीररक्षणे सति सद्वमरक्षणं
तन्मूल्यवाद्मामनुष्ठानस्य । शरीरकं हि संयमानुष्ठानार्थं पोष्यत क्षमादेशमस्याभारस्तदिति ।
कल्पनीयस्य आहारे लघुतरशपासेवन प्राग्बशाभाकमग्रहणम् । एव शय्यावस्त्रपात्रेण्डक-
दिष्वपि योग्यम् । सर्वं च विषया सापदाशं भयुनवश्यम् । एवं सद्वमरक्षार्थं इहरक्षणाय च
सकृदुक्तम् । न चासी परिग्रहः तत्रामूर्च्छितत्वान् । मूर्च्छा परिग्रहः इति लक्षणादिति ॥१३८॥

अप्य—आहार शय्या विधिपूर्वक वस्त्र और पात्र—एवमा तथा अन्य जो ग्रहण करने योग्य और
ग्रहण न करने योग्यका विचार किया है, वह सब समीचीन धर्म और शरीरको रक्षाके निमित्तस कहा है ।

१-पु रि क० व० । २-व रि क०-व ० । ३-प-व रि-व० व । ४-क ववरी ए०
व । ५-वा-व शर्षे प्रसिद्धकं प्र-व० । ६-क-व-व । ७-रि व-व । ८-वेव र्वावे व-व । ९-व ।

भाषाय— जादि पदसे बह और पात्र प्रहण करनेमें जो विधि बतलाई गई है, उस विधिप्र
प्रहण किया गया है। 'अथान्तर्य' पदसे अन्तर्य प्रहण किया है। इन सब बस्तुओंका प्रहण धर्म और
शरीरकी रक्षाके निमित्तसे किया जाता है। शरीरकी रक्षा होनेपर ही धर्मकी रक्षा हो सकती है, क्योंकि
धर्मसुहायक भूषण शरीर है। उपनके पाठन करनेके लिए ही शरीरका पोषण किया जाता है। इसी लिए बहमि
उत्सर्गरूपसे प्रहण करने योग्य बस्तुके प्रहणका ही विधान है, तथापि यदि अपवाद्रूपसे प्रहण करने
योग्य बस्तुका काम न हो तो अन्तर्वेत्तसे कुछ बस्तुके प्रहण करनेका विधान किया है। ईश्वरके विधान
अन्वय सभी विषयोंमें अपवाद है। इस प्रकार धर्मकी रक्षाके लिए ही यह सब कथा है। किन्तु यह परि
मह नहीं कहा जा सकता क्योंकि साधुको उनमें मग्न नहीं रहना और मग्नरूपसे ही परिग्रह करते हैं।

एवमुक्त्वा निष्प्रतिग्रहता, सैव च स्पष्टा पुनः क्लिपते—

उसै निष्प्रतिग्रहताको फिर भी स्पष्ट करते हैं —

कल्प्याकल्पविभिन्न संविमसहायको विनीतात्मा ।

दोपमल्लिनेऽपि लोके प्रविहरति मुनिर्निरुपलेप ॥ १३९ ॥

टीका—कल्पनीयं कल्प्यम्—उद्गमादिमुद्गमाहारोपशिक्ष्यादि । उद्गमादिपुद्गलाऽकल्प
नीयम् । तस्य विधि-विधामन्—कल्पनीयेन शरीरपारण्यं कुर्यात् असति अकल्पनीयेनाप्य
सता कार्यं यत्कृता प्राक्कालेन मार्गेण इत्येव विधिः । त ज्ञानातीति कल्प्याकल्पविभिन्नः ।
संविद्य सहायकः संविद्या संसार मीरयो ज्ञानक्रिया युक्तः एवं विद्या सहाया यस्य
संविद्यसहायकः । असहाया सुसहायो वा । विनीतामेति—विशेषेण नीत मात्मा ज्ञानदर्शन-
कारिभोपचारविनयव्यवहारी स विनीतात्मा । एवविद्या साधुः हापमल्लिनेऽपि लोके मूर्च्छामल्लिनेऽ
पि मनुष्यलोके । उगदेपी वा दोषः, तान्म्यामये मल्लिनो रूपितः सर्वो लोकः । एवविद्यलोके
मप्यवस्थापि प्रकृत्यैव विविधमनेकप्रकार एवो इति प्रविहरति मुनिः निरुपलेप—रागद्वेषा-
भ्यामस्तुद्युत सर्वधनविनासकारिणा वा लोभेन मूर्च्छावृत्तान्नाप्रसक्तो निरुपलेप इति । कर्मावयव
पूर्ववत्प्रोक्षणाय प्रकृतैव इति ॥ १३९ ॥

अर्थ—जो कल्पनीय और अकल्पनीयकी विधिको जानता है, संसारसे भयभीत दुपमी अथ
भिसक सहायक है, और भिसने अपनी अल्पका ज्ञान, दर्शन चारित्र और उपचार विनयसे युक्त कर
किया है, वह साधु राग-द्वेषका इति लोकेमें भी राग इत्येव अकृता रह कर विहर करता है।

भाषाय—उद्गमादिसे मुद्ग आहारादिकको कल्प्य रूप करते हैं। और उद्गमादि दोषोंसे मुद्ग
आहारादिकको अकल्पनीय करते हैं। कल्पनीय बस्तुओंसे शरीरकी रक्षा करनी चाहिए। यदि कल्पनीय
न मिले तो अकल्पनीयसे भी रक्षण किया जा सकता है, इसपरि विधि है। जो साधु इस विधिको जानता
है, संसारभीक संपत्ती कोमोंकी गोमोंमें रहता है तथा निरुपे है, वह दोषोंसे भरे हुए इस लोकमें भी दोष-

हित होकर विचरता है। उसके मनीष कर्म-बन्ध नहीं होता तथा पहले बंधे हुए कर्मोंकी निर्मूल होती है, क्योंकि वह शिरुपक्षेप है और प्रवृत्ति करनेकी विधिको जानता है।

कथं पुनर्वापबल्लोकान्ताभाती सत्कृतससर्गो दोषेण छिप्यते ?' इत्याह—

दोषोंसे भरे हुए लोकमें रहकर और उसके साथ सम्बन्ध रखकर भी साधु दोषोंसे छिप्त क्यों नहीं होता ? इसका समाधान करते हैं :—

यद्वत्यङ्गाधारमपि पङ्कज नोपलिप्यते तेन ।

धर्मोपकरणभूतवपुरपि साधुरलेपकस्तद्वत् ॥ १४० ॥

टीका— यद्वत् इति दृष्टान्तोपग्रासे। यथा पङ्कजाधारं पङ्कमव्यावृत्त्यर्थं पङ्कमप्ये स्थितं वा पङ्कजं न छिन्नं। नोपलिप्यते न स्पृश्यते कश्चिन्मै। धर्मोपकरणभूतवपुरपि साधुरलेपक-धर्माधुपकरणं धर्मोपकरणं रजोद्वारणमुल्लङ्घनादिका बोधपङ्ककन्त्यादिभिर्तेन भूतवपुरपि कृतघातीर सरक्षोऽपि स्वैभ्यतिरिक्तजीवकायकृतसरक्षणस्य साधुरलेपक एव छोमदोषेण न स्पृश्यते शुद्धा-क्षयत्वात् 'भूमूर्धितत्वात्' इत्यर्थः ॥ १४ ॥

अर्थ— जिस प्रकार कीचड़से उत्पन्न होनेपर तथा कीचड़के मध्यमें रहनेपर भी कमल कीचड़से छिप्त नहीं होता वैसे ही धर्मके उपकरणोंसे छीरक्ये धारण करनेवाला साधु भी दोषोंसे छिप्त नहीं होता।

भाषाय— कमलको पङ्कज कहते हैं; क्योंकि वह पङ्क कीचड़से उत्पन्न होता है। परन्तु जिस प्रकार कीचड़में पैना होनेपर कमलको कीचड़ नहीं छूटा, उसी प्रकार धर्म-बन्ध बोगरहस्य शरीरका रक्षण करते हुए भी साधुको सांसारिक दोष नहीं छूटा; क्योंकि उसका आशय शिरोप है। उसे किसी भी बन्धसे ममल नहीं है।

तयाऽपरोऽपि दृष्टान्तः—

दुस्तं दृष्टान्तं देते हैं —

यद्वत्तुरगं सत्स्वप्याभरणविभूषणेष्वनभिसक्त ।

तद्वदुपग्रहवानपि न सगमुपयाति निर्ग्रन्थ ॥ १४१ ॥

टीका— यथा तुरगः सत्स्वपि विभूषणेषु बाह्यपद्मनादिष्वश्वमण्डनकेषु बाऽनभिसक्तः— भूमूर्धितः अकृतगात्रनं, न तत्र परिग्रहेणार्थी परिग्रहवान्। तद्वदिति— दृष्टान्तं समीकृत्यति वास्तविकमयम्। तद्वदुपग्रहवानपि— धर्माधुपकरणमुपग्रहं तद्वानपि धर्मोपकरणयुक्तेऽपि इत्यर्थः। न संगं स्नेहं मूच्छामुपयाति। अत एव च बाह्यप्रण्यामावाह्यन्तरत्नाभादिप्रण्या भाषाच्च निग्रन्थ इति। निगतो प्रण्यो निर्ग्रन्थः ॥ १४१ ॥

अथ—जैसे बोझ अपने योग्य गहनीसे निरूपित होमपर भी उनसे मोह नहीं करता । उसी प्रकार निर्मल्य परिग्रहसे मुक्त होनेपर भी उससे मोह नहीं करता ।

भावार्थ—यद्यपि निर्मल्य साधु धार्मिक उपकरणोंको रखते हैं फिर भी उनमें मल्य न होना उनसे परिग्रही नहीं माना जा सकता । जिस प्रकार बोझको मूर्ति मूर्तिके अङ्गहारोंसे अङ्गभङ्ग करनेपर भी वह उनसे मोह नहीं करता है, उसी प्रकार निर्मल्य साधु भी धर्मोपकरणोंसे मोह नहीं रखता है । इसलिये यह परिग्रह उसके संसार लक्ष्यका कारण नहीं है ।

ॐ पुनरथ प्रश्नः । इत्याह—

निर्मल्यका स्वरूप मतकाटे हैं —

अन्य कर्माद्यविध मिथ्यात्वाविरतिद्रुष्टयोगाच्च ।

तच्चयद्देतोरशठं सयतते य स निर्मल्य १४२ ॥

टीका—अन्येते वेदपते चरपते येन स प्रम्यः । तच्च अष्टप्रकारं कर्म ज्ञानावरणाद्यन्तरायपयवसानम् । मिथ्यात्वाविरतिद्रुष्टयोगाच्च । मिथ्यात्वं तत्कार्याभ्रदानम् । अविरतिः अविभक्तिः प्राप्तातिपातादिभ्यः । द्रुष्टयोगा मनोबाधकाया । मिथ्यात्वाद्यभ्याद्विषयस्य फलमो हतय इति प्रम्यशब्दाभ्याम् । तेषां कर्ममिथ्यात्वादीनां अयेऽभिमन्त्र निराकरणे यतते मायादि शक्त्यरहितस्तत्रयद्देतोः । तान् वेप्यामि इति अशठं सन्वगागमोक्तैः विधिना स निर्मल्य इति । एतेन मूलसंभादिप्रिगम्भराः प्रस्तुतम् ॥ १४२ ॥

अथ—आठ प्रकारके कर्म मिथ्यात्व धरिण्डि और अष्टम योग प सब प्रम्य हैं । उन्हें भीतनेके लिये जो कष्ट रहित होकर विनिर्मुक्त प्रकृत करता है, वही निर्मल्य है ।

भावार्थ—जिसके द्वारा प्राणी बोधा जाता है, उसे प्रम्य कहते हैं । इसी लिये ज्ञानावरणादिक कर्म तथा उनके कारण मिथ्यात्व बगैरहको प्रम्य कहते हैं । जिसने मल्य परिग्रहका त्याग कर दिया है और इन अष्टप्रकारपरिग्रहोंको भीतनेके लिये जो फलहीन है, वही निर्मल्य है ।

किं पुनः कल्पमकल्पम् ॥ इत्याह—

कल्प और अकल्पका स्वरूप मतकाटे हैं—

यज्ज्ञानशीलतपसामुपग्रह निग्रह च दोषाणाम् ।

कल्पयति निश्चये यत्तत्कल्पमकल्पमवशेषम् ॥ १४३ ॥

टीका—यत् इति यस्यात् ज्ञान श्रुतमागमः, शीलं मूलोत्तरगुणः, तपःअनघानादि-
 द्वावशभेदम् उपग्रहम्—उपाश्रयनं संबन्धनम् निग्रहं च दोषाणाम्—दोषाः क्षुत्पिपासाद्वेष-
 पीताप्यादयो वा रागद्वेषप्रभृतया वा सर्वा निग्रहं निवारणं करोति । कल्पयति समघमुपग्रहनिग्रह-

१-नामायन ३ वने वेदपठे ४ अन्ता-५०० ६ । २-नां नि-क य । ३ ति वम्य क य ।

धोर्मवति । यद्ब्रह्मस्तु आहारोपविद्यायादि । निश्चये स्ववहारे वा । उत्सर्गो निश्चयो विधिः
अपवादो स्ववहारो विधिः । तत्कल्प्यम् । यस्माच्चिश्चये स्ववहारे ज्ञानादीनामुपग्रहकारि
दोषाणां च निग्रहकारि यद्ब्रह्मस्तु तत् कल्पनीयमवशिष्टमिति ॥ १४३ ॥

अर्थ—यतः जो बस्तु ज्ञान शीघ्र और उपको बजाती है और दोषोंको दूर करती है वह
निश्चयसे कल्प्य है और बाकी सब अकल्प्य है ।

मावाय—स्ववहारमें जो आहारदि बस्तु सुखान् मूल्यान् उत्तरगुण और उपको बजाती
हो, मूल-प्राप्त अवशा एग-द्वेष औरह दोषोंको दूर करती हो, वही साधुके ग्रहण करने योग्य है ।
किन्तु जिसके सेवनेसे धर्मात्पनमें प्रयाद हो और काम-क्रोधादि विकार उत्पन्न होते हों वह
अपवाद है ।

ऐनमेवाय स्पष्टयति—

वही बातको ही स्पष्ट करते हैं—

यत्पुनरुपघातकर सम्यक्त्वज्ञानशीलयोगानाम् ।

तत्कल्प्यमप्यकल्प्य प्रवचनकुत्साकर यश्च ॥ १४४ ॥

टीका—उपघातो विनाशा, तं करोति यद्ब्रह्म आहारादि प्रथमार्थं प्रत्युतोपहन्ति
सम्यग्दर्शनम् सम्यग्ज्ञानमागमारम्यम्, शीघ्रं मूल्याणां उत्तरगुणाश्च, योगा मनोबाधकापाक्याः
महानिशाभ्यन्तरानुष्ठेया वा स्थापारा योगा । तदुपघातकारित्वान् कल्प्यमपि सद्कल्प्यमेव
वृष्ट्यम् । प्रवचनकुत्साकरं यश्च—यश्च प्रवचनकुत्साकरं कुत्सां निश्चं गहा करोति यस्तत्सव
मकल्पनीय मांसमद्यादि अभोग्यादि कुत्सेषु मत्तपापादिग्रहण सपमेव प्रवचनकुत्साकारि
मवत्यकल्प्यमिति ॥ १४४ ॥

अर्थ—जो बस्तु सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान सम्यक्चारित्र्य और दिन-रातमें ही जानेवाली
क्रियाओंको नष्ट करती है, तथा जिससे विन शासनकरि निश्च होती है, वह बस्तु कल्प्य होनेपर भी अपकल्प्य है ।

मावाय—जिस बस्तुसे सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञान एवं सम्यक्चारित्र्यमें बाधा उपस्थित होती है
दैनिक समीचीन क्रियाओंको क्षति पहुँचती है और जिसके उपयोगसे अनेक शासन कल्पकृत होता
है, वह बस्तु अकल्प्य ही मानी जानी चाहिए ।

किञ्चिच्छुद्ध कल्प्यमकल्प्य स्यात्स्यादकल्प्यमपि कल्प्यम् ।

पिण्ड शय्या वस्त्रं पात्र वा भेषजाद्य वा ॥ १४५ ॥

टीका—किञ्चिदाहारादि उन्नमादिभ्योऽपि कल्प्यमकल्प्यमथ स्वात् घृतक्षीरदधि-
गुडादि विकारहेतुत्वात्तन्वापयोः परिहायम् । तथा भकल्प्यमपि कल्प्यम्—तत्रैव क्षीरघृतादि-
वातविकारिणां कल्प्यं ज्ञायत । पिण्ड इति आहारभ्युक्तिः । यस्या प्रतिभयम्, यत्र पात्रं च
नेपथ्यं वा । भौषज्यमपि न्याय्यतांतीभिर्भ्रं संचेतनं वा कल्पनीयमेव मीरोगवपुस्त्वकल्प-
मिति ॥ १४ ॥

अर्थ—भोजन शय्या वस्त्र पात्र अथवा भौषज्य वगैरेषु कोई वस्तु छुद्र अत्यन्त कल्प्य होने
पर भी अकल्प्य हो जाती है और अकल्प्य होनेपर भी कल्प्य हो जाती है ।

भाष्य—आहार वगैरे उन्नमादि दोषोंसे छुद्र होनेपर भी अकल्प्य हो गते हैं । जैसे धी, दूध,
वही गुड वगैरे विकारको उत्पन्न करते हैं । अतः कल्प्य होनेपर भी ज्ञायमे योग्य हैं । तथा अकल्प्य भी
कल्प्य हो जाता है । जैसे वही भी दूध वगैरे अतिक्रमि मनुष्योंके लिए कल्प्य होते हैं । इसी प्रकार भौषज्य
भी रोमियोंके लिए कल्प्य भी है । और स्वल्प मनुष्योंके लिए अकल्प्य है ।

कदा कल्प्यं कदा वाऽकल्प्यम् इति विमञ्जते—

उक्त वस्तुएँ कब कल्प्य होती हैं और कब अकल्प्य होती हैं, यह बतलते हैं —

देशं कालं पुरुषमवस्थामुपघातशुद्धपरिणामान् ।

प्रसमीक्ष्य भवति कल्प्यं नैकान्तात्कल्प्यते कल्प्यम् ॥ १४६ ॥

टीका—देशं प्राप्य किञ्चिदकल्प्यमपि कल्प्यं भवति । कालो दुर्मिक्षादि संप्राप्येवम् ।
पुरुषो राजादि, प्रवक्षितः, तदवयवकल्प्यमपि कल्प्यम् । अवस्था मांघादिकः, तथापि वैशो-
पदेसादकल्प्यमपि कल्प्यम् । उपघाता संसक्तशेषम्, तथा मंशुजादि—संसक्तप्रमादमकल्प्यम्,
तत्रैव चान्याजामे यस्मात्प्रत्ययेभ्यः प्राप्तं कल्प्यमिति । शुद्धपरिणामामिति—शुद्धपरिणामं चेत्सः ।
सबन्तं ह्येव ! शुद्धतोऽकल्प्यमपि कल्प्यं भवतीति । एतदेव दर्शयति पञ्चादैन—

प्रसमीक्ष्य सन्ध्यागाढोप्य कल्पनीयं दृष्टतो भिकान्तात्कल्प्यते कल्प्यमिति न कदा
एकान्तेनैव कल्प्यते ज्ञायते कल्प्यम् । अथवा भिकान्तेनैव कल्प्यतेऽकल्प्यम् अकल्प्यमेकान्तेनैव
न कल्प्यते । न कल्प्यनीयमकल्प्यमिति । यस्मात् देशकालाद्यपेक्षया कल्प्यमकल्प्यं भवति,
अकल्प्यमपि कल्पनीयमिति ।

अर्थ—देश काल, क्षेत्र पुरुष, अवस्था उपघात और शुद्ध परिणामोंके बिना कबके कदा
कल्प्य होती है । कोई वस्तु सर्वथा कल्प्य नहीं होती ।

भाष्य—किञ्चिद्देशमे अकल्प्य वस्तु भी कल्प्य होती है । जिस प्रकार जिस देशके लोग
साधु वनोंके वाहातरिकरी स्थिते परिचित नहीं हैं वहाँ अकल्प्य आहार भी कल्प्य है । दुर्मिक्ष

१-रिमिष्ट-प० । २-गा-हृ व । ३-वेत्त-प । ४-एवमपि विमञ्जते-प० व ।

५-उ-वेत्त-पु-व । ६-उत्प्रेष-क प । ७-वामे-प । ८-शुद्धपरि-प क । मंशुजादि-व म ।

९-सन्ध्यावेत्त-गा-प । १०-वाममिति-प । ११-वायवै-क । १२-किञ्चिदप्यते-व०, सु ।

आदिके समयमें भी अकल्प्य कल्प्य हो जाता है। रात्रघटने बगैरके किसी बच्चे पुत्रपने दीक्षा की हो तो उसके लिए अकल्प्य भी कल्प्य होता है। बीमापी आदिमें वैषिके कहनेसे अकल्प्य भी कल्प्य होगा नीचसे संयुक्त वस्तु, अकल्प्य है किन्तु यदि दूसरी वस्तु न मिले तो अन्धी तरह देख-भाङकर वही कल्प्य हो जाती है। तथा कुछ मामलोंके होनेपर भी अकल्प्य कल्प्य हो जाय है। अतः कोई वस्तु न सर्वथा कल्प्य ही होती है और न सर्वथा अकल्प्य ही। देह, काष्ठ वगैरहकी अपेक्षासे कल्प्य अकल्प्य हो जाता है और अकल्प्य भी कल्प्य हो जाता है।

एवमनेकान्तिर्क कल्प्याकल्प्यविधिं निरूप्य योगप्रयनियमनायाह संक्षेपत—

इस प्रकार अनेकान्तवादके अनुसार कल्प्य और अकल्प्यकी विधिके मन्त्राक्षर मन, वचन और कर्म योगको ब्रह्ममें करनेके लिए संक्षेपमें कथन करते हैं—

तच्चिन्त्य तद्भाष्य तत्कार्यं भवति सर्वथा यतिना ।

नात्मपरोभयवाधकमिह यत्परतश्च सर्वादम् ॥ १४७ ॥

टीका—मनसा तदेव चिन्त्यम्—भाष्येन्यमातर्पित्प्रप्यानद्वयभ्युत्थासेन यथात्मनः परस्योभयस्य बाधकं भवति । बाधाऽपि तदेव भाष्यं भाषणीयं यथास्मादीनां बाधकं भवति सवथा । यतिना क्रायेनापि धावनवर्गनात्रिक्रियास्वागेन तदेव कार्यं कृत्यम् यथास्मादीनां बाधकं भवति । सबाधमिति—मन्त्रा क्कळ- सवकाळम् इत्ययम् । यतमानेनागते च । तत्रापि यतमानाभ्यावहारिकः पट्टिमाह्वः, भनागतश्च सव एव । भतो मनोवाह्यायिः सम्यग्गयापारा क्रायास्तथा यथा स्वस्वोऽपि कमवन्धो न प्रायते इति ॥ १४७ ॥

अर्थ—मुनिके सब प्रकारसे वही विचारना चाहिए, वही सोचना चाहिए और वही करना चाहिए, जो इस लोक और परलोकमें सर्वथा न अपनेको दुखरायी हो, न दूसरोंको दुखरायी हो और न समय को दुखरायी हो ।

भाषा—आर्तप्यान और पितृप्यानको छोड़कर मनस वही विचारना चाहिए जो अपनेको, दूसरोंको, और दोनोंको कमी भी बाधक न हो । बाणीसे भी एसी ही बात बोधनी चाहिए जो अपनेको और दूसरोंको कमी भी कष्ट देनेवाली न हो । तथा शरीरसे भी वही अर्थ करनी चाहिए जो अपनेको और दूसरोंको कमी भी कष्ट देनेवाली न हो । सांप्रस यह है कि मन, वचन और कर्मसे इस रीतिसे कष्ट देना चाहिए कि उससे मोक्षसा भी कर्मबन्ध न हो ।

सम्प्रति इन्द्रियनियममापहे—

अथ इन्द्रियोंको ब्रह्ममें करनेके लिए कहते हैं —

सर्वाधिंष्विन्द्रियसंगतेषु वेराग्यमार्ग विघ्नेषु ।

परिसंख्यान कार्यं कार्यं परमिच्छता नियतम् ॥ १४८ ॥

टीका—सर्वे च तेऽर्थाश्च सव्यरूपगन्धरसस्पर्शाः । इन्द्रिया संगताः—इन्द्रियाणां गोचरतां गतास्तेषु । वैराग्यमार्गविज्ञेषु—वैराग्यमार्गाः सम्यग्ज्ञानक्रियाः, तद्विज्ञेषु—तदन्तर्गताश्चापि । शब्दादिबिषयेषु । परिसंख्यायाम्—इत्यन्तेतान् शब्दादीन् विज्ञातुं निस्ताराणावतावहितान् परिसंख्यायाम् प्रत्याख्याय गोचरवर्तिनोऽपि रागद्वेषवर्जनद्वारेण ज्ञानपरिज्ञया प्रत्याख्यायपरिज्ञया च इत्युभयोर्या प्रकाराभ्यां परिसंख्यायाम् कार्यमित्यर्थः । कस्मात्सुनाः संख्यायाम्ते गोचरमागता विषयाः सव्याख्याः ? इत्याह—कार्यं परामिच्छता नियतम् । काय सङ्ग्रहमक्षयसङ्घो मोक्षः । प्रकृतं परम् । धर्मार्थकाममोक्षानां मोक्षारूपमेव काय परं प्रायम् । कायस्य दुःखात्मकत्वात् दुःखहेतुत्वात् तत्साधनरूपमिच्छात् । अयस्यार्जनरक्षणस्य सङ्गृह्णित्वादिदोषदानान् मनसस्तु चिन्तित्वात् नृसुरैश्च यानां कथातिशेषासु तत्त्वात् । अभ्युदयसङ्घस्य धर्मस्यार्थकामकञ्जस्वान् बुद्धता । सर्वम् आत्मयित्तेकामितिक्रयुत्सवभाक्त्वात् परं काय मोक्षः । तमिच्छता । नियतं शाश्वतम् इत्यर्थः । तच्छेच्छता परं कार्यं विषयसुत्तेषु निस्पृहेषु भवितव्यम् ॥ १४८ ॥

अथ—उत्कृष्टं कार्यं मोक्षके अभिजाती मुनिश्चो नेत्यनेके मार्गमे विप्र करमेवमेव इन्द्रिय सम्बन्धी समस्त विषयमे सर्वत्र नियम करना चाहिए ।

भाषार्थ—एतद् रूप गन्ध, रस और स्पर्शमे पाँचों इन्द्रियोके विषय हैं । ये सभी विषय शैल्यनेके धर्म—सम्बन्धान और सम्बन्धकारिणमे बाधा डालते हैं । अत इन्को विनाशनी, साधारण और उत्तरकात्ममे अहितकारक जानकर त्यागना चाहिए । धर्म, धर्म काय और मोक्षमेव मोक्ष ही उत्कृष्ट पुण्यार्थ है क्योंकि काय पुण्यार्थ तो दुःखका कारण होनेसे दुःख कारण ही है । धर्म पुण्यार्थमे धर्मके क्रमाने रक्षा करने और नाश होने कीरहसे अनेक दोष पाये जाते हैं । यह धर्मार्थ कारण है । मनुष्य तथा देवोका भी ऐश्वर्य नष्ट हो जाता है । अतः उत्कृष्ट कारण है । पुण्यानुसन्धी धर्म पुण्यार्थका फल धर्म और काय है । अतः सर्वथा विनाशनी और सुख कारण होनेके कारण मोक्ष ही परम पुण्यार्थ है । जो मुनि उस परम पुण्यार्थको प्राप्त करना चाहता है, उसे उत्कृष्ट विषयसुत्तेषु निस्पृह बनानाहित होना चाहिए ।

निस्पृहता आनित्यत्वादिभावनापत्ता इत्याह—

निस्पृहत्वं, अभिवादि वारह भावनाओंके अधीन है । अतः मन्त्रकार वारह भावनाओंके विरहित करनेका उपदेश दते हैं—

भावयितव्यमनित्यत्वमशरणत्वं तथैकतान्यत्वे ।

अशुचित्वं ससारं कर्माथवसवरविधिभिः ॥ १४९ ॥

निर्जरणलोकविस्तरधर्मस्वारव्याततत्त्वचिन्ताम् ।

बोधे सुदुर्लभत्व च भावना द्वादश विशुद्धा ॥ १५० ॥

टीका—भावयितव्यम्—अहर्निश चिन्तनीयमभ्यसर्वायम् । किं तत्? अनित्यत्वम्—सकस्यानाम्पशाश्वतानि संसारे नास्ति किञ्चिद्विषयमिति । तथाऽऽधारणत्वम्—अम्मत्रारामरण्यामिभूतस्य नास्ति क्वचिद्विषयं कारणम् । तथा एकत्वभावना—एक एवाहम् इत्यादिका । तथाऽऽप्यत्वमाकर्तो—अभ्य एवाहं स्वजनकेभ्यो जनधाम्यद्विरप्यसुवर्णोद्दि सरीरकाश्चेति । तथाऽऽशुचित्वभावना—आशुत्तरकारणाशुचित्वादिका । तथा संसारभावना—माता भूत्वा दुहिता माया स्वामी दासो दासु भवति इत्यादिका । तथा कर्माश्रयभावना—माश्रयद्वाराणि विवृतानि कर्माश्रयस्तीति भावयत्तन्मातृ स्वगनीयार्णति । तथा सर्वविधिः—आश्रयद्वारनिरोधः स्वयणम् । निरुद्धेष्वभाषद्वारेषु कर्मागमनिराद्यः कृतो भवति । तथा निश्चरभावना निरुद्धेष्वभाषद्वारेषु पूर्वोपात्तस्य कर्मणा तपसा क्षयो भवतीति तथा लोकविस्तरभाषयान् 'ऊढ्यावस्तिप ग्लोकेषु भ्रान्तमनादौ संसारे सर्वत्र विस्तृतं ज्ञातम् इति चिन्तयेत् । स्मारयान्तमचिन्तनं क्षमादि वृत्तक्षणको धमः शोभन भाषयानो निर्वापः अभ्यसत्त्वानुग्रहाय इति भाषयत् । बोधेश्च बुद्धमता भावनीया—मनुष्यसम्मकमभूम्यार्यदेशकृष्णकल्पतापुरुषद्वार्या सत्यामपि सम्पत् कल्पसानाचरणानि बोधिः, तस्य दुर्लभत्वमहर्निशं भावयेत् । एवमेता द्वादश भाषनाः सततमनुभवेक्ष्यात् ॥ १२९-१३ ॥

अर्थ—अनित्यत्व, असारत्व एकत्व अप्यत्व अशुचित्व संसार कर्मोक्त आश्रयकी विधि, संसारकी विधि, निर्जरा, लोकविस्तर अण्डी लक्षणे कहा गया धर्म और ज्ञानकी दुर्लभता ये बातें भाषनाएँ हैं । इनका चिन्तन करना चाहिए ।

भाषा—सभी वस्तुएँ अनित्य हैं, संसारमें कुछ भी निर्य नहीं है । इस प्रकार चिन्तन करनेको अनित्यभावना कहते हैं । अम्म जरा और मृत्युसे भिरे हुए प्राणीको कहाँ भी छान नहीं दे, ऐसा चिन्तन करनेका असारत्वभावना कहते हैं । मैं अकर्मा हूँ इत्यादि विचारनेको एकत्वभावना कहते हैं । अपन कुटुम्बियों जनधाम्य सोना-चाँदी बगैरह तथा छोटी जातिस में निर्य हूँ-ऐसा विचारनेको अप्यत्वभावना कहते हैं । शरीरके आदि कारण रज-वीच तथा उत्तर वरण यमादि धातुएँ अपवित्र हैं । अतः छोटी भी अश्रयिताका घर है-यमा वि उन घरको अशुचित्वभावना कहते हैं । संसारमें माता कभी कबकी और पत्नी हो जाती है और पत्नी माता तथा बहिन हो जाती है । और स्वामी दास तथा दासुनक बन जाया है, इस प्रकार संसार-स्वरूपके चिन्तनको संसारभावना कहते हैं । आश्रयके शरीरके सुख रहनेपर कर्म जात है । अतः उन्हें कर्म करना चाहिए-ऐसा विचार करनेको कर्माश्रय भावना कहते हैं । तथा अश्रयके रोकनेको संर कहते हैं । अश्रयक शरीरके ब र हो जानेपर कर्मोक्त भाषा रुक जाता है, ऐसा विचारनेको संरभावना कहते हैं । अश्रयके शरीरके कर्म होयानेपर तबके

श्राय पहले बँधे हुए कर्मोंका क्षय होता है, ऐसा चिन्तन करनेको निर्जरामात्मना कहते हैं। यह जीव
 अनादिकप्रकृते उर्ध्व लोका, अधो लोका और मध्य लोकमें भ्रमण करता है, इत्यादि लोकके स्वरूपके
 विचारनेको लोकविस्तारमात्मना कहते हैं। मध्य जीवोंके कर्मपाणके किए उद्यम क्षमादि दसकर्मरूप
 धर्म अष्टम कहा है, ऐसा चिन्तन करना-धर्म-स्वात्मगतमात्रवा है। मनुष्य जन्म कर्मभूमि, बार्हस्पत्य,
 कुम्भ निरोमता और आयुके पानेपर भी सम्मन्धानका पाला दुर्कर्म है, ऐसा विचारनेको बोधिदुर्कर्म
 मात्मना कहते हैं। इस प्रकार इन बारह भाषनाओंका राठ-दिन चिन्तन करना चाहिए।

सम्प्रति परिक्रमा कारिकाया भाषनामेकैका कथयति। तत्र प्रथमा भाषनाऽस्तिवारक्या,
 तद्वर्षपचाह—

एव एक एक करिकरसे एक एक भाषनाको कहते हैं। उनमेंसे पहले अमिसमात्मनासे
 कहते हैं —

इष्टजनसप्रयोगर्द्धिविपयसुखसम्पदस्तथारोग्यम् ।

देहञ्च यौवनं जीवितञ्च सर्वाप्यनित्यानि ॥ १५१ ॥

टीका—इष्टेन जनेन सह संप्रयोगोऽनित्याः । अर्द्धिविपयसुखसम्पदा—अर्द्धिः सम्पद
 विभूतिः साप्त्ननित्या । विपयाः शब्दात्पदम्, तच्चनिता सुखसम्पदनित्या । आरोग्यं बीरोगता,
 तद्वृत्तनित्यम्, देहः शरीररूपमाहारस्नानपात्राच्छादनादनुग्रहीतम् एतद्वृत्तनित्यम् । यौवनमपि
 कतिपयविद्यसरमणीयम् बीवितमप्यकालमह्युरम् । ऐवम् एतत्सर्वमनित्यम्' इति भाष
 यतो न क्वचिन् स्नेहा समुपजायते । निस्तद्गन्ध मोक्षचिन्तायामेष व्याप्रियत इति ॥ १५१ ॥

अर्थ—इष्ट भगवा उद्योग अर्द्धि विपयसुख सम्पदा, आरोग्य शरीर यौवन और जीवन—ये
 सभी अनित्य हैं ।

भाषार्थ—पिय जनोंका सम्बन्ध अनित्य है। धन-सम्पदा भी अनित्य है। विपय और उद्योग
 होनेवाला सुख भी अनित्य है। बीरोगता भी अनित्य है। बाल-यौवन स्नान और कपड़े रहित शरीर
 भी अनित्य है। यौवनी भी चार दिनोंकी चँदनी है। जीवन भी असमकर्म ही नष्ट हो जलनेवाला है।
 इस प्रकार इन अष्टमि अनित्यताका विचार करते रहनेसे भिड्डीसे राग उत्पन्न नहीं होता। अतः रमाश्रित
 प्राणी मोक्षकी चिन्तामें ही लगा रहता है ।

अक्षरव्यभाषनामधिकृत्याह—

अक्षरव्यभाषनाको कहते हैं —

जन्मजरामरणभयैरभिवृत्ते व्याधिवेदनाग्रस्ते ।

जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं षचिल्लोके ॥ १५२ ॥

टीका—बन्ध-अपत्तिः, अथ बयोद्धानि, मरण प्रार्थपरित्यागः, एभ्यो भयानि
 तैः। ममिद्रुते-ममिभूते । म्याभयो स्वरातीसाण्ड्रोगावयः, वेदनाः शरीरजा मनोमवाह्यः ।
 म्याभिवेदनाप्रस्ते म्याभिवेदनामिगृहीते, छोके प्राणिसमूहे । विनवरा विनप्रवाना
 तीयकृपाः इत्ययः। तेषां वचन बायोगस्तत्प्रतिपादितोऽयः । तमावाय भ्रायोपक्षमिकमाव
 पतिमिगणपरैहृद्यं द्वादशाङ्गं प्रवचनम् । तन्मुक्त्वा अन्यत्र नास्ति धारणं प्राणमिति ॥ १५२ ॥

अथ—जन्म, अथ और मरणके मयसे म्याह तथा रोग और कष्टोंसे भरे हुए इस ससारमें
 भगवान् विनेन्द्रदेवके वचनोंके सिवाय अन्य कुछ भी धारण नहीं है ।

भाषाथ—ससारके सभी प्राणियोंके ऊपर जीवन-मरण और बुझापेक मय सार है ।
 सभीके पीछे रोग और कष्ट लगे हुए हैं । अतः विनममवान्के दिव्य उपदेशके सुनकर गणप्रदेवोंने
 जो द्वादशाङ्ग मुक्तकी रचना की है, उस ध्रुतेके सिवाय अन्य कुछ भी यहाँ धारण नहीं है ।

एकत्वभावनामधिकृत्याह—

एकत्वभावनाको कहते हैं —

एकस्य जन्ममरणे गतयश्च शुभाशुभा भवावर्ते ।

तस्मादाकालिकहितमेकेनेवात्मना कार्यम् ॥ १५३ ॥

टीका— एकस्य 'इति असहायस्य जन्म च मरणञ्च । न तन्वत्स्य जायमानस्य
 प्रियमाप्तस्य वा कश्चित् सहायोऽस्ति । गतयो नारकाद्याः । मरणोत्तरकालं नरकादिगतिषु
 स्फुटकमफळमनुभवतो नास्ति कश्चित्परः । शुभा वेवमनुष्यतिर्यग्योमया, नरकगति
 एमुमा । भवो बन्ध मय एव आवर्तः ससारावर्तः । यत्र प्रवेशो भ्राम्यदास्ते सङ्ग तर्भव च स
 भावतः । जीवस्यापि तत्र तत्र जन्ममरणे समनुभवतो महावर्तः । तस्माद् भाकातिक्रम-
 मकालक्षीनम् । हितमेकेनेवात्मना कार्यम्—हित सपमानुष्ठानं तदवाप्नो वा मोक्षोऽत्यन्तहितम्,
 एकेन असहायेनात्मना कृतम्यमिति ॥ १५३ ॥

अथ—ससाररूपी भँवरमें पड़ा हुआ यह जीव अकेला ही जन्म लेता है, अकेला ही
 मरता है । और अकेला ही पुनः और अद्युम गतिमें जाता है । अतः अकेले ही उसे अपना स्थायी
 हित करना चाहिए ।

भाषाथ—समुद्रमें जिस जिस स्थानपर बरकर खाकर पानी नीचको जाता है, उत
 बाहरी-भँवर कहते हैं । ससार-समुद्रमें भी और जहाँ जहाँ जन्म ज्या या मरता है, वह भव-आवर्त कहा
 जाता है । उत मररूपी आवर्तमें जीव अकेला ही जन्म ज्या है, और अकेला ही मरता है । जन्म अते और
 मरते समय उतकर कोई भी सहायी नहीं है । मनके बाद नरकादि गतियोंमें जान कर हुए कर्मके

पुरुषो भी बनेका ही मोगतय है। जीवकय दित समयकय पाठन करना बयवा उसके दाय प्राप्त होनेबाका मोख ही है, जो कमी भी नाक करे प्राप्त नहीं होता। अतः जब यह धीन बनेका ही कय मोगता है तो उसे बनेके ही अपना दित-साधन भी करना चाहिए।

अन्यत्वभावनामधिकृत्याह—

अन्यत्वभावनाको कहते हैं—

अन्योऽहं स्वजनात्परिजनाश्च विभवाच्छरीरकाश्चेति ।

यस्य नियता मतिरियं न बाधते तं हि शोककलि ॥१५४॥

टीका—स्वोन्नत स्वजनो मातापिमादिः पत्नीपुत्रादिश्च । अस्मात्प्रहमन्वो विभिन्न पृथक्कर्मा । परिजनो वासदासीप्रभृतिः । अस्माच्च परिजनादन्व्य एवाहम् । विभवो धनधान्यादिः कनकरत्नवस्त्रादिवर्गः । अस्मात्प्रम्योऽहम् । शरीरकमुपभोगाविज्ञानम् तस्मादन्व-
त्यन्तमिच्छ एवाहम् । इत्थं यत्स्येयं बुद्धिर्नियता मत्कदिनमाहोपिच्छ, न बाधते तं न पीडयति ।
हि शम्भो यस्माद्बन्धे । यत्तदोर्नित्वाभिसम्बन्धात् । यस्मादेवं भावयच्च बौध्यते शोककलिना,
तस्मादन्वतर (इन्वत्य) भावना क्यपी ॥ १५४ ॥

अर्थ—मैं अपने कुटुम्बियों मोकर-आकरों, धन-धान्य सम्पदा और शरीरक विभिन्न हूँ।
मिसकी इस प्रकारकी निश्चित मति है उसे शोककली कलिनक कह नहीं देता।

भावार्थ—विरुद्धी बुद्धिमें रक्त-दिन यही विचार बना रहता है कि मैं माता, पिता, पत्नी,
पुत्र औरक कुटुम्बियोंसे भिन्न हूँ, दासी-वास औरक परिजनोंसे भिन्न हूँ, धन-धान्य, सोना-जौहरी, वस्त्र
औरक विभवसे भिन्न हूँ मोग-उपयोगके बाध्य इस शरीरसे भी भिन्न हूँ, उसे कमी भी शोक नहीं
सतता। अतः अन्यत्वभावना करनी चाहिए।

अशुचित्वभावनामधिकृत्याह—

अशुचित्वभावनाको कहते हैं—

अशुचिकरणसामर्थ्यादाशुत्तरकारणाशुचित्वाच्च ।

देहस्याशुचिभाव स्थाने स्थाने भवति चिन्त्य ॥ १५५ ॥

टीका—शुचिनोऽपि द्रव्यस्याशुचित्वकारणमस्ति सामर्थ्य शक्तिर्देहस्य । केरुचन्द्रनागक-
कुटुम्बिनि द्रव्यं देहसेपकार्यद्रव्येण बाधते । तस्मादशुचिकरणसामर्थ्यादेहस्याशुचित्वस्य
चिन्तनीयम् । यथाह—

“पताबदेतदशुचि नाम्यत् किञ्चिच्च विद्यते ।

यथा फलय क्वेर्द्रं यथा तेनच दूषितम् ॥”

भायुत्तरकारणशुचित्वाच्च । आदिकारण शुक्लशोभितम् । उत्तरकारणं अनन्याभाव-
इत्यस्य (म्यबद्धत्य) आकारस्य रसहरण्योपनीतस्य रसस्यासादनमस्यन्ताशुधि । एवमाशु-
त्तरकारणयोश्चुचित्वाद्भुविर्देह इति प्रतिशप्पमनुचिन्तनीयम् । स्वाने स्वाने इति शि-
कपाकायवयवेषु चरणान्तेषु स्वगाच्छादितासुगर्भासमेहोमद्यास्त्रिस्तापुवात्सम्पानवन्धेषु न
कश्चिच्छुषिगन्धोऽस्तीत्यशुषिगन्ध एव विज्ञेयते इति ॥ १५१ ॥

वार्थ—इस शरीरमें पत्रि परायौको भी अपत्रि कर देनेकी शक्ति है, इसके आदिकरण तथा उत्तरकारण भी अपत्रि हैं । अतः प्रत्येक स्थानपर उसको अपत्रितताका विचार करना चाहिए ।

मावार्थ—कपूट, चन्दन, अयस्क, केसर वगैरह सुगन्धित द्रव्य शरीरमें कमानेसे दुर्गन्धित हो जाते हैं । तथा शरीरका आदिकारण रज और वीर्य है, क्योंकि प्रारंभमें उन्हेंके मिश्रणसे शरीर बनना शुरू होता है । बादको माता जो मोहन करती है, उस मोहनका जो रस हरेजामे जाता है उससे शरीर बनता है । अतः शरीरका आत्मिक कारण भी गन्दा है, और उत्तरकारण भी गन्दा है । और उनके मन्दे होनेसे शरीर भी गन्दा है । इन कारणोंसे सिरसे केकर पैरतक शरीरके प्रत्येक अङ्गमें अशु-
चित्—गन्धगीकर विचार करना चाहिए । क्योंकि यह सोचना चाहिए कि यह शरीर जामसे मड़ा हुआ है । इसके अन्दर कूल मौस, चर्बी, मज्जा और हड्डियाँ मरी हुई हैं, जो मसोंके जाऊसे देखित हैं । इसमें कहीं भी शुषिपना नहीं है । अतः अशुषिपना ही बड़ता जाता है ।

संसारभावनामभिरुत्पाद्य—
संसारभावनाको कहते हैं—

माता भूत्वा दुष्टिता भगिनी मार्या च भवति ससारे ।
व्रजति सुत पितृतां आवृतां पुन शश्रुतां चैव ॥ १५६ ॥

टीका—ससारे परिभ्रमतां सत्त्वानां माता भूत्वा भूया संव च दुष्टिता भवति, संव च पुनर्मार्या । संव च संसृती परिवतमाना जामिपि भवति । तथा पुत्रो भूत्वा पिता भवति । स एव सुतः पुनर्जाद्वन्मायाति । स एव च पुनः सपत्ना भवतीत्येवमाजर्बकबीमात्रे प्राये संसारे सप्तसत्त्वाः पितृत्वेन मातृत्वेन पुत्रत्वेन शश्रुत्वेन चेत्यादिना सम्बन्धेन कृतसम्बन्धा बभूवुरिति ॥ १५६ ॥

वार्थ—ससारमें जीव मत्वा होकर पुत्री, बहिन और पत्नी हो जाता है, तथा पुत्र होकर पिता जाता और शश्रु तक हो जाता है ।

मावार्थ—संसारमें परिभ्रमन करता हुआ जीव मत्वा होकर पुत्री हो जाता है, पुत्री होकर बहिन हो जाता है और बहिन होकर पुत्री हो जाता है । तथा पुत्री होकर पिता हो जाता है पिता होकर

१-एक ही मनुष्य अज्ञानवशात्पुत्री कथ्य प्रसिद्ध है जो स्थानिकवर्तिनस्तुत्रेणापि टीकामें ही मर है । वर्य मय श्रीहनुमन्त्रकृत संस्कृतटीका और नई दिव्यटीका उद्धृत इसी धारण्यक्रममें कृत पदा है ।

मार्ग हो जाता है और माह होकर छत्र हो जाता है। इस प्रकार इस संसारमें सभी प्राणी गता, गित्य, पुत्र, छत्र इत्यादि हो चुके हैं। अतः एकसे पग और दूसरेसे रूप करना व्यर्थ है।

मयास्त्ववमावनासमिच्छत्याह—

वासवमात्मनास्ते कश्चते हैं—

मिथ्यादृष्टिरविरत प्रमादवान् यः कपायदण्डरुचि ।

तस्य तथास्रवकर्मणि यतेत तन्निग्रहे तस्मात् ॥ १५७ ॥

टीका—मिथ्यादर्शनादत्र कर्मण आश्रयाः । तत्त्वार्थानुमानसक्तानो मिथ्यादृष्टिः ।

मिथ्यादर्शनोद्वाच कर्मवन्धः । अविस्तः सम्यग्दृष्टिपि यो न विस्तः कृतश्चिदपि प्राणादि-
पातदोषादसावपि क्मास्रवेषु वर्तते । सम्यग्दृष्टिर्विरतोऽपि यः सोऽपि क्माश्रवणत्वात् । प्रमाद-
निद्राक्षिपयकपायविकटविक्रमाक्या पञ्चधा । अनेन प्रमादेन युक्तं कर्म बध्नाति । कपायप्रमादो
गरीबाविति भवेनोपादानम् । दण्डक्षिपा मनोवाक्कपायक्य । मनसार्तपौत्राभ्यवसाय-
कर्मास्रवति । बाधाऽपि हिंसकपुरुषादितया कर्म बध्नाति । कामेनापि भावनदग्गनाप्यवनादि
रूपेण कर्मादीयते । दण्डयन्तीति दण्डा । मन एव दण्डमस्यात्मानम् । एवमित्यवपि ।
तस्यास्रवहेतोर् कर्मणि क्रियानां यतेत नस्य कुर्वीत । तेपामास्रवणां निग्रहो निरासस्रवणा-
विति । चिह्वात्मास्रवद्वाराणि यथा न समवन्ति तथा पतेत ॥ १५७ ॥

अर्थ—जो प्राणी मिथ्यादृष्टि अविरत और प्रमादी है तथा कपाय और योगमें रुचि रखता है,
उसके कर्मोंका बाधक होता है। अतः उनके रोक्नेका प्रयत्न करना चाहिए।

मायाव—मिथ्यादर्शन वगैरे कर्मोंके बाधकमें कारण हैं। मिथ्यादृष्टि जीके मिथ्यादर्शनका
उदय होता है अतः उसके कर्मवन्ध होता है। सम्यग्दृष्टि होकर भी जो हिंसा वगैरे पापोंसे किरत नहीं
होता है उसके भी कर्मोंका बाधक होता है। सम्यग्दृष्टि और विस्त होकर भी जो प्रमादी है, उसके भी
कर्मोंका बाधक होता है। प्रमादके पाँच भेद हैं—निद्रा निवय कपाय, निद्रा और विक्रम। जो इन
प्रमादोंसे युक्त होता है, उसके कर्मवन्ध होता है। वयपि प्रमादमें ही कपायका अन्तर्भाव होनाका है
तथापि कपाय बन्धान् है अतः उसका अन्तर्गते महज किया है।

दण्डरुचि तीन भेद हैं—मन वचन और कर्म। आर्त और पौत्र परिणामनाका जीव मनसे
कर्मवन्ध करता है। हिंसक और कट्टेर प्राणी शोककर वचनसे कर्मवन्ध करता है और हीन उग्र-
वगैरे करके कपायसे कर्मवन्ध करता है। जो दण्ड देते हैं उन्हें दण्ड कहते हैं। मन आत्मनासे दण्ड
दता है, अतः वह मनोदण्ड कहा जाता है। इसी प्रकार वचन और कपाय-दण्डमें भी समान उपा
चाहिए। ये सब आत्मके द्वार बन्दे जाते व कर्मोंके इनके द्वार कर्म आते हैं। अतः आत्मके द्वार
मुन्द न उन्हें ऐसा प्रयत्न करना चाहिए।

संहरमावनासमिच्छत्याह—

संहरमावनास्ते कश्चते हैं—

या पुण्यपापयोरग्रहणे वाकायमानसी वृत्ति ।

सुसमाहितो हित सवरो वरददेशितभ्रिन्त्य ॥ १५८ ॥

टीका—पुण्यं कर्म सातादि । पापं दानावरणादि । तयोः पुण्यपापयोरग्रहणेऽनुपादाने । वाकायमानसी वृत्तिया म्यापार इत्यर्थः । अग्रहणं च सङ्घाताद्यध्वारस्य भवति न पुनः पुण्यमाहते न पापम् । सुसमाहितः सुन्दु समाहितः आत्मम्यारोपितः हितश्च आपत्यां तदायते च संवर आस्रवनिरोधकक्षणः । वरदास्तीचकृता । इतिस्तायप्रदानाद्वरदाः । मोक्षाय श्रेष्ठितः । स भ्रिन्तमीयो भावनीय इत्यर्थः ॥ १५८ ॥

अर्थ—मम बचन और कर्मके जिस म्यापारसे न हो पुण्यकर्मका आस्रव होता है और न पाप कर्मका आस्रव होता है आत्माने लक्ष्मी तरहसे भाग्य किये गये उस म्यापारको तीर्षकर मगवान्के द्वारा उपदिष्ट हितकारक संवर कहते हैं । उसका भ्रिन्तन करना चाहिए ।

भाषार्थ—कर्मोंके आस्रवके रोधनेको संवर कहते हैं । वह संवर ही जीवका बड़ा हितकारी है । श्रेष्ठित बरको देनेवाले तीर्षकोंने उसका उपदेश दिया है । उसकी भावना करनी चाहिए ।

निर्जराभावनामधिकृत्याह—

निर्जराभावनाकरो कहते हैं—

यद्वद्विशेषणादुपचितोऽपि यत्नेन जीर्यते दोष ।

तद्वत्कर्मोपचित निर्जरयति सवृतस्तपसा ॥ १५९ ॥

टीका—कर्मं पुनः संवृत्तारमनः कर्मनिबन्धनमिति वक्ष्यति—निरुद्धेष्वास्रध्वारेषु सङ्घातान्नोऽप्युच्यते कर्मप्रवेशो नास्ति पूर्वोपाप्तस्य च कर्मणः प्रतिक्षणं क्षयस्तपस्तपो भवति । यद्योपचितम्याबीषस्य आत्मनिर्जराविद्युत्प्रभरसरोपलक्षणस्य आहारनिरोधे सति विशेषणाद्य प्रतिविषस क्षयो भवति प्रयत्नेन बोधायामामाश्रीनाम् तद्वत्कर्मोपचितोऽपि दानावरणादि चित्तं ससृती भ्रमता चतुष्टयकारमद्वयमद्वयविमिस्तपाविषसर्पणोऽसीकरोति । नीरसीकृत च निरनुमाग्य निष्पीडितकृतसुमक्त परिश्रुतव्यात्म प्रवेशेभ्य इति ॥ १५९ ॥

अर्थ—नेत्रे बड़ा हुआ भी निकार प्रकृत करनेसे कर्मनसे नष्ट होनात्या है नेत्रे ही संवरसे युक्त मनुष्य इच्छा रूप कर्मको तपस्यासे क्षीण कर सकता है ।

भाषार्थ—सकसे युक्त मनुष्य जिस प्रकार कर्मोंकी निर्जरा करता है वह बतलते हैं । आस्रवक दूरोंके बन्द होनालेपर नये कर्मोंका तो प्रवेश ही नहीं होता । और पहले केपि हुए कर्म तपस्यासे प्रतिश्रुत नष्ट होते जात हैं । जिस प्रकार बड़ा हुआ भी अजीब जाना बन्द करके क्षम्य करनेसे प्रशिक्षित धुप होता है, उसी प्रकार संसारमें भ्रमण करते हुए जीवने जो दानावरणादि कर्म बीच रखे हैं चतुर्षक,

अष्टम, इक्ष्म, इक्ष्म आदि तर्पणके द्वारा व नीरस होजाते हैं । और नीरस होजानेसे विना कुछ दिने ही वे कर्म मसके गये कुसुमके फूलकी तरह आगमसे ब्रह्म जात हैं ।

लोकभावनामधिकृत्याह—
लोकभास्वात्करो ब्रह्मते हैं—

लोकस्याधस्तिर्यक्त्वं चिन्तयेदूर्ध्वमपि च वाहल्यम् ।

सर्वत्र जन्ममरणे रूपिद्रव्योपयोगांश्च ॥ १६० ॥

टीका—बीबाबीबाभारक्षेत्रं लोकः, तस्याधस्तिर्यगूर्ध्वञ्च चिन्तयेत् । वाहल्यं विस्तरम् । अथा सप्तारण्यप्रमाणो विस्तीर्णतया लोकः । तिर्यग् रज्जुप्रमाणः । ऊर्ध्वं ब्रह्मलोकं पञ्च रज्जुप्रमाणः । पश्चिमे रज्जुप्रमाण इति । अथः (च) शस्यादूर्ध्वाद्यत्तुर्ब्रह्मरज्जुप्रमाणः । सर्वत्र लोके जन्ममरणे समनुभूते भ्यापकमधिकारणम् । नास्ति त्रिज्जुप्रमाणितोऽपि लोकश्चासद्वेदो यम न ब्रह्म न मृत वा मयेति । रूपिद्रव्योपयोगांश्चेति रूपीणि चानि इभ्यानि परमाणुप्रसृतीन्पतन्तान्प्रसक्तान्पपयवसालानि तेषां च उपयोगः परिभोगो मनोवाङ्मयाहारोऽभ्युपनिषासादिरूपेण सर्वेषां कृतोऽनादौ सपपटता, आस्मि न तृप्त इत्यनुसन्धमनुचिन्तयेदिति ॥ १६० ॥

अर्थ—नीचे, तिरछ और ऊपर लोकके विस्तारका विचार करना चाहिए तथा यह भी विचार करना चाहिए कि लोकमें सर्वत्र ही मैं जन्म और मरा हूँ और सभी रूपी इन्द्रोद्य मैंने उपभोग किया है ।

मातार्थ—बीबी और अश्विनोके बाजारभूत क्षेत्रको लोक ब्रह्मते हैं । उसके तीन भाग हैं—अश्विनोके, मध्यलोक या तिर्यग्लोक और ऊर्ध्वलोक । अश्विनोकेका विस्तार सप्त रज्जु है । तिर्यग्लोकेका एक रज्जु है और ऊर्ध्वलोकका विस्तार पञ्चलोकके समीपमें पाँच रज्जु है और जन्ममें एक रज्जु है । व सप्तसे अश्विनोकेके ऊपर ऊर्ध्वलोक तक समूर्ण लोककी चौड़ाई चौदह रज्जु है । सभी लोकमें मैंने जन्म तथा मरणका अनुभव किया है । लोककर्ममें तिरछ बराबर भी कोई ऐसा लाल नहीं है, यहाँ मैंने जन्म न किया हो और मैं मरा न होऊँ । परमाणुसे ऊपर अनन्तानन्तप्रदेशों तकच तक जितने पुरुष इन्द्र हैं, ऊपरसे जन्म करते हुए मैंने मग वचन ब्रह्म, आहार और वास उभूयुस बनेछाके द्वारा उन सभीको भोग बाका है, तो भी मेरी तृप्ति नहीं हुई है । इस प्रकार प्रतिजन्म विचार करते रहना चाहिए ।

स्वारभ्यातर्धर्ममात्मामधिकृत्याह—

स्वास्मात्कर्मात्मनात्करो ब्रह्मते हैं —

धर्मोऽयं स्वास्यातो जगद्वितार्ये जिनेर्जितारिगणे ।

येऽत्र रतास्ते संसारसागर लीलयोत्तीर्णा ॥ १६१ ॥

टीका—सुतचमभारिप्रधमश्च सुप्तु निर्वोपमाकषातः । किमथमारम्यात इत्याह-
 जगदितायम् अगच्छन्वेन प्राणिनोऽभिधिसिता अगद्रयः प्राणिभ्यो हितमेतदिति । प्रति
 विधिपुं प्रयोबनमुदिस्याकषातः । विनैस्तीथकृद्भिः । अरयाः क्रोधादिपरीपहर्माकषाः ।
 बितोऽभिभूतो निपाकृतोऽरिगणो येस्ते जितारिगणाः । इतंधंक्षणे च धर्म आगमरूपे समाहित
 क्षणे च । ये रताः सक्षरस्ते सक्षरसागर छिद्यया अनायासेन सुखपरम्परया । उसीणाः परं
 पारसुपताः । मोक्षं प्राप्ता इत्यर्थः ॥ १६१ ॥

अर्थ—कर्मरूपी सशुद्धोके जेता सीधेकरोने संसारके कल्याणके लिए इस आगमरूप और उत्तम-
 क्षमादि कथन धर्मके निर्दोष कथन किया है । इसमें जो अनुष्ठान हुए, उन्होंने संसाररूपी समुद्रको
 अनायास ही पार कर लिया ।

माधार्थ—धर्मके मार्ग-पर चलनेसे ही मनुष्य ब्रह्म-कल्याण कर सकता है । जबतक वह धर्मके
 पक्षे पर नहीं चलता, उत्तम अनादि सक्षर परिभ्रमणके बलसे छुटकरा नहीं हो सकता । कर्म सशुद्धोपर
 नियम प्राप्त करनेवाले विनेश्रमगणान्ते इस धर्मके दो रूप कतकथे हैं । पहला आगमरूप है और
 दूसरा उत्तम क्षमादि दशाक्षररूप है । आगमरूप धर्मसे मनुष्य स्व और परका बोध करता है और
 अपनी अक्षय साधनासे संसार बलसे मुक्ति-प्राप्त करता है । उत्तम क्षमादिरूप धर्मका काम भी
 प्राणियोंके इसी प्रकार सक्षर-सागरे पार उतावता है ।

दुर्लभबोधित्वभाषनामधिकृत्याह—

दुर्लभबोधिमार्गान्ते कहते हैं —

मानुष्यकर्मभूम्यार्यदेशकुलकल्पतायुरुपलब्धौ ।

श्रद्धाकथकश्रवणेषु सत्स्वपि सुदुर्लभा बोधि ॥ १६२ ॥

टीका—प्राक् तावन्मानुषबन्धेन दुर्लभं बोधक्यद्विद्वयान्तदस्येन विभाषनीयम् ।
 सति च मानुषबन्धनि कर्मभूमिः सुदुर्लभा । कर्मभूमिरपि यम तीपकृत उत्पद्यन्ते सद्धर्मवेसना-
 प्रकषा परिनिश्चय प्राप्तुबन्धि मय्याः पञ्च भरतानि, पञ्चराक्तानि विवेकाश्च पञ्च । मानुषत्वे
 कर्मभूमि च सत्याम् आर्यो देशो मगधो वंगकलिंगादिषां दुर्लभः । सत्स्वितेषु धिषु, दुर्लभम्ब-
 धिषुचिदुर्लभा । इत्याहुर्द्विरिषादि दुर्लभम् । एतेष्वपि दुर्लभपर्यन्तेषु कल्पेता भीरोगता दुर्लभा ।
 एतेषु च कल्पतान्तेषु अवाप्तेषु दीर्घमायुदुर्लभम् । आयुष्कालेषु च समासादितेषु श्रद्धाधम
 विज्ञासा दुर्लभा । सत्यामपि विज्ञासायां कथक सद्धर्मम्याकषाता दुर्लभा । सत्यपि कथक
 भक्ष्यमाकषणं प्रस्तावाभाषाद् दुर्लभम् अनेकपुद्गलायम्यप्रत्याद् आलस्यमोहादघामदममाद्
 कल्पतस्वमयशोकाज्ञानकुलहस्तविभिश्च भक्ष्य प्रति न प्रवृत्तिमवति । सत्स्वितेषु भक्ष्यपयस्तेषु

प्राप्येवपि सुबुद्धमा बोधिर्मपति । बोधिः सम्यग्ज्ञानसम्बन्धान्नामः । तत्सम्बन्ध
साक्षाद्विशान्परहित सुबुद्धं मवतीत्यर्थः ॥ ११२ ॥

वार्थ—मनुष्य जन्म कर्मभूमि आर्षदेश कुड भीरोगता और आयुके प्राप्त होनेपर ठप
महा समुद्र और शास्त्र-अवधके होनेपर भी सम्पन्नज्ञानका प्राप्त होना बड़ा कठिन है ।

भाषा—सबसे पहले मनुष्य जन्मका पाना ही दुर्लभ है । यदि मनुष्य जन्म मित्र भी गया
तो कर्मभूमिका मनुष्य होना दुर्लभ है । पाँच मरत, पाँच ऐतनत और पाँच विरह ये पन्द्रह कर्म
भूमियाँ हैं । इनमें ही तीव्रकर जन्म होते हैं और सब कर्मका उपदेश करते हैं तथा यहाँसे मध्यवीच योष्य प्राप्त
करते हैं । मनुष्य जन्म और कर्मभूमिके प्राप्त होनेपर भी मगध, (विहार) बग (बंगाळ) कश्मिर (उड़ीसा)
भीरह आर्ष देशोंका मित्रना दुर्लभ है । इन तीनोंके मित्रनेपर भी इक्ष्वाकु-हरिवंश जैसे कुछ कुलोंका मित्रना
दुर्लभ है । इन सबके मित्रनेपर भी नीरोग क्षीरका पाना दुर्लभ है । नीरोगताके पानेपर भी दीर्घ
आयुका पाना दुर्लभ है । दीर्घ आयु पर्यन्त सब बातोंके मित्र जानेपर भी कर्मको जाननेकी इच्छाका
होना दुर्लभ है । कर्मको जाननेकी इच्छाके होनेपर भी सब कर्मका उपदेश मित्रना दुर्लभ है ।
उपदेशके मित्रनेपर भी उसका उपदेश सुनना दुर्लभ है । क्योंकि प्रक कर्म-कर्मोंमें प्यप्र रहनेके
कारण तथा आसत्य, मोह अन्याय प्रमद प्रमाद, क्लृप्ती डर, रज, ज्ञान और धर्म ठमाएके
कारण कर्म-अवधकी और रुचि ही नहीं होती । मनुष्य जन्मसे केकर अवधपर्यन्त सब बातोंके प्राप्त
होनेपर भी सम्यग्दर्शन और सम्पन्नज्ञान का प्राप्त होना बड़ा दुर्लभ है ।

ता दुर्लमां भवशतैर्लब्धाप्यतिदुर्लमा पुनर्विरति ।

मोहाद्भ्रगात्कापथविलोकनाद्दौरववशात् ॥ १६३ ॥

टीका—ता दुर्लमां सम्यग्दर्शनादिका बोधिमवाप्य । भूयोऽपिदुर्लमा विरतिः सक-
विरतिर्वैशारिपतिश्च । किं पुनः कारणं सम्बन्धस्थाने सति विरतिदुर्लमेत्याह—मोहोऽज्ञानम् ।
मोह इदं कृत्वा इव चातुष्टाय ततः प्रवक्षिष्यामीति आपकप्रम वा प्रतिपत्स्ये न सबत्सार्थ
कनु साक्षीमीत्येतदज्ञानम् । मेहमवगच्छस्यकाण्डमनुपमिर्षं श्रीवितं सहसैव प्यंसते नाम् ।
प्रस्तावं प्रेतीकत इति । रागादा न छमते विरतिम् । पत्नीपुत्रादिषु अनुरक्तद्वयो न सन्नोति
त्यस्तुं गृहवासपर्यन्तम् । कुस्तिताः पम्बानः कापयाः तैविडोकं चित्तप्रमः । क पुनरत्र पम्बाः
संसापदुष्टारणे क्षम इति कापथविलोकितभ्रान्तिदर्शनादपि भ्रंशमवाप्नोति । इत्तर एव चारिभ-
ज्ञानम् । गारववशाचेति गौरवमादत्, शक्तिः श्रद्धिरसमुत्पेयु । अक्षिभिर्भूतिमहती द्रम्बसम्पत्
तां हातु न सन्नेति सोमकमायानुगतचेता । रसम्बमीष्टिु तिक्रादिए सुक्तिराद्ये गौरवं तं
सद्भवति हातु रसनश्रिपवशीकरपात् । सुखगौरवं यद्यत्सम्पत्सं प्रवातनिवातसाधारण
सम्पत्सु शयनाहावमिदृशान्दाविशिष्टेपन गम्बधूपमान्बाधिसेवनमिदृशीपरिमोगश्च तदप्रत्यक्ष
परिचिनुम् । अतो बोधिनाम सत्यपि सर्वविरतिदुर्लमेत्युक्तम् ॥ १६३ ॥

अथ—सैकड़ों मर्षोंमें उस दुर्लभ सम्पद्धानको प्राप्त करके भी अज्ञानस रागसे, कुमार्गके देख बनेसे और संसारिक सुखके अप्रीन होनेसे चारित्र्य प्राप्त करना कल्पित दुष्कर्म है।

मावाय—सैकड़ों मर्ष धारण करनेके बाद यदि किसी तरह सम्पद्धानका काम हो भी गया तो देशचारित्र्य और सकलचारित्र्यका पापा बड़ा कठिन है क्योंकि मनुष्यके पीछे मोह बगैरह बने हुए हैं। मोहके बंधीभूत हुआ मनुष्य सोचता है कि अमुक अमुक काम करके दीक्षा लेंगा। अथवा भाग्यके मत लेंगा। क्योंकि मैं सकल त्याग नहीं कर सकता हूँ। मोहके उदयसे यह यह नहीं जानता है कि यह जीवन क्षणमयूर है, यह अचानक ही मर होजाता है और यह किसीकी प्रतीक्षा नहीं करता है। तथा रामके धारण भी चारित्र्य धारण नहीं कर पाता क्योंकि पत्नी-पुत्र बगैरहमें अनुपेक्ष होनेके कारण यह धर नहीं छोड़ सकता। इसके सिवाय अनेक कुमार्गोंके मोहजायमें पत्रकर भी वह कुमार्गको ग्रहण नहीं कर पाता। इसलिए भी चारित्र्यका काम उसे नहीं हो पाता। तथा काम कर्मायके बधमें होकर यह मन सम्पदाको छोड़नेमें शिथिलता है। तसना इन्द्रियके बधमें होनेके कारण यह रसोंको नहीं छोड़ सकता। सुखमें आसक्त होनेके कारण बहुतके अनुकूल आहार-निहार शय्या, चन्दन बगैरहका लेप, घूप माका, भी बगैरहको छोड़नेमें असमर्थ होता है। अतः सम्पद्धानका काम होनेपर भी सकलचारित्र्यका पापा दुर्लभ है।

तत्प्राप्य विरतिरत्र विरागमार्गविजयो दुरधिगम्य ।

इन्द्रियकपायगौरवपरीपहसंपलविधुरेण ॥ १६४ ॥

टीका—सकल विरतिरत्नं प्राप्य यदुक्तं पूर्वं दुष्कर्मं तद्व्याप्य सचविरतिरत्नम् । विरागमार्गविजयो दुरधिगम्यः । विरागस्य मार्गो रागप्रहाणमार्गः पथोऽसकलस्य, शास्त्रे “ हिंसादिभिन्नामुष चापायाबधप्रधानम् ” इत्यादि । एवंअसकलस्य विरागमार्गस्य विषय परिचयोऽभ्यसतम् । अधिगम्यते प्राप्यतेऽधिगम्यं दुःखेनाधिगम्या दुःप्राप्य इत्ययम् । कस्मात् पुनर्दुःखेनाधिगम्यत इत्याह—इन्द्रियाणि परिपम्यामि विरागमार्गस्य विन्नकरणामि । कपायाः श्लोभादयः सपत्नाः क्षमकः परिपम्यिनः । गौरवमुत्तमक्षणं भिन्ना-ऋदिरससातारम्भम् । क्षुत्पिपासादयः परिपहाः, ते चानभ्यस्तुत्याः सपत्नाः । एभिरेन्द्रियाणि परिपम्यामि सपत्नैर्बिधुरो विदस्युः आङ्गीकृत्य न विराग्यमार्गमभ्यसितुं समर्था भवति । इन्द्रियादिसपलविधुरेण न शक्यते विरागमार्गविषयः कर्तुमिति ॥ १६४ ॥

अथ—उस सकलचारित्र्यका एतको प्राप्त करके, इन्द्रिय, कपाय, विषय-सुखमें आदरमात्र और परीपहकप लभुओंके द्वारा व्याकुल हुए मनुष्यके सिर्फ वैराग्य-मार्गको जीतना अशक्य कठिन है।

माचार्य—इन्द्रियों, श्लोभादि कपाय, भव-सम्पदा, रस और सुखमें आदरमात्र और मूढ-प्रास की भाषा, ये सभी वैराग्य मार्गके शत्रु हैं। सकलचारित्र्य धारण करके भी जो इन्हें नहीं जीत सक्य, वह वैराग्य-मार्गका अन्वेषण नहीं कर सकता। अतः वैराग्यका मार्ग सकलचारित्र्यसे भी दुष्कर है।

तस्मात्परीपहेन्दियगौरवगणनायकान् कपायरिपून् ।

शान्तिधलमार्दवार्जवसन्तोषे साधयेद्वीरः ॥१६५॥

टीका—यस्मात्ते रीपवो बलिणः कपायमजनायकः । तस्मात् कपायानेष पुत्र
नामकानिन्द्रियादीनां विद्ययेत् । त्रितेषु च नायकेषु इत्तं सैन्यमनायकमिन्द्रियादीनि । गणसङ्ख्या
प्रत्येकमभिसंबन्धते इन्द्रियगणस्य परीपहगणस्य गौरवगणस्य च नायकः प्रकृतं
नेताः । तान् कपायान् वैरिणः शान्तिवद्विभार्वार्जवसन्तोषैर्पिर्धासंरम्भं साधयेद्वीरः । बह-
सङ्ख्या प्रत्येकमभिसंबन्धते शान्तिवद्वेन मार्दववद्वेन आर्जववद्वेन सन्तोषवद्वेन चतुरद्वेन-
नामुना वद्वेन साधयेत् उरिषतात् विरागमार्गाद्वीरः सात्विक इत्यर्थः । यथासंस्कृतं क्रोधाद्वी-
रिपकं शान्त्पद्विर्षेण साध्या भवन्ति ॥ १६५ ॥

अर्थ—बल धीर मनुष्यको परीपह, इन्द्रिय और गौरव (किय सुखमें आदर मात्र)के संग्रहके
नायक कपायकरी शत्रुबोको धम, मार्दव, आर्जव और सन्तोषकरी बलके द्वारा जीतना चाहिए ।

भाषा—यस्य ये शत्रु बलवान् हैं और उनका प्रबल नेत्र कपाय है, बल पहले कपायको
ही जीतना चाहिए । क्योंकि सेनापतिके पराजित होनेपर बिना नायककी सेवा स्वयं ही पराजित हो
जाती है । गण सङ्ख्या प्रत्येकके साथ बगला चाहिए । बर्षात् इन्द्रियगण परीपहगण, और नीर-
गणके नेता कपायकरी शत्रुबोको क्रमशः धमलक्ष मार्दवलक्ष आर्जवलक्ष और सन्तोषकरी चतुर
वद्वेन करना चाहिए । बर्षात् क्रोध कपायको धमलक्षसे, मान कपायको मार्दवलक्षसे, माया कपायको
आर्जवलक्षसे और धीम कपायको सन्तोषलक्षसे जीतना चाहिए ।

सचिन्त्य कपायाणामुदयनिमित्तमुपशान्तिहेतुं च ।

त्रिकरणशुद्धमपि तयो परिहारासेवने कार्ये ॥ १६६ ॥

टीका—कपायाणामुदयनिमित्तमाहोष्य क्रोधादीनामनेकनिमित्तेन अयं क्रोधादि
कपायो वायत इति उपशान्तिहेतुं च सचिन्त्य अनेन क्रियमानेनाप्युपशान्त्यति कपायः
प्रशमं गच्छति । अतस्तपोव्यवसिन्नप्रशमोत्थोपयासंस्कृतं परिहार भासेवने च कार्यम् ।
परिहारोऽपि कार्यं कपायशमनोमिः कृतकारितल्लुमसिभिर्बोद्धव्यं—निमित्तस्य उपशान्तिहेतुं ।
नामपि कृतकारितल्लुमसिभिः कपायादिभिर्भासेवने त्रिकरणशुद्धं कार्यमिति रागद्वेषमोहादीनां
निवारणार्थम् ॥ १६६ ॥

अर्थ—कपायोंके उदयके निमित्तको और उपशमके निमित्तको बन्धी तल्लुस विचारकर मन्,
बचन और कपलकी सुविधे उन दोनोंका क्रमशः त्याग और सेवन करना चाहिए ।

भाषा—यह विचारना चाहिए कि किस निमित्तसे क्रोध बनेछ उतस्य हेतु हैं और किस
निमित्तसे उनको शान्ति होती है । दोनोंका विचार करके मन्, बचन कर और कृत, कारित, शत्रु-
-

दशासे उत्पासिके निमित्तोक्तो त्यागना चाहिए और शान्तिके निमित्तोक्त पान्न करना चाहिए। अर्थात् बिन बिन करणोंसे कषाय उत्पन्न होती हो, उन उन करणोंसे दूर रहना चाहिए और बिन बिन करणोंसे कषाय शान्त होती हो, उन उन करणोंका अभ्यास करना चाहिए।

सेव्य क्षान्तिर्मादिवमार्जवशौचे च सयमत्यागौ ।
सत्यतपोब्रह्माकिञ्चन्यानीत्येव धर्मविधिः ॥ १६७

टीका—सेव्योऽनुष्ठेयो दशविधो धर्मः । तान् दशमेवान् नामप्राहमाचष्टे । क्षान्तिः क्षमूष्' सहने क्षमित्तम्याः आक्रोशप्रहारादयः । मादव मानविषयस्तदुत्तापनोदः । आश्वस्य सुश्रुता यथाचरिताख्यापिता । भुञ्जिमात्र शौचम् । अन्नोभता विगतदुष्पत्वम् । सयमः पञ्चाक्षरादिविरम्यं पृथिवीकायसयमादिर्वा सप्तदशमेदः । यथबन्धनादित्यागः प्राप्तुकैपणीयं वा साजुस्यो मत्तपानवस्त्रप्राप्तिदानं यतीरेव ददाति स च त्यागः । सत्य सद्गुणो हित सत्यम् । तच्चापि संवादानादि चतुर्विधम् । तपो द्वादशमेदमनघमादिकम् । ब्रह्म अत्रह्यपो निवृत्तिर्मयुननिवृत्तिरित्यर्थः । अकिञ्चनस्य भाव आकिञ्चन्य निम्नत्तिप्रहता । धर्मोपकरणान्नास्ते नाम्यत् किञ्चन परिप्राहम् । एव धर्मस्य विधिर्मेव इत्यर्थः ॥ १६७ ॥

अर्थ—धमा, मार्जव, आर्जव, शौच, सयम, त्याग, सत्य, तप, प्रसन्नर्ष, और आकिञ्चन्य—धर्मके ये दस भेद हैं। इनका सेवन करना चाहिए।

मावाय—धर्मके दस भेदोंका पान्न करना चाहिए। उन दस भेदोंको बतलाते हैं। शान्तभावसे गाभी-गडौब और मार बगैरहके सहनको धमा कहते हैं। मान कषायके जीतनेको मार्जव कहते हैं। सरलताको आर्जव कहते हैं, अर्थात् बैसा करना बैसा ही कहना आर्जव है। परिकल्पको शौच कहते हैं, अर्थात् जोम न कलना—दुष्प्राक्य न होना—शौच है। आश्वसके करण हिंसा बगैरह पाँच पापोंसे विरक्त होना अथवा पृथिवीकरण बगैरहमें सयम करना सयम है। यथ, बन्धन बगैरहकर त्यागना अथवा साजुओंको प्राप्तुक मित्रा देना त्याग है। हितकर वचन बोलना सत्य है। अत्रह्यन आदिको तप कहते हैं। भेधुनसे निवृत्त होनेको ब्रह्मवर्ष कहते हैं। परिग्रहके अभावको अर्थात् धर्मके उपकरणोंके विनाय अन्य कुछ भी परिग्रहके न रखनेको आकिञ्चन्य कहते हैं।

क्षान्तेः प्राधान्यं प्रदशयन्नाह—

ध्यापधर्मकी प्रधानता बतलाते हैं—

धर्मस्य दया मूलं न चाक्षमावान् दया समादत्ते ।

तस्माद्य क्षान्तिपरं स साधयत्युत्तमं धर्मम् ॥ १६८ ॥

टीका—योऽयं दशप्रकरणो धर्मस्य धर्मस्य दया मूलम् । दया प्राणिनां रक्षाऽऽदिष्ट-
स्पष्टः । सा मूलं प्रतिष्ठा, धर्मस्याऽऽदिष्टादिवक्ष्यत्वात् । प्राणिप्राणरक्षणाध्याप्येव

प्रतोपदेशः । न चाक्षमावान् इयां समावृत्ते । अविद्यमानस्तान्त्रिकसमूहः नासी इयां-समावृत्ते, न
संपृच्छातीति । श्लोभाभिद्यो हि न कश्चिदपेक्षते चेतनमचेतनं वा ऐदिकमात्मिकं वा
प्रत्यक्षायम्, तस्माच्च समावृत्तानां स्थान्त्या वा प्रकृष्टा स सामयत्प्रापयति । इच्छासामुत्तमं
धर्ममिति ॥ ११८ ॥

अर्थ—धर्मका मूळ, इया है; किन्तु जो क्षमाशील नहीं है वह इयाको प्राप्त नहीं कर
सकता । अतः जो स्वयं धर्ममें उत्तर है, वही उत्तम धर्मको प्राप्त करता है ।

माधार्य—धर्मके जो इस भेद बतलाये गये हैं, उनका मूळ इया है । क्योंकि इया
बाईसामने कहते हैं और धर्मका अर्थन बाईसा ही है । किन्तु तब बतलाये गये हैं वे सब
प्राथमिके प्राप्तोकी रक्षा करनेके लिए ही बतलाये गये हैं । किन्तु जो क्षमाशील नहीं है, वह प्राथमिकों
पर इया नहीं कर सकता क्योंकि श्लोकी मनुष्यको चेतन-अचेतन अथवा इच्छोक-परच्छोक
कोई स्थान नहीं रहता । अतः जो क्षमाधर्मके पावन करनेमें सदा उत्तर रहता है वही इसअर्थन
धर्मका पावन कर सकता है ।

मार्दवमधिकृत्याह—

मार्दवधर्मको कहते हैं—

विनयायत्ताश्च गुणा सर्वे विनयश्च मार्दवायत्त ।

यस्मिन् मार्दवमस्त्रिल स सर्वगुणमाक्त्वमाप्नोति ॥ ११९ ॥

टीका—विनयो ज्ञानदर्शनचारित्र्योपचायकाः । तत्रायत्ता गुणोः । स च विनयो
मार्दवायत्तः । मार्दवं च मानविनया । सर्वे निपाकृते उपचायविनयोऽभ्युत्थानाऽऽस्त्रिप्रवर्हादिक
शक्त्या कर्तुम् । यम च पुरुषे मार्दवमस्त्रिलं आत्पादिमहादकनिराकारि स सर्वगुणमाप्
नोति । ज्ञानदर्शनचारित्र्यसाध्याः सर्वे गुणस्तत्र संमकन्तीति । तस्मान्मानं निपाकृत्य
मार्दवमासेवनीयम् ॥ ११९ ॥

अर्थ—सब गुण विनयके आधीन हैं और विनय मार्दवधर्मके आधीन है । जिसमें धर्म
मार्दवधर्म है वह सब गुणोंको प्राप्त करता है ।

माधार्य—सम्पन्नज्ञान सम्पन्नदर्शन और सम्पन्नचारित्र्यके प्रति मन, बचन और कर्ममें जो
आदरभाव प्रगट किया जाता है, उसे विनय कहते हैं । सब गुणोंका मूळ विनयगुण है । यह विनय-
गुण बड़ीको प्राप्त होता है, जो मनुष्यको भीत करता है, क्योंकि नरसिंह हार हो जानेपर ही दूसरोंके
लिए उठकर खड़ा हो जाता, और हाथ जोड़ना और वह कम मिले जा सकते हैं । और जिस
मनुष्यमें आठों मूर्खोंके हार करनेवाला मार्दवधर्म वास करने लगता है वह मनुष्य सर्वगुण-
सम्पन्न होता है—सभी गुण आकर उसमें बस जाते हैं । अतः मनुष्यको हार करके मार्दवका सेवन
करना चाहिए ।

मायामभिकृत्याह—

आर्जनधर्मको कइते हैं —

नानार्जवो विशुच्यति न धर्ममाराधयत्यशुद्धात्मा ।
धर्मादृते न मोक्षो मोक्षात्परं सुख नान्यत् ॥ १७० ॥

टीका—माया घात्यं कौटिल्यम् सत्प्रतिपत्तमाहर्षं प्रकृत्या यथाचेष्टितं तयाकथयति न किञ्चिद्वदते । यस्तु तथा न करोति, स सत्त्वनाशय, तस्य च मुक्तिर्नास्ति । तस्माद्यथाकथयतापराधप्रतिपत्तमाहर्षितस्य शुद्धिर्वापते । तद्विपरीतस्य न चातुषिष्पुष्टिः । न चानुद्धात्मा धनमाराधयति समाधिकम् । न चामुं धनमन्तरेण मोक्षावाप्तिः । न च मोक्षावाप्तिमन्तरेणैकान्तिकास्यन्तिकारदिसुखलभ्यम् इति । तस्मादनुना मन्त्रितम्यमाकोचनादिति ॥ १७० ॥

अर्थ—आर्जनके बिना शुद्धि नहीं होती । अशुद्ध आत्मा धर्मकर आराधन नहीं कर सकता । धर्मके बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं होती और मोक्षसे बढ़कर कुछ और सुख नहीं है ।

भाषा—शुद्धिकताको माया कहते हैं । उसका प्रतिपक्षी आर्जन है । आर्जन सरलताको कइते हैं । अर्थात् ऐसा किया ऐसा कर देना और गुरुसे कुछ भी न छिपाना आर्जनधर्म है । जो ऐसा नहीं करता, उसकी शुद्धि नहीं होती । अतः जो अपने किये हुएको भेसाकर ऐसा गुरुसे कर देता है और गुरु जो प्रायश्चित्त देते हैं, उसका पाठन करता है, उसकी शुद्धि होती है । किन्तु जो किन हुए अपराधको छिपा जाता है, उसकी शुद्धि नहीं होती । ऐसा करती आर्या धना गौरव धर्मकर भी ठीक ठीक पाठन नहीं कर सकता और उनके पाठन किये बिना मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती । तथा मोक्ष प्राप्त किये बिना अग्निदत्त सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती । अतः साधुको आलोचना अर्थात् करके समय सदा सरल रहना चाहिए ।

शौचमभिकृत्याह—

शौचधर्मको कइते हैं —

यद्वद्रव्योपकरणभक्त्यानदेहाधिकारक शौचम् ।
तद्भवति भावशौचानुपरोधाद्यत्नतः कार्यम् ॥ १७१ ॥

टीका—द्विषिचं शौचं द्रव्यमात्मभेदान् । तत्र द्रव्य शौच्यं बाह्यद्रव्यम् । बाह्यद्रव्यं च सचेतनमचेतनं वा शैक्षादि, “ अद्वारस्य पुरिसेसु बीसं शयीसु इस नपुसेसु । पम्बावया अन्ध्रिा अपहा पुण इत्थिया भेष ॥ ” इत्यादि सदापस्थास्यात्म्यम् । उपकरणमुपकारि क्षमादी नाम् । तन्मोद्रमादिशुद्धं शुचिं भवति, अन्यथाऽऽशुचीति । तथा भक्त्यानमप्युद्गमादिदोषरहितं शुचिं, अन्यथाऽऽशुचीति । देहप्रापं तु पुरीपापुस्तगपूबकं निर्देयं निगम्यं चेति पतानि प्रयोक्तव्यानि प्रयोक्तव्यानि परमहंसं तदधिकारकं तद्भवति तस्मात् कर्तव्यं भवतीति । भाव शौचस्यानु-

परोपार्थवाचनम् । यत्तत इति प्रयत्नता परीक्ष्य सचेतनमितरथा उपकरणानि मङ्गप्रक्षालना-
द्विष्यपि प्रबन्धनोक्तेन विधिनाऽनुष्ठेयम् । भावशीर्षं तु निर्द्धोमता । सोमकृपावातुरप्रितो युष्मत्सम्
इति, तत्रसाधनं च परमापतो भावसौचमिति ॥ १७१ ॥

अर्थ—इस उपकरण खाल-पाल और सरीसरे केकर जो शौच किया जाता है, उसे प्रकृतसे
इस प्रकार करना चाहिए कि उससे मातृ-शीर्षमें बाधा न हो ।

मासार्थ—शीर्ष दो तरहका होता है—एक इत्यशीर्ष और दूसरा मत्तशीर्ष । इत्यशीर्ष
बाह्य इत्यश्वे केकर किया जाता है । जितना भी चेतन अथवा अचेतन बाह्य इत्य है, उसे सरीसरे बाह्य
त्याग देना चाहिए । इन्द्रादिकर्मों जो उपायक हो उसे उपकरण कहते हैं । जो उपकरण उग्रम
आदि शोषोंसे मुक्त होता है वह पवित्र होता है । जो वैसा नहीं होता है वह अपवित्र है । खाल-पाल
में जो उग्रम आदि शोषोंसे रहित होता है वह पवित्र होता है और जो वैसा नहीं होता वह अपवित्र
है । मङ्ग-मूत्रका ज्ञान करनेके बाद केव और गन्धसे रहित देह पवित्र है । ये सब इत्य शीर्ष हैं । इन
सब इत्य शीर्षोंको इस प्रकार करना चाहिए कि मातृशीर्षमें कोई बाधा न बाने । अर्थात् उपकरणको
सब देह-मातृ करके ही लेना चाहिए और मङ्ग-शुद्धिमें भी साधनमें उपरिष्ठ विधिके अनुसार ही प्रकृति
करनी चाहिए । निर्द्धोमताको मातृशीर्ष कहते हैं । जिसका आत्मा जोय कृपावसे रना हुआ है,
उसकी शुद्धि होना कठिन है । और सोमकृ ज्ञान ही यथावधि मातृशीर्ष है ।

संयममधिकृत्याह—

संयमकर्मको बतकाते हैं—

पञ्चासवाह्निरमण पञ्चेन्द्रियनिग्रहश्च कृपायजय ।

दण्डत्रयविरतिश्चेति संयम सप्तदशभेद ॥ १७२ ॥

टीका—संयमपरायं पापस्थानेभ्यः सम्पत् सप्तदश प्रकारः—पञ्चासवाः प्राप्तातिपातपृथा
भाषयात्तत्त्वानमैभुनपरिग्रहाः कर्मविनाहेतु—वस्तेभ्यो विरमणं विरतिकरणं संयमः ।
पञ्चेन्द्रियाणि स्पृशंनशीलि तेषां निग्रहो नियमनं निरोधः । सञ्चादियु गोधरप्रोत्तेभ्यरक्त-
द्विष्टता माभ्यस्स्यम् । कृपा संघारः, कर्मते यम जीवः सङ्कष्टः कर्मणि कर्म्यते पीड्यते
तस्यायाः प्रातिहेतुकः क्षोभात्प्रयत्नत्वारस्तेषां बभोऽमिमवद्वयनिरोधः, उदितानां वा
विच्छेदतापत्वनम् । इण्डा मनोवाकपायावया । अनिद्रोहामि मानेभ्योऽद्विष्टसत्त्वो मनोदण्डः ।
द्विष्टपस्यानुतादिविद्वेषो वाग्दण्डः । भाषनवद्वानपुननादि—कृपाः कृपादण्डः । पम्पो
विरतिविद्वृत्तिः । एवमेव संयमः सप्तदशभेदो भवति । आर्षे त्वम्येन क्रमेणायमेवार्थो
निबद्धः । पृथिव्यतेजोवायुवनस्पतिद्विषिचतुःपञ्चेन्द्रियेषु संयमः । तथा पुस्तकाद्यपरिग्रह
अधीयकाद्यसंयमः । मेभ्यरेभ्यामभाषनापरिग्रहपनसंयमः मनोवाककृपाय संयम इति ॥ १७२ ॥

अयं—आसक्तके कारण पाँच पावोंसे बिरक्त होना, पाँचों इन्द्रियोंका दमन करना, चार कार्योंको जीतना और मन, बचन, और कर्पको प्रकृष्टिको रोकना—इस प्रकार समयके सत्रह भेद हैं।

भाषाय—हिंसा दूढ, थोपी, कुसीक और परिग्रह—ये पाँच पाप क्योंकि आसक्तके कारण हैं। इनका त्याग करना चाहिए। स्वर्गन बगैर पाँच इन्द्रियोंको बसमें करना चाहिए। जो सम्बन्ध आदि कर्ममें पहले उन्हें सुनकर राग-द्वेष नहीं करना चाहिए। जहाँपर जीम अपने द्वारा किये हुए कर्मोंसे सताया जाता है, उसे अथ अर्थात् ससार कहते हैं। उस ससारकी प्राधिके कारण क्रोध बगैर कर्माय करे जाते हैं। उन्हें भीतना चाहिए, अर्थात् उनके उदयको रोकना चाहिए। और जो उदयमें आ रहे हैं, उन्हें बेकार कर देना चाहिए।

दण्डके तीन भेद हैं—मनोदण्ड, बचनदण्ड और कर्पदण्ड। अग्निहोह अग्निमान और ईषां बगैरको मनोदण्ड कहते हैं। हिंसक, कठोर और अक्षय बचनको बचनदण्ड कहते हैं। दौड़ना कूटना फेंदना बगैरको कर्पदण्ड कहते हैं। इनको नहीं करना चाहिए। ये सब समयके भेद हैं। आगममें इन्हें दूसरी तरहसे गिनाया है। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और दोन्द्रिय; तेन्द्रिय, चौरन्द्रिय और पंचेन्द्रियकी रक्षा करना समय है। पुस्तक बगैर न रखना अर्थात् समय है।

त्यागमधिहृत्याह—

त्यागभर्मको कहते हैं—

वान्धवधनेन्द्रियसुखत्यागात्यक्तमयविग्रह साधु ।

त्यक्तात्मा निर्ग्रन्थस्त्यक्ताहकारममकार' ॥ १७३ ॥

टीका—आन्धवः स्वप्नका, धन हिरण्यसुवर्णादि, इन्द्रियाणि स्वर्गनादीनि तद्विपर्य सुखम् । एषां त्यागादिन्द्रियसम्बन्धी सुखत्यागः । प्राप्तेषु विषयेषु स्वस्वादिषु माष्यस्यम् । त्यक्तमयविग्रहः साधुः, मयमिहपरलोकादानादि सप्तविधम् विग्रहः शरीर तस्य त्यागो निष्पतिकर्मघरीरत्वात्, कच्छः दन्दादिर्वा विग्रहः । अत्यन्तमा असंयमपरिणामलभय आत्मा । अद्यविधग्रन्थविषयग्रहणतो निर्ग्रन्थः । त्यक्ताहकारममकार इति अरक्त—दिस इत्यय ॥ १७३ ॥

अयं—कुटुम्ब, धन और इन्द्रिय सम्बन्धी सुखको त्याग देनेसे जिससे मय और कच्छको त्याग दिया है तथा अहंकार और ममकारको त्याग दिया है इस त्यागपूर्ति साधुको निर्ग्रन्थ कहते हैं।

भाषाय—कुटुम्ब धन, इन्द्रिय-सुख मय, कच्छ अथवा शरीर एत, द्वेष आदि परिग्रहके त्यागनेको त्याग कहते हैं।

सत्यमधिहृत्याह—

सत्यको कहते हैं—

अविस्वादनयोग कायमनोवागजिह्वाता चैव ।

सत्यं चतुर्विधं तच्च जिनवरमतेऽस्ति नान्यत्र ॥ १७४ ॥

टीका—विस्वादनमन्वयास्त्रितस्याम्बुधा मापयन् गामदन्म् अर्धं वा गामिति
भाषत । पिशुनो वाऽम्बुधा चान्मया च म्युदग्राह्य प्रीतिच्छेदनं करोति विस्वात्प्रति । विस्-
वात्नेम योगः सम्बन्धः, न विस्वादनयोगाऽविस्वादनयोगः । सत्यं यथा इत्यमानवस्तु—
मापयन् । कायेनाविहता विद्याः कुटिलो मन्वीमसः, कायेनान्येष्वपारितया प्रतारयति, न
विद्योऽविद्य वितीयः सत्यमेकः । मनसा वाऽविहता सत्यम् । मनसा प्रागाढोऽप्य भाषते यः
प्रायो न तादृगाढोऽप्यति विद्येन येन परं प्रतार्यते एव सूतीयो मेकः । वागविहता च सत्यम्
विद्या वाक् सद्रूपमिहवा, असद्रूपद्राकर्मं कृद्रूपरुपाव्यादि चेति चतुर्षो मेकः । एतच्च त्रैनेन्द्र
एव मते, मान्यम सत्यमिति ॥ १५ ॥

अय—ऐसा देखना वैसा करना, काय, मन और वचनको अकुटिलता ये सबके चार
मेरु हैं । यह सब धर्म जिनैन्द्रदेवके मन्में ही कहा गया है । अन्य मतोंमें नहीं कहा गया ।

भाषाय—अप्य वस्तुको अन्यरूपमें करना, जैसे मापको थोड़ा करना और थोड़ेको गाय
करना विस्वादन है । अथवा पुगाळको आदमी छुटी बातें बनावर किन्तीको प्रीतिको बध करता है,
उसे भी विस्वादन कहा है । इस प्रकारके विस्वादनको न करना और वैसी बात हो वैसी करना, यह
उपेक्षा पहला मेरु है । विद्य कुटिलको कहते हैं, कुटिल आदमी छूटा वेव बनावर शरीरसे दूरतोंको
ठगता है । ऐसा न करना सत्यका दूसरा मेरु है । मनमें कुटिलताका न होना भी सत्य है । सचा
आदमी पहले मनमें विचार करता है । वह ऐसी बातें नहीं सोचता, जिससे दूरतोंको ठगा जासके ।
यह सत्यका तीसरा मेरु है । वचनमें कुटिलताका न होना भी सत्य है । सची बातको छिपाना,
छुटी बातको प्रकट करना, तथा कद्रुषा, कठोर और सत्य वचन बोलना असत्य है । ऐसा न करना
सत्य है । यह सत्यका चौथा मेरु है । उपेक्षे ये चार मेरु जिनसासनमें ही कहे गये हैं क्योंकि अन्य
मतोंमें कठोर आदि वचनोंको अछप नहीं कहा गया है ।

तथा सम्मत्सुच्यते—

तपको करते हैं—

अनशनमूनोदरता वृत्ते संक्षेपण रसत्याग ।

कायक्लेश सलीनतेति धार्यं तप प्रोक्तम् ॥ १७५ ॥

टीका—उपवासमें चतुर्धमत्यादि पण्यमासास्तम् तथाऽपरं भक्तप्रत्याक्यात्मम्
दृष्टिनीमरणम् पादोपममनमिति । उन्नोदरता धार्मिकताः कवलेभ्यो यथाशक्ति नूतवत्याहारं
यावद्दृक्कवद्याहार इति । वृत्तिर्बर्तमं मिथा तस्वः संक्षेपणं परिमितप्रहारं दृष्टिभिर्भिक्षामिष्य ।
रसत्यागः, रसाः क्षीरधिनकनीतधृतगुडादिप्रसृतयो विहृतवस्तासां त्यागः । कायक्लेशः

कायोत्सर्गोत्कटुकासनातापनादिः । संज्ञीन भागमोपदेशेन, तद्भाक् सञ्जीवता इन्द्रियनोइन्द्रिय भेदात् द्विधा । इन्द्रियं संज्ञीनः सहतेन्द्रियम्यापात् कूमस्त यथाऽङ्गानि स्वात्मम्याह्वारयति कूर्मः तद्वादिन्द्रियानि आत्मम्याहृत्य तिष्ठति साधु रगद्वेषेतुम्यं शब्दादिभ्यो निवृत्य म्यवस्थापितेन्द्रिय इन्द्रियसञ्जीवः । नोइन्द्रियं मनः श्रोत्रादयश्च । भातपीद्विष्यानपहित मनसि नोइन्द्रियसंज्ञीनः । श्रोत्रादीनामुद्भवनिरोधः उदयप्राप्तानां च वैफल्यापादानं नो- इन्द्रियसंज्ञीनता । पोदा विमक्तं बाह्य तपः पपोऽसम्भ्यत्वाद्बाह्यमुच्यते ॥ १७५ ॥

अर्थ—अनसन, ऊनोदरता, वृत्तिसंश्लेष रसभाग कापञ्चश और सञ्जीवताये बाह्यतप कह गय है ।

भाषा—एक उपवास केकर छह उपवासतक ध्यान-यागकर त्यागना अनशन है । तथा भक्त- प्रायाश्चर्यन, इगिनीमन्य और पशुपोगमनमें जो जीवनपर्यन्त ध्यान-यागकर त्याग किया जाता है, वह भी अनशनतप है । कहीं कहीं पचासकिक कम आहार करना ऊनोदर है । मिश्राको परिमित करनेके लिए घर बगैरहका परिमाण करना कि आज मैं इतने परसे मिश्रा ग्रहण करूँगा, वृत्तिसंश्लेष है । हूय, दही, धी गुक कौह (तोंके त्यागको रसभाग करते हैं । कायोत्सर्ग, उत्कटुकसन, आत्मापन कौहके द्वारा शरीरको क्लेश देनेको कल्पकेस करते हैं । सञ्जीवताके दो भेद हैं—इन्द्रियसञ्जीवता और नोइन्द्रियसंज्ञीनता, जिस प्रकार कम्पुजा अपन अङ्गोंको संश्लेष करता है, उसी प्रकार साधु रग-द्वेषके कारण चन्द्र कौहसे अपनी इन्द्रियोंको संश्लेष करता है । इसे इन्द्रियसञ्जीवता कहते हैं । आर्तप्यान पीद्विष्यानका न होना, श्लेष बगैरहको सम्पन्न न होने देना और यदि उत्पन्न हो जाये तो उसे विच्छन्न कर देना नोइन्द्रियसंज्ञीनता है । बाह्यतपके ये छह भेद हैं । ये छहों तप दूसरोंके द्वारा देखे जाते हैं, इसलिये उन्हें बाह्यतप कहते हैं ।

आत्मन्तरतपोनिरूपणायाह—
आत्मन्तरतपका निरूपण करते हैं—

प्रायश्चित्तप्याने वैयावृत्यविनयावधोत्सर्ग ।
स्वाध्याय इति तप पदप्रकारमभ्यन्तरं भवति ॥ १७६ ॥

टीका—प्रापो बाहुन्येन् चित्तविशोषनं प्रायश्चित्तमाडोपनादि कृतातीचारमस- यकाडनायम् । एकाप्रश्चित्तनिरोधो ध्यानमाहुतान् । तप्राप्तये म्युद्घनीये । भास चतुर्विधम् अमनोद्भवविषयसंप्रयोगे तद्विप्रयोगाय चित्तनिरोध । शिरोपेगादिभेदनायाश्च विप्रयोगार्थो मनोनिरोध । मनोद्भवविषयसम्प्रयोगे तद्विप्रयोगार्थो मनोनिरोधः । चन्दनोशीरादिबनित सुखभेदनायाश्च विप्रयोगार्थी चित्तनिरोधः भासप्यायम् । एतद् द्विसानुश्चि, सुपानुश्चि स्तेपानुश्चि विषयसंरक्षे चेति । एतयोस्त्वागस्तपः । धम्य दुकळ च ध्यानमशुभेयम् । धमादनपेतं धम्य चतुर्विधम्—आद्यादित्रयमपायविश्रयं विपाकविश्रयं संस्वानविश्रयं चेति ।

शुद्ध शोकां शुद्ध शारीरं मानस चेति तस्सुनाति विच्छिद्यवतीति शुद्धम् । पृथोदपदिपायत्रय संस्कारः । तच्चतुर्विधम्—पृथक्प्रतिबिन्दक सविचारम्, एकस्ववितकमविचारम्, सूक्ष्मक्रियाम प्रतिपात्ति, म्युपरतक्रियामनुवर्त्तनम् । म्यापूतमाशो वैवाहृत्यम्, आचार्योपाध्यायाचार्यादीनां भक्त पानवस्त्रपाभादिना इत्यात्ममुपग्रह शरीरमुधृत्वा चेति । विनीयते येनाद्यविधं क्रमं स निवक्तुः ज्ञानइक्षानचारिभोपचारभेदः । तद्योपचारविनयो विनयाईषु अभ्युत्थानमासदानाञ्जलिप्रभ्यः इण्डकइण्डकव्यवस्थाभ्यमनुवादि । म्युत्सर्गाप्रतिरिच्छेपकरमसंसक्तमक्तपानादिउन्मूलनम् । अभ्यन्तरस्य च मिथ्याइच्छांशकपापादेरपाकरणम् । स्वाभ्यायः पञ्चाप-वाचना, पुष्कला, म्युपेक्षा आम्नायः धर्मोपदेशश्च । तत्र वाचना आज्ञापकज्ञानम्, सजातसम्येइपुष्कलपुष्कला, म्युपेक्षा मनसा परिवर्त्तनमागमस्य, आम्नाय आत्सानुबोधोक्तयनम्, धर्मोपदेश आश्लेषणी विशेषणी संबिदानी निर्देहनी चेति कथा धर्मोपदेशः । एवमभ्यन्तरमपि पोडा तपः ॥ १७१ ॥

अर्थ—प्राग्भित्त, प्यान, वैवाहृत्य, निवय उत्सर्ग और स्वाभ्याय इस प्रकार आभ्यन्तरतप एव प्रकृत्य होते हैं ।

माधार्य—किये हुए दोषोंको दूर करनेके लिए जो आलोचना आदि की जाती है । इसे प्राग्भित्त कहते हैं । अन्तर्मुखीके लिए एक विषयमें मनके कमानेको प्यान कहते हैं । उसके चार मर हैं—भार्य, पीठ, धर्म और शुद्ध । भार्यम्यानके भी चार भेद हैं—(१) अग्रिय वस्तुका सम्बन्ध होवेपर उसके नियोजके लिए चिन्ता करना, (२) तिरदर्द करीबकी पीडाको दूर करनेके लिए चिन्ता करना, (३) धिय वस्तुका नियोग होनेपर उसके संयोगके लिए चिन्ता करना और (४) धर्मन कस कीराहके कमानेसे छपक हुए सुखका नियोग न होनेके लिए चिन्ता करना ।

पीठम्यानके भी चार भेद हैं—(१) जिसमें आनन्द अनुभव करना (२) दूठ बोझमें आनन्द अनुभव करना, (३) थोपी करनेमें आनन्द अनुभव करना और (४) परिग्रह-सचर्ममें आनन्द अनुभव करना । ये दोनों ही प्यान जेबनेके योग्य हैं और धर्म तथा शुद्धम्यान करनेके योग्य हैं ।

धर्मपुच्छ प्यानको धर्मप्यान कहते हैं । उसके भी चार भेद हैं—आज्ञाविषय, म्याप्यविषय विपालविषय और संस्वानविषय ।

जो प्यान शारीरिक और मानसिकदुःखका छेदन करता है, उस शुद्धम्यान कहते हैं, इसके भी चार मर हैं—(१) पृथक्प्रतिबिन्दकविचार (२) एकस्ववितकविचार, (३) सूक्ष्मक्रिया-प्रतिपात्ति, और (४) म्युपरतक्रियामनुवृत्ति ।

आचार्य, उपाध्याय, उपरती, शैश्व गम, कुण्ड, संघ, रोमी, सज्ज और मनोइ इन इस प्रकारके साधुजनोंकी सेवा-शुद्धा करनेको वैवाहृत्य कहते हैं । ज्ञान 'इक्षान', चारीत्र और उपचारके भेदसे निवयके

चार भेद हैं। विनय करनेके योग्य आदरणीय पुरुषोंको देखकर उठना, उन्हें बैठनेको छिपे व्यासना देना उनके आगे हाथ जोड़ना, उनके उपकरण लेना, पैर धोना, अन्न दबाना गौड़ उपचारविनय है। शेष तीनों स्पष्ट हैं। अधिक उपकरण, मच्छ-गान गौड़के त्यागनेको ब्राह्मण्युत्सर्ग कहते हैं। और मिथ्या दर्शन आदिके त्यागनेको ब्राम्णन्तरभ्युत्सर्ग कहते हैं।

स्थाप्यायके पाँच भेद हैं—वाचना, पृच्छना अनुप्रेक्षा, आश्राय और भर्षोपदेश। सुम्ह तथा वर्षके पाठको वाचना कहते हैं। सन्देह हर करनेके छिपे पूछनेको पृच्छना कहते हैं। आगमके वर्षकर मनमें धिम्भन करनेको अनुप्रेक्षा कहते हैं। पाठके सुदृढतापूर्वक उच्चारण करनेको आश्राय कहते हैं। आश्लेषणी, श्लेषणी, सघेदनी और निर्बेदनीकृतके करनेको भर्षोपदेश कहते हैं। इस प्रकार ब्राम्णन्तर तपके भी छह भेद होते हैं।

सम्प्रति ब्रह्मचर्यप्रतिपादनायाह—

यत्न ब्रह्मचर्यको करते हैं—

दिव्यात्कामरतिसुखात्रिविधं त्रिविधेन विरतिरिति नवकम् ।

औदारिकादपि तथा तद्ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥ १७७ ॥

टीका—विष्यं भवतपतिभ्यन्तरभ्योतिष्कविमानवासिदेभ्यः, तान्यो विरतिस्त्रिविधं त्रिविधेनेति । मनसा न कृतेति न कारयति, मानुमन्यते । एवं वाचा क्रायेन भेति ते भवमेवम् । औदारिकं मानुष्यतिर्यक्स्त्रियु । तप्त मनोवाक्यायैः कृतकारित्यानुमतिमिभ्य विरतिरिति नवकम् । तदेतद्ब्रह्माष्टादशमेव भवति ॥ १७७ ॥

अर्थ—देवता सम्बन्धी तथा औदारिकसहित सम्बन्धी कर्मभोगसे भी जो प्रकृतसे विरत होनेसे ब्रह्मचर्यके अठारह भेद होते हैं।

मावाप—यत्नवासी भ्यन्तर ज्योतिष्क और वैमानिक दृष्टियोंके भोग-सुखसे मन, वचन, क्राय और कृत, कारित, अनुभोदनापूर्वक निरत होनेसे भी भेद होते हैं। इस प्रकार ब्रह्मचर्यके अठारह भेद हैं।

आकिञ्चन्यमधिष्ठनयाह—

आकिञ्चन्यमर्षको कहते हैं—

अध्यात्मविदो मूर्च्छां परिग्रहं वणयन्ति निम्नयतः ।

तस्याद्वैराग्येत्सोराकिञ्चन्य परो धम ॥ १७८ ॥

टीका—अध्यात्मसाधनेनात्मन्वेद्य व्यापात्, “कृपमयमात्मा कप्यते कर्षं वा मुष्यत धृति” तदध्यात्मविदाः । ते विद्वितपरम्पराः परिग्रहं मूर्च्छात्कर्मं वणयन्ति । मूर्च्छा गाप्यम् । निम्नयनयाभिप्रायेणात्मनाः प्रतिविशिष्टा परिजामा परिग्रहसद्ब्रह्माप्या । यन्मादेवेत्कृत्यकृ परिग्रहस्तस्माद्वैराग्यमिच्छता आकिञ्चन्यं परो धमः न कश्चिन्मूर्च्छा कृत्येति यावत् ॥ १७८ ॥

अर्थ—अप्पाख्यानो निश्चयसे मन्त्रबन्धे परिग्रह करते हैं । अतः जो वैष्णवक (स्फुक्) है, उसका आक्रियण्य परमधर्म है ।

भाषा—जो यह जानत है कि आत्मा कैसे ईश्वर है और कैसे छूटता है । उन आत्मज्ञानियोंको अप्पाख्यानो कहते हैं । अप्पाख्यानो निश्चयनयते आत्माके मोहपरिनाशको ही परिग्रह करते हैं । क्योंकि उसके होनेसे ही मनुष्य काय परिग्रहके सम्पन्ने प्रवृत्त होता है । अतः जो वैष्णवके अभिकापी हैं; उन्हें शरीरादिकसे भी मन्त्र नहीं करना चाहिए । यही आक्रियण्यधर्म है ।

धर्मानुष्ठाने फलं दत्तपति—

धर्मक फल कलकते हैं—

दशविधधर्मानुष्ठायिनः सदा रागद्वेषमोहानाम् ।

दृढरूढधनानामपि भवत्युपशमोऽप्यकालेन ॥ १७९ ॥

टीका—इसका अर्थ धर्मादिधर्म, तत्प्रुष्ठायिनस्तदासेविना । सदैवान्वरतम् । रागद्वेष । मोहानामुपशमो भवति । एते च संसारजननस्य मूलं दृढं कृष्टं यथाश्च सुप्तुं दृढं कृष्टं जाता यथा बहूनाः प्रभूतकर्माणाः । अथवा यथासंध्यं दृढा रागाः कष्टो द्वेषः, यतो मोहः । एवं विज्ञानानामपि स्वस्तीनव कालेन सवत्युपशमाः क्षयो वा ॥ १७९ ॥

अर्थ—जो दस प्रकारके धर्मक सदा पावन करते हैं । उनके धिरकालसे संश्रित दुर्भेद एत, द्वेष और मोहका बोध ही सम्पन्ने उपशम हो जाता है ।

भाषार्थ—संसारके मूककारण एत है और मोह हैं । धिरकालसे संश्रित होते-होते वे आत्माने स्थिर हो जाते हैं और उनका भेदन करना बड़ा कठिन होता है । किन्तु जो दस दश धर्मोक्त सदा सेवन करते हैं, उनके दुर्भेद एत-द्वेष और मोह क्षणमरपे ही क्षान्त हो जाते हैं ।

तथा—

ममकाराहकारत्यागादतिदुर्जयोद्धतप्रवलयन् ।

इन्ति परीपहगौरवकपायदण्डेन्द्रियव्यूहान् ॥ १८० ॥

टीका—ममकारो माया, क्रोधश्च । अहंकारो मानः क्रोधश्च । तयोर्ममकाराहंकारयो-
स्स्यायः । किं भवतीत्याह—अतिदुर्जयोद्धतप्रवलयन् अतीव दुर्बलात्तुद्धतांश्च सावयन्मान्
प्रकृष्टवर्जाश्च । इन्ति विनासमति । परीपहगौरवकपायदण्डेन्द्रियव्यूहान् परीपह-
धुत्पिपासादपः, गौरवं गुरुपाणिः, कपाया क्रोधश्च, दण्डा मनोपायकपायकान् इन्द्रियाणि,
व्यां व्यूहाः समूहाः चक्रव्यूहकक्रव्यूहासिक्न् व्यूहा प्राणाः । तान् इन्ति विभवतेऽ-
निवृत्तीत्यायः ॥ १८ ॥

अर्थ—अहंकार और ममकारके भागसे बलन्त दुर्बल, उदर और बल्ल्क्षाभी पीपह, गोरण, कषाय, योग और इन्द्रियोंके समूहको नष्ट कर बाधता है।

भाषा—भावा और शोभको ममकार कहते हैं और मान और शोभको अहंकार कहते हैं। जो इस भरोकर पावन करता है, उसके ममकार और अहंकार छूट जाते हैं। और उनके छूटनेसे वह आत्माके प्रथम शत्रु पीपह बगैरके समूहको भेदनेमें समर्थ होता है।

यथा वैराग्यमार्गे स्वयै भवति तथा च पतत इत्याह—
जिस ठीकसे वैराग्यमार्गमें स्थिरता होती है, वैसा यत्न करता है, यह कहते हैं —

प्रवचनभक्ति श्रुतसम्पदुद्यमो व्यतिकरश्च सविग्ने ।
वैराग्यमार्गसद्भावभाषधीस्वैर्यजनकानि ॥ १८१ ॥

टीका—प्रोच्यन्ते येन जीर्णोपस्तप्रवचनम् तत्र भक्ति सत्ता तदनुष्मानपरता सम्भट्टारको वा प्रवचनं प्रवक्षतीति । श्रुतसम्पदि उपम उस्ताह, श्रुतमागमस्तस्य सम्पद् उपचय अपूर्वमपूषमधीते प्रवचनम् । व्यतिकरश्च सविग्निः सविद्याः सत्सारभीरवस्ताः सह सम्पर्को यथोक्तक्रियास्तुष्टापिमिर्भ्यतिकरः संसर्गः । एभिर्वाग्यमागस्वैय भवति । न केवलं वैराग्यमागस्वैयम्, सद्भावभाषयोजुद्धिस्तस्याश्च भवति स्वैयम् । सद्भाषा जीर्णाय । एते च यथा भगवन्निर्गच्छस्तयेति सिरीमपति बुद्धिः । भाषाः शयोपसामत्रं दधानादि भगवत्सु, वा तीव्रहृत्सु साधुषु “ एते कल्पनीया पूजनीया ” इति एषधिषाया शिष्य स्वैय जनयन्त्येतानीत्यथा ॥ १८१ ॥

अर्थ—प्रवचनमें भक्ति, साध-सम्पत्तिमें लक्षण और सत्सारमें मीतबनोकर सम्पर्क वैराग्यमार्गमें जीवार्थिक पराधर्मों और क्षयोपसामत्रिक भावोंमें बुद्धिको स्थिर करत हैं।

भाषा—शास्त्रको प्रवचन कहते हैं। क्योंकि उसके द्वारा जीवार्थिक पराधर्मोंका धवन किया जाता है। अथवा परम महारक अहंस्वदृक्को प्रवचन कहते हैं—ज्योंकि वे प्रवचनका उपरस करते हैं, उनमें भक्ति रखनेसे भयेनये साधकोंका अप्यन करके अपने शास्त्र-ज्ञानको सूत्र बढ़ानेसे और सत्सारसे निरल साधुबनोंके सम्पर्कमें रहनेसे मत्र वैराग्यमार्गमें दृढ़ होता है। जीवार्थिक लक्षणोंमें आस्तिक्य-बुद्धि होती है और क्षयोपसामत्रिक सम्पत्तयनादि भावोंको प्राप्ति होती है। अर्थात् भक्तिपूर्वक शम्भाम्युस करने और साधुबनोंकी स्मृति करनेसे वैराग्य-मार्गमें मत्र स्थिर हो जाता है। जीवार्थिकोंके द्वारा कहे गये पदार्थोंमें यह भाव दृढ़ हो जाता है, कि लक्षण में ही हैं, जैसे कि भगवान्ने कहे हैं तथा लक्षणोंमें शून्य बुद्धि भी और अधिक दृढ़ हो जाती है।

एतेष्वेव धीस्वयमिच्छता चतुर्विधा धमकषाऽऽम्यसर्गपित्याह—

इन्हींमें बुद्धिको स्थिर रखनेके लिए चार प्रकारकी धर्म-रक्षाक अभ्यास करनेका निर्देश करते हैं —

आक्षेपणी विक्षेपणी विमार्गवाधनसमर्थविन्यासा ।
श्रोतृजनश्रोत्रमन प्रसादजननी यथा जननी ॥ १८२ ॥

श्लोत्रिणा धर्मकृपाप्रस्तुतेति तच्छेपमाह —
यत्र प्रकथयति कथाके शेषांशको वृत्तते इति —

संवेदनीं च निवेदनीं च धर्मा कथां सदा कुर्यात् ।
स्त्रीमक्तचौरजनपदकथाञ्च दूरात्परित्याज्या ॥ १८३ ॥

टीका—आक्षिपत्प्राकर्षयत्स्वमिषुषीकरोति वा सा आक्षेपणी कथा शृङ्गापदिशया ।
विक्षिपति मोमामिच्छायाद्या काममोगेषु वैमुक्त्वमापादयति सा विक्षेपणी । विमार्गः सम्ब-
न्धान्मादिप्रक्षिपरीतस्त्रुगुसादिप्रश्रितस्तस्य बाधन दोषवत्त्वस्यापनम् । विमामवाधने समर्थ-
शक्तौ विन्यासो रचना यस्याः सा विमार्गवाधनसमर्थविन्यासा । शृणोतीति श्रोता जनो कोक-
श्रोतृजनस्तस्य श्रोत्रं मनश्च तयोः प्रसादो ह्येषो जल्पते यथा सा श्रोतृजनश्रोत्रमनप्रसादजननी ।
यथा जननी माता हितकारिणी सद्युपदेशदायिनी स्वापत्यतां शोधननक्षी प्रसादयति परि-
तोषयति, तर्पयापीति सम्बन्धः ॥ १८२ ॥

टीका—सम्पन्नेषुते मर्मं प्राप्नुते श्रोता यथा सा संवेदनी कथा । प्रकथयताशुष्का
केवला शीताश्च न चास्त्यक्षिनिमेपमाप्रमपि तस्या वेदनाया विच्छेदः । तत्र तादृशीं वेदना-
मनुभक्ता जल्पयेत् इत्यर्थसहस्राण्युत्कर्षेण जपस्त्रिसास्त्रागरोपमापीति । त्रिबन्धोनापि
शीतोष्णसुखातिगुणमारसंतापबन्धं दुःखं वादनतादन्तमनच्छेदनादि चेति । मानुषेष्वपि
कान्तज्जबामनबहवमिषान्प्रकृष्टविद्वत्कृतित्वानि स्वरकुशासोपकासातिसारद्विद्रोगकेवलाश्च ।
तथा प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगेऽपि सताढाभकारिष्वीमनस्यवचनानामिभोगादिदुःखाजुभक् ।
देवेषु शोक्तुर्विधेयोपदर्शनावात्मनश्चतद्दानेर्दुःखानुभक् । तथा बलवता देवेनाभियोगात्स्वप्न-
पुण्याः करिद्वपमात्मनपूरणिकरुपाणि करिताः सन्तो वासन्ते प्रतिसेम्पन्ते च । तथा स्वयनकाले
आयुषिष्मासावरोप उपपत्तिस्थानानि बी मस्तानि विद्वत्कृतीन्पयवधिनान्कोकप महत्सर्म भवन्ते ।
अतश्च श्लोत्रिणादपि संसारादुद्दिबते मोक्षार्थमेव च भटत इति । निर्बद्धं पीयते यथा काममोगेषु सा
निर्वेदनी । इत्यत्र काममोगा न दृष्टिमात्रात्प्रमत्तमनः पुत्सखा । सदा क्लिप्तश्च स्त्रीजपो दुर्गन्धि-
रशुचिरप्यन्तत्रुगुप्तिस्तस्य चारुतिरित्येषं पामन इव कङ्कुरिगतकण्ठहृत्वं मोहोद्वेषास्तुलामिति
मप्यते, अतो निर्बिण्णः परित्यस्य काममोगान् निःसङ्गं सिद्धिद्वन्द्वाराधने प्रवर्तत इति ।
पद्मेता संवेदनीं निर्वेदनीं च धर्मा कथां सदा कुर्यात् धर्माद्वनपेतामित्यत्र । स्त्र्यादिकथाश्च
दूरात् परित्याज्याः । तत्र स्त्रीकथा, रूपयीकनसावप्येषपमताश्च कृम्यानि योनितां बर्धयति यथा
सा स्त्रीकथा, मत्तमाहारस्तकथा, शोहनम्यजनकण्डलायादिपीरिभिद्यतास्ता मत्तकथा । पीप
बन्दिमुखा ममुना प्रकथयेत् क्षामाप्ति जनयति, इत्यत्र च गाढयन्ति, तस्मिन्नुत्पद्यन्तीति चार-

कृपा । जनपदकृपा “ सेतुजानि ऋतुजानि वा सस्याम्यस्मिन् जनपदे आयन्ते, अस्मिन्नति-
 यभूतो गवां रसः, शान्तिमुद्रगोचूमादि पोल्पद्यतेऽत्र नाम्यभ्रेति ’ जनपदकृपा । एवमेता मनसापि
 नाबोभ्याः किमुत वाचेति दरात् परिहाराः ॥ १८३ ॥

अय—उर्ध्वार्गक उच्छेद करनेमें सम्य एतनावाची, और श्रोताबनोंके कर्णों और मनको
 माताकी तरह आत्मन् देनेवाची आशेषणी, विश्वपत्नी संवेदनी और निर्देदी भमकृपा संदेव करनी
 चाहिए । तथा सोकृपा, आत्मकृपा, चौरकृपा और दण्डकृपाको बुरस ही छोड़ देना चाहिए ।

भावाय—जो कृपा जीवोंको धर्मकी ओर अभिमुख करती है, उसे वाशेषणी कहते हैं । जो
 कृपा जीवोंको काममोगसे विमुक्त करती है, उस विश्वपत्नी कहते हैं । जो कृपा जीवोंको संसारसे मयभीत
 करती है, उसे संवेदनी कहते हैं । जैसे मरकटसिमें सर्दा और गभीरक बड़ा कष्ट है । एक धूलके छिप
 मी उस कष्टसे छुटकारा नहीं होता । फलसे कम दस हजार बरतक और अधिकसे अधिक लेखीस सागर
 तक बाँधों यह कष्ट मोगना पड़ता है । शिर्षजन्तिसिमें भी सर्दा गभीर, भूख प्यास और कठिनाईके दुःखके
 साथ ही साथ सर्वादिमें जुकना उड़ कीरसे पीटा जाना नासिका कोरकष्य ठेका जाना आदिका दुःख
 मोगना पड़ता है । मनुष्यगतिमें भी काम, अंगद, बीना, नासमक बहण अन्धा, कुबड़ा और कुकूप
 होनेके सिवाय जर, फोड़ यस्या खौंसी, दस्त तथा हरयके रोगोंपर कष्ट मी उठना पड़ता है । तथा
 विषजनक निषेध, अविषजनक सुषेध, इच्छित वस्तुका न मिलना गरीबी, अमागापन, मनकी खर
 विषता और बध-बन्धन बौरहक अनेक दुःखोंको मी मोगना पड़ता है । दकासिमें अय देवोंका उत्कर्ष
 और अपना अपकर्ष देखकर दुःख होता है, तथा बकवान् देवकी आशासे अय अय पुण्यका देख
 हापी बेक, मोका, और मयूर कीरहका रूप धारण करक सर्वाीक काममें लगे जाते हैं । तथा जब
 लक्ष्मिं श्रुत होनेमें एह माह बापी रह जाते हैं तो अचरिज्ञानसे अपने गर्दे और मरे जन्म-स्थानको
 जानकर वे बड़े दुःखी होते हैं । इस प्रकारकी संवेदनीकृपासे यह जीव जतुगतिकर संसारसे बरकर
 मोक्षमें आता है । जो कृपा काममोगसे नेतम्य उत्पन्न करती है, उसे निर्देदी कहते हैं । जैसे
 काममोग क्षणिक है, वे आत्माकी तुषि करनेमें समर्थ नहीं हैं । खीकी पोनि सर्दा गीबी, दुर्गन्धित,
 अपभित और अस्पन्त श्वासिकी उत्पन्न करनेवाची होती है । उद्यमें एति करनेवाजा मनुष्य मोहके उदरसे
 उठी तरह दुःख मानता है, जैसे खाबक रोमी पाबको लुजामेमें दुःख मानता है । अतः निरक हुआ
 मनुष्य काममोगोंको छोड़कर मुक्ति-उद्देश्यसे आराधना करता है । इस प्रकार इन भयुक्त चारों
 कृपाओंको कृपा चाहिए, क्योंकि ये कृपारै कुवलाका नाश करनेमें समर्थ होती हैं, और जिस प्रकार
 माया दितकर उपदेश देकर अपनी सुत्तामके कर्ण और मनको प्रसन्न करती हैं, उसी प्रकार ये कृपारै
 मी सुननेवालोंके कर्ण और मनको आनन्दित करती हैं । अतः इन कृपाओंको सर्दा करना चाहिए ।
 और सोकृपा, मत्कृपा, चौरकृपा, और दण्डकृपाको बुरस ही छोड़ना चाहिए ।

शिवोंके रूप शीकन काशय नय, भूय तथा पाठ-वाक्यो चर्चा करनेको शीकृपा कहते
 हैं । पाठ, वाक्य शारु, खीर पाजा कीरह मोहनकी चर्चा करनेको मत्कृपा कहते हैं । चौर अमुक
 प्रकारसे गड़ खोदते है, ईंट गड़ते हैं, गीठें उदत हैं, लक खोचते हैं, दूधोंसे दमते हैं इत्यादि चर्चा

करलक्ष्ये चोत्कृष्टा कथित है। अमुक दसमें सब तरहका काम पैदा होता है, अमुक देसमें सब कृत्यास्तसे होता है अथवा चावल, मूँग, गहूँ वगैरह उत्पन्न होता है, दूसरी जगह य चोरे पैदा नहीं होती हैं—इस प्रकारकी चर्चाने जनपरकथा कथित है। इन कथाबोधे मनमें भी नहीं सोचना चाहिए, बचनसे कहनकी तो बात ही क्या है! ॥ १८२-१८३ ॥

अपि च—

और भी —

यावत्परगुणदोषपरिकीर्तने व्यापृतं मनो भवति ।

तावद्वर विमुद्धे ध्याने व्यग्र मन कर्तुम् ॥ १८४ ॥

टीका—यावदिति क्लृप्तपरिमाणम् । यावन्तं कालं परस्य गुणान् दोषांश्च परिष्कृतवत्सुदृष्टयति उत्पन्नव्यापारो भवति । परदोषोद्घटने व्यापारयति व्यग्र मनः क्लृप्तिं, पद्मस्यान् क्लमबन्धकारि । तावदिति तावन्तं कालं वरं दोषानन्तर निवृत्तव्यमात्रं । विमुद्धे ध्याने निमग्नो भवेत् । व्यापृतमङ्गलिकं मनः क्लृप्तमिति । ननु च परगुणोत्कीर्तनं न निवृत्तम् ? उच्यते अस्यात्मविन्वापन्नस्य न तत्रापि किञ्चित्प्रयोजनम् ॥ १८४ ॥

अर्थ—चित्तने समयात्क मन दूसरोंके गुण और दोषोंके कथनसे जगा रहता है, उल्ले समयात्क उसे विमुद्ध प्यत्तमें जगना श्रेष्ठ है ।

भाषा—दूसरोंके गुणों और दोषोंके प्रकृत करनमें मनके जने रहनेसे क्लमबन्ध होत है। अतः इसकी बोधा निमग्न ध्यानमें मन जगना उत्तम है, क्योंकि उससे क्लमकी निर्मूल होती है।

उदा—दूसरोंके गुणोंके प्रकृत करना तो बुद्ध कर्म नहीं है ।

समाधान—अध्यात्मिकमनमें जब हुए साधुको उससे भी क्या प्रयोजन है। अतः दूसरोंके गुण-दोषोंकी जाबोबानमें मनको न जगाने विमुद्ध ध्यानमें ही उसे जगना चाहिए।

विमुद्धध्यानप्रदक्षानायाह—

विमुद्धध्यानको करते हैं —

शास्त्राप्ययने चाध्यापने च सचिन्तनं तयात्मनि च ।

धर्मकथने च सततं यत्नं सर्वात्मना कार्यं ॥ १८५ ॥

टीका—शास्त्रमन्त्रमेवोन्मागप्रस्थिता इति शास्त्रम् । शास्तीति शास्त्रम् कर्मव्यापार विवक्षायाम् । तस्याध्ययनमपुत्रग्रहणं पूजयतिभुचिन्तनं वाचनादानमित्यादि, अध्यापनप्रदं वात् । सचिन्तनं संचिन्त्य पश्चाद्बोधादिविमुद्धमध्यापति । पश्चाद्बोधते चारमनि “ किमप्य मया कृतं शास्त्रोक्तं किं वा नो कृतमिति । ” इत्यभिपद्यमाध्यापने च सततं यत्नं सदात्मना मनावाकवायः काया ॥ १८५ ॥

अथ—शास्त्रके पढ़नेमें, पढ़ानेमें, आरम्भित्तनमें और भर्त्सनामें सदा मन, बचन, और कर्मसे फल करना चाहिए।

भाषाय—नये-नये शास्त्रोंका स्वाध्याय करना चाहिए। पहले पढ़े हुए शास्त्रोंका विचार करना चाहिए और विचार करके दूसरोंको पढ़ाना चाहिए। उषा प्रतिदिन यह सोचना चाहिए कि 'आज मैंने शास्त्रविहित कर्म किये हैं या नहीं?' इसके सिवाय दूसरे प्रकारके पूर्वोक्त कर्म करनेमें भी मनको जगाना चाहिए। ये सभी कर्म विद्युर प्यानमें गर्मित हैं।

शास्त्रशब्द म्युत्पत्त्ययमाह—

शाब्-शब्दकी म्युत्पत्ति करते हैं—

शास्विति वाग्विधिविद्विधातु पापत्रयतेऽनुशिष्टार्थ ।

त्रैभिति च पाल्नार्थे विनिश्चित सर्वशब्दविदाम् ॥ १८६ ॥

टीका—शास् अनुशिष्टाविति। वाग्विधिविद्वद्भ्युत्पत्तयत्तः। पापत्रयत इति अनुशासनेऽत्यय पत्रयत इत्ययः। अनेकाया मातव इत्यन्यस्मिन्नप्ययै हृत्तिरस्तीति तद्दृष्टव्यति—अनुशिष्टयय इति। त्रै पाल्ने। विनिश्चितो विशेषेण नियतः। सर्वशब्दविदां प्राकृतसंस्कृतशब्दमाभूतानां विनिश्चित इत्ययः ॥ १८६ ॥

अर्थ—चौदह पूर्वके भारी 'शास्' धातुको 'अनुशासन' अर्थमें पढ़ते हैं। और 'त्रै' धातुको सभी शब्दबचा 'पालन' अर्थमें निश्चित करते हैं।

भाषाय—शाब् शब्द दो अक्षरोंसे बना है। उनमेंसे 'शास्' धातुका अर्थ 'अनुशासन' है और 'त्रै' धातुका अर्थ 'पालन' है। उक्त धातुओंका यह अर्थ हमारा रखा नहीं है, किन्तु चौदह पूर्वके भारी और संस्कृत प्राकृत आदि शब्दोंके शता इन अर्थोंको न कल्प मानत हैं, किन्तु ये अर्थ उन्हींके अन्वये हुए और निश्चय किये हुए हैं।

यस्माद्रागद्वेषोद्धतचित्तान् समनुशास्ति सद्धमें ।

संत्रायते च दुःसाच्छास्त्रमिति निरुच्यते सद्धि ॥ १८७ ॥

टीका—शास्त्रनिवचनद्वारेण शब्दं संस्कारयति। रागद्वेषाभ्यामुद्धतमुहुरण चित्तं येषां तत्र रागद्वेषोद्धतचित्तान् सम्यगनुशास्ति। सद्धमं धर्मादिदृष्टव्येषु सद्धमविषयमनुशासनं कर्षति। समापते च दुःखान् दारौराम्मानसाद्येति परिरक्षति यस्मात्तस्माच्छास्त्रमभिधीयते। सद्धिययान्वापदादिभिर्निश्चयेनोच्यते निरुच्यत इत्ययः ॥ १८७ ॥

अथ—यत्त एव और हेप्लेभिनके विषय व्याप्त हैं उनको समीचीन धर्ममें अनुशासित करता है और बुद्धसे बचाता है, इसविषय समझ उसे प्राप्त करते हैं ।

माषाय—ऊपर 'सासु' शब्दका अर्थ अनुशासन और 'त्रैकु' शब्दका अर्थ रक्षण मतवाया है । इन्हीं दोनों शब्दोंसे शास्त्र शब्द बना है । अतः जो रागी और हेप्ले मनुष्योंको उचित धार्मिकरूप दृष्टकर्मजन्यधर्मकी शिक्षा देता है, और नरकादि गतिष्योके शारीरिक और मानसिक दुःखोंसे उन्हें बचाता है, उसे प्राप्त करते हैं । न्यायके अनुसार बोधनेवालोंने शास्त्रका यही अर्थ निश्चित किया है ।

शासनसामर्थ्येन तु सप्राणवलेन चानवद्येन ।

युक्त यत्तच्छास्त्रं तच्चैतत्सर्वविद्वचनम् ॥ १८८ ॥

टीका—शासनसामर्थ्येनानुशासनसमर्थमिदं द्वादशाङ्गं प्रवचनमतस्तेन शासन-सामर्थ्येन संसाररक्षाभावनुवृत्ता उद्विपरीतं च मोक्षमार्गं दक्षयता निरापापं परिरक्षता च धारणागतान् प्राप्तिनोऽनवद्योपायेन कश्चित् परिरक्षत्यम्पानुपपन्नं तथेवं शासनं कस्वचित्तुप-पातकं युक्तमिदं प्रतिबद्धम् । यतः शास्त्रमुक्तेनावद्ययेन तच्चैतच्छास्त्रं सर्वविद् सचक्षस्य वचनमन्वयद्वारेण क्षीपाद्योपपागद्वेषमोहस्य नाम्यस्येति ॥ १८८ ॥

अथ—जो निर्दोष शासनशक्ति और ध्यानके बलसे युक्त होता है, उसे प्राप्त करते हैं । ऐसा शास्त्र सर्वविद् वचन ही हो सकता है ।

माषाय—शरणाङ्गरूप प्रवचन कोरुका अनुशासन करनेमें समर्थ है, तथा सत्कारण स्वभाव क्लेशहर और उससे विपरीत मोक्षके मार्गको दर्शाकर धरणीमें आये हुए प्राणियोंकी निर्दोष उपायसे तथा करनेमें समर्थ है । जिस प्रकार रामा दुष्टोंका वध करके किसी एककी रक्षा करता है, उसी प्रकार यह शास्त्र किसीका मतक नही है । अतः शास्त्र उक्त दोनों बातोंसे युक्त होता है, अतः वह शीतलन शीतलप और शीतलोह भगवान् सर्वद्वेषका वचन ही हो सकता है । नैतिक उन्नीक वचनोंमें जगत्को निर्दोष विद्यमान देनेकी और निर्दोष शीतल बलसे ध्यान करनेकी अनुपम सामर्थ्य है ।

तदेव सचक्षवचनमुदेसतो दृष्टपचाह—

यव उहो सर्वद्वेषके वचनोंको बतलाता है —

जीवाजीवा पुष्यं पापास्रवसवरा सनिजरणा ।

चन्धा माक्षभेते सम्यक् चिन्त्या नवपदाया, ॥ १८९ ॥

टीका—जीवा इति समस्तः प्राणमात्र उक्तः । ते च द्रव्यमात्रमेव प्राणा द्विप्रकाशः । तत्र द्रव्यप्राणा पञ्चेन्द्रियाणि त्रिविधं बलं च उष्णान्निध्यासबलं तथायुरिति ।" माद-
प्राणास्तु ज्ञानवृत्तानोपयोगाख्याः । पामिः प्राणैरजीविषुर्जीवन्ति जीविष्यन्ति चेति जीवाः । तदि-
परीतास्त्वजीवाः । पुण्यं सात्तादिदासत्कारिणः कर्मप्रकृतयः । पापं द्रव्यधिकाधीति कर्ममेवानाम् ।
आत्मक कायवाग्मनोभिः कर्मयोग आत्मनः । पपामेवाभवाणां निरोध संहरः । सह निबरणेन
सनिबरणाः । निरुद्धेऽनात्मकारेण गुणिसमितिसर्मानुभेक्षापरीपहृदयचरणयुक्तस्य तपोऽनुष्ठानात्
कर्म निबरणं मन्तीति । सिष्यादक्षनात्रयो बन्धहेतवः । सद्योगात् सङ्घायाः सङ्घात्मा
कर्मभोग्यपान् वृत्तानात्से स बन्धः । बन्धहेत्वमावनिबराम्यां कृत्स्नकर्मस्यो मोक्षः । इत्यमेते
सम्पत् चिन्त्याः सम्पत्सङ्घोभ्या अन्यस्मि प्रतिपाद्या नव पद्यायाः । ननु च सास्त्रे सत्ताभिहितान्-
क्यममम मयेति ? उच्यते—शास्त्रे पुण्यपापयोर्बन्धग्रहणैरेव ग्रहणात् सत सक्या । इह तु मेवेना-
पादानं पुण्यपापप्रकृतिविभागप्रतिपादनाद्यमिति ॥ १८९ ॥

वर्ण—जीव, अजीव, पुण्य, पाप आत्मक, संहर, निर्वरा, बन्ध और मोक्ष—इन नौ पदार्थों
का अष्टी तरह चिन्तन करना चाहिए ।

मात्राय—जो अपने अपने योग्य प्राणोंको धारण करते हैं, उन्हें जीव कहते हैं । वे प्राण
दो प्रकार के होते हैं—एक द्रव्यप्राण और दूसरे माध्प्राण । पाँच इन्द्रियों, तीन बल, श्वासोष्मस
और आयु—ये दस द्रव्यप्राण हैं । तथा ज्ञानोपयोग और दर्शनीपयोग, माध्प्राण हैं । इन प्राणोंसे
जो जिये वे, जीते हैं, और अजीकी उन्हें जीव कहते हैं । उनसे विपरीत अजीव होते हैं । सात्तावैदनीय
योग ४२ कर्मप्रकृतियोंको पुण्य कहते हैं । असत्तावैदनीय आदि ८९ कर्मप्रकृतियोंको पाप
कहते हैं । मनोयोग वचनयोग, और कर्मयोगसे आत्माने कर्मोंके जानेको आत्मक कहते हैं । आत्मकके
रोकनेको संहर कहते हैं । आत्मकके शरोंके रोकने पानेपर गुधि समिति, धर्म अनुप्रेक्षा, परीपहृदय और
आदिप्रसे कुछ साधुके तप करनेसे जो कर्म ब्रह्मते हैं वह निर्वरा है । बन्धके कारण सिष्यादर्शन वगैरहके
निमित्तसे कयाय सङ्घित आत्मा जो कर्मोंके योग्य पुत्रोंको ग्रहण करता है, उसे बन्ध कहते हैं । बन्धक
कारणोंके अभाव और निर्वराके निमित्तसे आत्मासे समस्त कर्मोंके क्षय हो जानेको मोक्ष कहते हैं । इस
प्रकार इन नौ पदार्थोंका अष्टी तरह मनन करना चाहिए और दूसरोंको उपदेश देना चाहिए ।

शाब्दा—अन्य शाब्दोंमें तो सात पदार्थ कथनाये हैं । यहाँ नौ क्यों कहे हैं ?

समाधान—अन्य शाब्दोंमें पुण्य और पापका अन्तर्भाव बन्धमें कर दिया गया है । अतः यहाँ
सात ही दिनाये हैं । यहाँ पुण्य कर्म और पाप कर्मोंका भेद बतलानेके लिए उनका पुनः ग्रहण
किया है ।

जीवमेव प्रतिपादनायाह—
जीवोंके भेद बतलाते हैं —

जीवा मुक्त्य ससारिणश्च संसारिणस्त्वनेकविधा ।

लक्षणतो विज्ञेया द्वित्रिचतुःषष्टपद्भेदा ॥ १९० ॥

टीका—द्विप्रकारा जीवाः। मुक्त्यः सफलकर्मसायमाश्च एकरूपाः। संसारिणस्त्वनेक-
विधाश्चतुर्गतिप्रवृत्त्या ये ते जालेकभेदाः—नारकास्तिर्यग्जो मनुष्या देवाः। पुना एतन्प्रमापूषिषी-
नारका इत्यादिभेदाः। तिर्यग्जोऽप्येकद्वित्रिचतुःषष्टिभिर्यजोः। पुनरेकेन्द्रिवा पृथिव्यादिभेदाः।
द्विन्द्रिवाः शंखशुक्तिकल्पयः। त्रीन्द्रिवाः पिपीठिकल्पयः। चतुरिन्द्रिवा मक्षिकाभ्रमरप-
तङ्गवदः। पञ्चेन्द्रिवा गोमक्षिप्यवाविकावयो गर्भम्युच्छान्तवदः संसृष्टजाश्च। मनुष्या आस-
म्बेच्छादिभेदाः। गमनात् संसृष्टजाश्चेति। देवा भयनपतिभ्यन्तरज्योतिष्कर्ममानिक्यः। भयन-
पतयो ब्रह्मासुरावदः। भ्यन्तराः किञ्चरज्योऽष्टभेदाः ज्योतिष्क्य पञ्चमकाराः सूयावदः। वैमानिक्य
सौपर्यवास्थावद इति ॥ १९० ॥

अथ—श्रीव दो प्रकारके होते हैं—मुक्तजीव और संसारीजीव। संसारीजीव दो, छीम-
चाद, पौच और छह भेदरूप अनेक प्रकारके होते हैं। उन्हें अपने-अपने किन्हींसे जाल जेना चाहिए।

साधारण—श्रीव दो प्रकारके होते हैं। उनमेंसे मुक्तजीव समस्त ज्योंसे मुक्त होनेके कारण
सब एकसे ही होते हैं। किन्तु संसारीजीव अनेक प्रकारके होते हैं। सबसे पहले चार गतियोंकी अपेक्षासे
चार भेद हैं—नारको तिर्यग्ज मनुष्य और देव। फिर एतन्प्रमा पुषिषी कौण्डली अनेछासे नारकियोंके
अनेक भेद हैं। तिर्यग्जोंके एकेन्द्रिय, दोश्रिन्द्रिय, त्रैन्द्रिय औरिन्द्रिय, पञ्चेन्द्रिय आदि भेद हैं।

एकेन्द्रियोंके पुषिषी आदि भेद हैं। दोश्रिन्द्रियोंके शंख—छीप कौण्ड भेद हैं। त्रैन्द्रियोंके पिपीठि आदि
भेद हैं। चौरिन्द्रियोंके मक्षी मोर, पतङ्ग कौण्ड भेद हैं। पञ्चेन्द्रियके नाव भ्रम कच्छा, मेवा कौण्ड
तथा गर्भज और संसृष्टजन अनेक भेद हैं। मनुष्योंके जार्भ, म्बेच्छा गर्भज, संसृष्टजन आदि भेद हैं।
देव, भयनपति, भ्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक होते हैं। भयनवासियोंके ब्रह्मासुरा कौण्ड इष्ट भेद
हैं। भ्यन्तरोंके किञ्चर कौण्ड आठ भेद हैं। ज्योतिष्क्योंके सूर्य कौण्ड पौच भेद हैं। और वैमानिक्योंके
सौपर्यवासी कौण्ड भेद हैं।

प्रकारप्रकारस्त्वनेकविभक्त्यमस्यथा ब्रह्मायति—

मन्थकार संसारीजीवोंके दो-तीन कौण्ड भेदोंको कहते हैं—

द्विविधाभराचराख्यास्त्रिविधाः स्त्रीपुनपुंसका ज्ञेया ।

नारकतिर्यग्मानुपदेवाश्चतुर्विधाः प्रोक्ता ॥ १९१ ॥

टीका—चतुर्भंगमास्तेजोबापुत्रीन्द्रियावदः सञ्चराः स्थावराः पृथिव्यावदः। त्रिविधाः
स्त्रियाः पुमांसो नपुंसकाः। नारकादिभेदेन चतुर्विधाः। साधनेऽभिहितः ॥ १९१ ॥

अर्थ—संसारिणीय चर और अचरके मदसे दो प्रकारके और की, पुरुष और अपुरुषके लिये तीन प्रकारके ज्ञानके आदि। तथा नारकी, सिध्द, मनुष्य और देवके भेदसे चार प्रकारके हो गये हैं।

साध्याय—देवक्याय, बायुक्याय द्विन्द्रिय बगैरह अंगम प्राणियोंको चर कहते हैं। पृथिवीक्याय चरह स्यात् प्राणियोंको अचर कहते हैं। संसारिणीयके ये दो भेद हैं। तथा श्री कौण्डिन्य अपेक्षासे न भेद है और नारकी भीरुकी अपेक्षासे चार भेद हैं।

पञ्चविधास्त्वेकद्वित्रिचतु पञ्चेन्द्रियाश्च निर्दिष्टा ।

क्षित्यम्युवह्निपवनतरवस्त्रसाश्च पद् भेदाः ॥ १९२ ॥

टीका—पञ्चप्रकार एकद्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रिया कथिताः । भूमिजलवायुवनस्पति-
न्द्रियादयश्चेति पद् भेदाः ॥ १९२ ॥

अर्थ—एकेन्द्रिय, दोन्द्रिय, त्रेन्द्रिय, चोन्द्रिय और पञ्चेन्द्रिय-ये पाँच भेद कहे हैं। और पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और वस्त्र-ये छह भेद कहे हैं।

साध्याय—संसारिणीयके एकेन्द्रिय बगैरहकी अपेक्षासे पाँच भेद है। और पृथिवी बगैरह छह प्रकारकी अपेक्षासे छह भेद है।

एवमनेकविधानामेकैको विधिरनन्तपर्याय ।

प्रोक्त स्थित्यवगाहज्ञानदर्शनादिपर्यायै ॥ १९३ ॥

टीका—एवमुक्तेन न्यायेनानेकविधानामनेकमेधानामेकैको विधिमूढभेदोऽनन्त-
पर्यायोऽनन्तभेदः कथितः । केन फलत्वेन स्थितितोऽवगाहतो ज्ञानतो दर्शनतश्च । स्थिति-
तस्तावदान्तपर्यायः । अनार्यो संसारोऽनन्ताः स्थितिपर्यायाः । अवगाहतोऽप्यसंनयेयप्रदेशावगाहे
ईनाभिकसमप्रदेशभेदेनावगाहोऽपि पदप्रकाटः । तथा ज्ञानतोऽप्यनन्तपर्यायता दर्शनतश्च ।
पयोक्तम्— अर्थता वाच्यपञ्चबा, अर्पता वंसपपञ्चबा । ” एकैको नारकादिभेदो यथासंभ-
मनन्तपर्यायो भवति ॥ १९३ ॥

अर्थ—इस प्रकार अनेक भेदोंमेंसे एक-एक मूढभेदके स्थिति, अवगाह, ज्ञान दर्शन बगैरह
पर्यायोंकी अपेक्षासे अनन्त भेद कहे हैं।

साध्याय—उक्त प्रकारके संसारिणीयोंके अनेक भेद हैं। उन अनेक भेदोंमेंसे भी एक-एक
भेदके स्थिति बगैरहकी अपेक्षासे अनन्त भेद हैं। स्थिति एक अन्तर्दृष्टिके केवल ठेकीस सागर तक होती

है। अतः स्थितिको अपेक्षा अनन्त भेद है। एक जीवकी अवगाहना कोकके असंख्यतर्षे मानके बरकर है। सारक छोटे-बड़े होनेके कारण प्रदेशोंकी हीनता और अधिकता होनेसे अवगाहनाकी अपेक्षा भी बहुतसे भेद होते हैं। तथा ज्ञान और दर्शनकी अपेक्षासे भी अनन्त भेद होते हैं। क्योंकि सूक्ष्म मिगोपिचा सम्पूर्णपर्याप्तके ज्ञानसे लेकर कसबज्ञानपर्यन्त ज्ञानके अनन्त भेद हैं। इस प्रकार एक एक नारकदि भेदक संभव अनन्त भेद होते हैं।

जीवदक्षयामभिस्रयाह—

जीवदक्षयं पश्यते है—

सामान्यं सत्तु लक्षणमुपयोगो भवति सर्वजीवानाम् ।
साकारोऽनाकारश्च सोऽष्टभेदश्चतुर्धा तु ॥ १९४ ॥

टीका—सामान्यलक्षणं सर्वजीवानामुपयोगश्चेतना ज्ञानदर्शनव्यापारः । सत्तु सव्योऽवधारणे । उपयोग एव सामान्यलक्षणम् । सवर्षजीवानामिति । तमुपयोगं विस्पष्टयति—साकारोपयोगः साकारे विकल्पे सहाकारेण साकारं सविकल्पो ज्ञानव्यापारः । अनाकारो दर्शनोपयोगः । सामान्यप्रज्ञाप्य निर्विकल्पमिस्त्वयः । ज्ञानोपयोगोऽष्टभेदः—मतिभूतावभिमन्यपयायकेरुत्तमस्यज्ञानभूताह्लासिर्भगवत्प्राप्त्याः । दर्शनोपयोगश्चतुर्धा—चक्षुरचक्षुरवधिकेसु दर्शनात्मका ॥ १९४ ॥

अर्थ—सर्व जीवोंका सामान्य लक्षण उपयोग ही है। यह दो प्रकारका होता है—साकार और अनाकार। साकारउपयोगके आठ भेद हैं, और अनाकारउपयोगके चार भेद हैं।

भाषा—जानने-रक्षक रूप चैत्य-व्यापारको उपयोग कहते हैं। यह उपयोग ही सर्व जीवोंका सामान्य लक्षण है। उसके दो भेद हैं—साकारउपयोग और अनाकारउपयोग। यह बट है इस प्रकारके विकल्पको व्यक्त करते हैं और सविकल्पक ज्ञान-व्यापारको सामान्योपयोग कहते हैं। तथा निर्विकल्पक दर्शन-व्यापारको अनाकारउपयोग कहते हैं। ज्ञानोपयोगके आठ भेद हैं। पक्षिज्ञान मुग्धज्ञान अचक्षिज्ञान मत्पर्यवृत्तान केरुज्ञान, मत्प्राज्ञान भुगाज्ञान और भिर्भगज्ञान। दर्शनोपयोगके चार भेद हैं—चक्षुर्दर्शन अचक्षुर्दर्शन अवचिदर्शन और केरुदर्शन।

तानाष्टी भेदाश्चतुरभ्य विस्तरक कथयति—

द्वयं आठ और चार भेदोंको विस्तरसे कहते हैं—

ज्ञानाज्ञाने पञ्चत्रिविकल्पे सोऽष्टधा तु साकारः ।

चक्षुरचक्षुरवधिकेवलदृग्विषयस्त्वनाकारः ॥ १९५ ॥

टीका—यथासंख्यं पञ्चविकल्प मत्पादिज्ञानम्, भिविकल्पकमज्ञान मत्पञ्चानादि । एवोऽष्टप्रकार उपयोगः साकारः । तुशब्दोऽवधारणे । अष्टविध एवेति । चक्षुर्वर्णनादिसामान्योपयोगश्चतुर्विधेति ॥ १९५ ॥

अर्थ—पाँच प्रकारका ज्ञान और हीन प्रकारका अज्ञान इस प्रकार आठ प्रकारका उपयोग साकार होता है । और चक्षुर्वर्णन, अक्षुर्वर्णन अवधिवर्णन, केवलदर्शनका विषय वनाकार होता है ।

जीवस्यैवमुपयोगलक्षणस्य सतः परिणतिविशेषान् भावान् दृश्यन्माह—
इस प्रकार जीवका लक्षण उपयोग है । जब उसके मार्गको बतलाते हैं—

भावा भवन्ति जीवस्योदयिक पारिणामिकञ्चैव ।
औपशमिक क्षयोत्थ क्षयोपशमजम् पञ्चेति ॥ १९६ ॥

टीका—पञ्चेते जीवस्य भावाः परिणतिविशेषाः क्रमोदयोपशमक्षयोपशमक्षयनिवृत्ताः । औदयिकम्, पारिणामिकम्, औपशमिकम्, क्षायिकम्, क्षायोपशमिकञ्च पञ्चेति ॥ १९६ ॥

अर्थ—जीवके औदयिक, पारिणामिक, औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिक—ये पाँच भाव होते हैं ।

भाषा—जीवकी परिणति विशेषको भाव कहते हैं । ये पाँच प्रकारके होते हैं, और क्रमोंके उदय उपशम, क्षयोपशम और क्षय वगैरहसे उत्पन्न होते हैं ।

एवमेवौपशमिकादिभेदानां क्रमेण भेदान्पष्टे—
इन औपशमिकादि मार्गोंके भेद क्रमशः कहत हैं —

ते चैकैर्विंशतित्रिद्विजवाष्टादशविधाश्च विज्ञेया ।
पष्टम् सान्निपातिक इत्यन्य पञ्चदशभेद ॥ १९७ ॥

टीका—क्रमोदये मयः क्रमोदयनिवृत्तो वा औदयिकः स एकविंशतिभङ्गः । गतिनारकादिका चतुर्विंशत् क्रपायाः क्रोधादयश्चतुषाः त्रिभू स्त्रीपुनपुंसकारण्यं त्रिधा मिथ्या मिथ्यादशम-मधदात्मलक्षणमेकप्रकारम् भ्रष्टानमेकपिचम् अक्षयतत्त्वमेकप्रकारम् असिद्धत्वमेकपिच ज्ञेयः पदप्रकारः । एते गत्याद्याः सर्वे क्रमोदयान् प्रादुर्भवन्ति । अनादिपारिणामिको माघरिषिषा जीवस्यं मय्यत्वममपत्वं चति । निते क्रमोदयाद्यपेक्षन्ते । क्रमोपशमनिवृत्त-भीपशमिकः, सम्पत्स्वं पारिणं च द्विविध । क्षयोत्थं क्रमक्षयान्नातः क्षायिकः । स नव-

मेदा—केवलज्ञानम्, केवलज्ञानम् दानकम्भिः, कामकम्भिः, मोगकम्भिः, उपमोगकम्भिः
वीर्यकम्भिः सम्पत्स्वं चारिष्येति । सयोपसमम् भायोपसमिकम् । सोऽप्युत्सनेक—
मत्पादिकान् चतुर्विधम् अज्ञानं मत्पादनादि भिविधम् दर्शनं चतुर्दर्शनादि भिविधम्,
दानादिकम्भयः पञ्च, सम्पत्स्वं, चारिषं संयमासंयमश्चति । पद्यम् साक्षिपातिक इति
साक्षिपातः संयोगः । साक्षिपातः प्रयोगमस्येति साक्षिपातिकः संयोगो भावः । तत्र
पञ्चानामावानामौद्ययिकीपसमिकभाषिकसायोपसमिकपारिजादिकानां द्विकृदिसंयोगेन पद्वि-
द्यतिर्विकल्पना मवन्ति । तत्र विरोधित्वत्वेकत्वेन स्यात्स्या । दोषा पञ्चसाक्षिपातिना
संभवन्ति । तेषामविरोधानां पञ्चशास्त्राणां प्रह्वं कृतं प्रकरणकार्येति । ते चामी विज्ञेयाः ।
अन्व पद्विकल्पस्य साक्षिपातिक इत्यर्थः ॥ १९७ ॥

अर्थ—ये औद्ययिक भादि मात्र इत्यस्य तीन दो, नी और वठरह प्रकरके जानने चाहिए ।
तथा छद्मा साक्षिपातिक नामक एक अन्य मात्र भी है । उसके पन्द्रह भेद हैं ।

माथार्थ—कर्मोंके उदरपसे जो मात्र होता है उसे औद्ययिक कहते हैं । उसके इत्यस्य भेद
है—भरक अग्नि चार तटिपों, श्रोत्र वगैरह चार कलाय की पुरुष और नपुंसक भिन्न एक भिन्ना
दर्शन, एक अज्ञान एक असयत एक अक्षिज्ञान और छह ज्ञेया । ये सभी मात्कर्णके उदरपसे होते
हैं । पारिजातिकमात्र जगामि हैं । उसके तीन भेद हैं—वीर्य, सम्पत् और अममत्त्व । ये मात्र
कर्मोंके अपेक्षासे नहीं होते हैं ।

कर्मोंके उदरपसे जो मात्र होता है, उसे औपसमिक कहते हैं । उसके दो भेद है—सम्पत्त्व
और चारिष । कर्मोंके अदरपसे जो मात्र होता है, उसे साक्षिक कहते हैं । उसके भी भेद है—केवलज्ञान
केवलदर्शन दानकम्भिः, कामकम्भिः, मोगकम्भिः उपमोगकम्भिः, वीर्यकम्भिः, सम्पत्त्व और चारिष । कर्मोंके
अयोपसमसे जो मात्र होता है, उसे अयोपसमिक कहते हैं । उसके वठरह भेद है—चार प्रकरक
मत्पादिकान् तीन प्रकरक अज्ञान तीन प्रकरक चतुर्दर्शन भादि दर्शन, पाँच दानादि कम्भिषी
सम्पत्त्व, चारिष और संयमसयम । इन पाँच भावोंके सिवाय एक छद्मा मात्र और भी है, जिसे
साक्षिपातिकमात्र कहते हैं । साक्षिपात संयोगको कहते हैं । पाँचों भावोंके संयोगसे जो मात्र होते हैं
उन्हें साक्षिपातिकमात्र कहते हैं । अर्थात् साक्षिपातिक कोई एकत्र मात्र नहीं है; किन्तु संयोगत्र
मात्र है । उसके छम्बीस भेद होते हैं—दो संयोगी दस तीन संयोगी दस, चार संयोगी पाँच, और
पाँच संयोगी एक । इनमेंसे भिरोधी होनेसे ग्वाह मात्र होनेसे योग्य है । दो पन्द्रह मात्र अविरोधी
है । प्रत्यकरके अविरोधी पन्द्रह भावोंत्र ही प्रह्वन किया है ।

एभिर्भावं स्यात् गतिमिन्द्रियसम्पत् सुखं दुःखम् ।

सप्रामोतीत्यात्मा सोऽष्टविकल्प समासेन ॥ १९८ ॥

टीका—एमितौषधिकविनिर्माणैः स्थानं प्राप्नोतीत्यात्मा । स्थानमिति स्थीयते यत्र ससारे तत्स्थानं सामाम्येनाविशोपितं प्राप्नोति । अत उक्तम्—

“सम्भावाप्याहं असासपाद् इह चैव देवलोपम ।

अमुरसुत्नारप्याणं (नरुह्यं) सिद्धिविसेसा सुहाद् च ॥ १ ॥”

गतिं नारकादीनां च गतिं प्राप्नोति मार्गरेव । ननु च गतिस्थानयोर्नास्ति विशेषः । उच्यते—नरकगताश्चैव अथम्यमथ्यमोत्कृष्टाणि स्थानानि बहूनि सम्तीति तत्रप्रतिपादनाय स्थानं प्रहृष्य पृथगिति । इन्द्रियाणि स्पृशनादीनि । एषां सम्पत्समप्रताऽधिक्यतावाऽतश्चेन्द्रियसम्पत् प्राप्नोतीत्यात्मा । अथवा इन्द्रियाणि च सम्पद्भवभित्तय इत्ययम् । तथा सुखं दुःखं भीदयिकं मादवसात्प्राप्नोति । अतति गच्छति तास्तान् स्थानान्निविशेषान् प्रकर्मणाप्नोतीत्यात्मा । स पादमेव संक्षेपतोऽनुगन्तव्यं ॥ १९८ ॥

अयं—इह मार्गरे अहमा स्थान, गति, इन्द्रिय सम्पत्ति सुख और दुःखको प्राप्त करता है । संक्षेपसे उसके आठ मेरु हैं ।

भावाय—इह औद्ययिक आदि मार्गरे अहमा स्थानको प्राप्त करता है । ससारेमें जहाँ अहमा ठहरा है, उस स्थान कहते हैं । वह स्थान कर्मोंके उदयसे ही प्राप्त होता है । मार्गरे ही गति प्राप्त होती है ।

सङ्घा—गति और स्थानमें तो कोई अन्तर नहीं है ।

समाधान—नरकदिक गतियोंमें ही अथम्य, मथ्यम और उत्कृष्ट बहुतसे स्थान हैं । उन्हें कर्तव्यके लिए स्थानकर पृथक् प्रहृष्य किया है । इन्द्रियोंकी उत्कृष्टताको इन्द्रियसम्पत् कहने हैं । अथवा इन्द्रियों और सम्पत्ति ऐसा अर्थ भी कर सकते हैं । इन्द्रियसम्पत् भी मार्गरे ही प्राप्त होती है । तथा सुख-दुःख भी औद्ययिकमादके कारण ही प्राप्त होते हैं । संक्षेपमें उस अहमके आठ मेरु हैं ।

तान्त्री विकल्पानभिवात्तकाम माह—

उन आठ मेरुओंको कथनते हैं—

द्रव्य कपाययोगादुपयोगो ज्ञानदर्शने चेति* ।

चारित्र्यं वीर्यं चेत्यष्टविधा मार्गणा तस्य ॥ १९९ ॥

टीका—द्रव्यारमा कपायात्मा, योगात्मा उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चरित्रारमा वीर्यात्मा, चेति अष्टविधाऽष्टप्रकारात् मार्गणा गवेषणा परीक्षा तस्यात्मनः कथयति ॥ १९९ ॥

अयं—इत्यात्मा कपायात्मा योगात्मा, उपयोगात्मा, ज्ञानात्मा, दर्शनात्मा, चरित्रारमा और वीर्यात्मा—ये अहमाकी आठ मार्गणें हैं ।

*—भीदयिकारतिकी टीकाके स्थानका अर्थ—रिचि—आनु किया है । पृ १९ । २-विद-प-० ।

माचार्य—मर्माणां खोत्रने अपवा परीक्षा करनेको कहते हैं। इत्य आदि आठ प्रश्नरहिते आत्माम्ने खोत्रकी जाती है।

सम्प्रत्येषां द्रव्याधात्मना स्वरूपविबदायाह—

अथ इव द्रव्यात्मा आदिक्य स्वरूपं कश्चते है—

जीवाजीवानां द्रव्यात्मा सकपायिणां कपायात्मा ।

योग सयोगिना पुनरुपयोग सर्वजीवानाम् ॥ २०० ॥

टीका—जीवत्कर्मणाद्विपारिणामिका भावः। जीवश्च द्रव्यमन्वयी सन्न परिणामपयायेऽनुस्यूतं द्रव्यति वस्तान् पयामामाम्प्रोति नारकादीन्। सर्वभाविच्छेदेन वर्तते। एक द्रव्यं द्रव्यात्मा सर्वभावेति यस्मादिति। एकमजीवानामपि योऽन्वयंशा पुत्रकानां स द्रव्यात्मा। जन्मादीनां तु परस्त्वया उत्पादविपरिणामास्तथाप्यन्वयी द्रव्यात्मेति। कपायाः क्रोधाद्यपस्ते सन्ति यथा ते कपाविजस्तेषां कपाविजामात्मा कपायैः सहैकत्वापत्तेः कपावास्तेसुच्यते। योगा मनोवाद्या यद्व्याजास्तवेकत्वापरिणत आत्मा यः स सत्तु योगात्मा सयोगानामिति। उपयोगो ह्यन्यदर्थक्यापाये द्वेषविशेषस्तत्परिणत आत्मा उपयोगात्मेति सर्वजीवविषयः। सर्वग्रहणयुक्त परिह्वार्यम् ॥ २० ॥

अर्थ—जीव और अजीवोंके द्रव्यरत्ना होती है। सकपाय जीवोंके कपायात्मा होती है। सयोगियोंके योगात्मा होती है और सब जीवोंके उपयोगात्मा होती है।

भाषा—जीवन कनादि पारिणामिकभाव है। और जीव कल्पयी द्रव्य हैं। क्योंकि वह सब पर्यायोंमें अनुस्यूत रहता है। जो नारकादिक पर्यायोंको प्राप्त करता है उसे द्रव्य कहते हैं। जीव भी अपनी सब पर्यायोंमें रहता है, अतः वह द्रव्य है। द्रव्यको ही द्रव्यात्मा कहते हैं। क्योंकि वह अपनी समस्त दशाओंमें अन्वित रहता है। इसी प्रकार अजीव पुत्रक कर्म कीछने जो अन्वयी अन्न होता है उसे द्रव्यात्मा कहते हैं। इस तरह जीव अजीव द्रव्योंके द्रव्यरत्ना होती है। उदाहरण यह है कि केतन और अकेतन छहों द्रव्योंमें जो स्थितिकर अन्न है, जो कि द्रव्यकी प्रत्येक पर्यायोंमें कल्पय रहता है, उसे यहाँ आत्मा अन्वये कहना गया है। क्योंकि सन द्रव्य अपने उस अन्नको कभी नहीं छोड़ते हैं। जिस प्रकार सोनेके अन्नपर्यायोंमें सुवर्णत्व स्थायी अन्न है, अतः वह सुवर्णकी आत्मा कहा जाता है, उसी प्रकार सब द्रव्योंका अपना अपना स्थायी अन्न उनही द्रव्यरत्ना कहना चाहिए। कपायसे कुछ जीवोंको सकपाय कहते हैं और उनकी आत्माको सकपायात्मा कहते हैं। क्योंकि उनकी आत्मा कपायके साथ द्विभेदिकी होती है। मन कचन कचकय मोनसे कुछ आत्माको योगात्मा कहते हैं। वह योगात्मा सयोगियोंके होती है। जलने-दे-बनेरूप म्यापायको उपयोग कहते हैं। उससे कुछ आत्माको उपयोगात्मा कहते हैं। वह उपयोगात्मा सभी जीवोंके होती है; क्योंकि जीवक अन्वय उपयोग ही है।

ज्ञान सम्यग्दृष्टेर्दर्शनमथ भवति सर्वजीवानाम् ।

चारित्र्य विरतानां तु सर्वससारिणां वीर्यम् ॥ २०१ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञस्यात्मनस्तत्त्वाथमज्ञानपरिणाममात्रो यो ज्ञानपरिणामः स ज्ञानात्मा । दर्शनात्मा चतुर्दशनाविपरिणतस्यात्मनस्तदेकतापत्तेर्दर्शनात्मा । सर्वबीजविषयप्राप्तातिपाताविषयस्वान्तेभ्यो विरतस्य तदाकारपरिणतस्य चारित्र्यात्मा । वीर्यं शक्तिभेदात् । तेन वीर्येण सर्वे ससारिणो बीर्यात्मान उच्यन्ते ॥ २०१ ॥

अथ—सम्यग्दृष्टीके ज्ञानात्मा होती है । सब जीवोंके दर्शनात्मा होती है । वक्तियोंके चारित्र्य होती है और सब संसारियोंके वीर्यात्मा होती है ।

माभार्य—सम्यग्दर्शनसे पुच्छ आत्माका जो ज्ञानरूप परिणाम तत्त्वार्थके अज्ञानसे पुच्छ होता है, उसे ज्ञानात्मा कहते हैं । अतः सम्यग्दृष्टीके आत्मा ज्ञानात्मा होती है । अस्तु, अथस्तु शौच दर्शनेसे पुच्छ आत्मको दर्शनरत्मा कहते हैं । यह आत्मा सभी जीवोंके होती है क्योंकि सभी जीवोंमें दर्शन पाया जाता है । जीवहिंसा शौच पापके स्वार्थसे निरुक्त साधुके चारित्र्यात्मा होती है । वीर्य शक्तिसे कहते हैं । शक्ति सभी जीवोंमें पाई जाती है । अतः सब ससाधि जीवोंके वीर्यरत्मा होती है ।

एवमेतेऽप्यौ आत्मनो विकल्प्याः प्रतिपादितास्तत्र द्रव्यात्मानमाश्रूयते—अबीजविषयत्वेति ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावभेदतः प्रतीतः, कथं पुद्गलादिव्यात्मशब्दप्रवृत्तिरित्युच्यते—

इस प्रकार आत्माके ये अष्ट भेद बतलाये हैं । उनमेंसे द्रव्यरत्माके बारेमें यह कहा होती है कि आत्मा अमल है और यह ज्ञानदर्शनरूप उपयोगमयी है । अतः जो जीवके साधनबीजके मी द्रव्यात्मा बतलाई गई है, वह ठीक नहीं है क्योंकि अबीज पुद्गलादिकको आत्मा समझते कैसे कहा जा सकता है । इसका उत्तर देते हैं—

द्रव्यात्मेत्युपचार सर्वद्रव्येषु नयविशेषेण ।

आत्मादेशादात्मा भवत्यनात्मा परादेशात् ॥ २०२ ॥

टीका—उपचारो व्यवहारो शब्दनिबन्धनः । स च द्रव्यो निमित्तमाभित्य प्रतीतेः । तत्र निमित्तमुपययत् तुभ्यम् । स यथैव चेतनो भवति तथाऽचेतनोऽपि अन्वयी पुद्गलादौऽतदीति भवत्यात्मशब्दाभ्याम् । सचद्रव्यविषयश्चैव न्याय इति । नयविशेषेभ्योऽप्याह—सामान्य प्राक्षिप्या नयभेदेन सचप्रात्मशब्दप्रवृत्तिः । अथ सोऽप्यात्मा द्रव्यसेप्रादिविषयत्वास्ति न सध्या । तत्र स्वरूपेणादिष्टे विवक्षित आत्मास्ति, पररूपेणादिष्टे नास्ति । यथैव स्वास्तित्वावस्तीत्युच्यते, तथा परनास्तित्वावास्तीत्युच्यते । स्वावगाहसेप्रादिविषयेन नयविषयत्वास्ति,

मान्येन । एवं कालात्मा वतमानतयाविद्योऽस्ति भतीतानागततया नास्ति । भावविस्मयानामन्यतमं भावेनाविद्योऽस्ति, एष भावनं मान्ति ॥ २०२ ॥

अर्थ—नव विद्यपक्षे सब दम्बोंमें 'दम्बप्रमा' पक्षा स्पष्टकर होला है । अहम्यकी अपेक्षासे अहम्य है और परकी अपेक्षासे अनामा है ।

भाषा—साम्प्रतिक स्पष्टकारके उद्धार कहते हैं वह उपचार किसी निमित्तसे उद्धार किया जाता है । वह निमित्त जीव और जजीव—दोनोंमें ही समान है, क्योंकि जो अहम्यपक्षसे सब पार्श्वोंमें गमन करता है, उस अहम्य कहते हैं । अतः जिस प्रकार वतमन्य जानी पार्श्वोंमें अन्वयी है, उसी प्रकार पुत्रकादिब्रह्म्य भी जाननी पार्श्वोंमें अन्वयी है । अतः उन्हें भी अहम्य समझते कहा जाता है । इसविधि सामान्यमाही नपठे हाथ सब दम्बोंमें अहम्य स्पष्टकर स्पष्टकर होला है । वह अहम्य भी अपने दम्ब क्षेत्र बनेरहकी अपेक्षासे ही है, सर्वा नही है । अर्थात् जब उस अहम्यसे उद्योगके स्वरूपसे विकसित किया जाता है, तब वह है और जब उसे पररूपसे विकसित किया जाता है, तो वह नहीं है । जिस प्रकार अपने व्यक्तित्वकी अपेक्षासे वह सब कहा जाती है उसी प्रकार दूसरेके अतिरिक्तकी अपेक्षासे वह 'असत्' कही जाती है । उदाहरण यह है कि हरेक वस्तु अपने स्वरूपसे ही है और पर स्वरूपसे नहीं है । जैसे घट अपने स्वरूपसे है, और पट अपने स्वरूपसे है; किन्तु न घटमें पटक स्वरूप पाया जाता है और न घटमें पटक स्वरूप पाया जाता है । अतः घट, पट स्वरूपसे नहीं है और पट घट स्वरूपसे नहीं है । इसी प्रकार संसारकी सभी वस्तुएँ अपने अपने स्वरूपसे 'सत्' हैं और अपने अपने सिवा एष सब स्वरूपोंसे 'असत्' हैं, इसी प्रकार अहम्य अपने क्षेत्रकी अपेक्षासे है और पर-क्षेत्रकी अपेक्षासे नहीं है । अर्थात् अहम्य भी अपेक्षासे है, अतीत, अनगत, अज्ञानी अपेक्षासे नहीं है । तथा बौद्धिक आदि माद्यमेंसे किसी एक निश्चित मानकी अपेक्षा से और अनिश्चित अन्य माद्यकी अपेक्षा नहीं है । उदाहरण यह है कि प्रत्येक वस्तु अपने दम्ब, अपने क्षेत्र अपने क्षेत्र और अपने मानकी अपेक्षासे ही सत् होती है और परदम्ब, परक्षेत्र, परमान, और पर-मानकी अपेक्षासे असत् होती है । स्वल्प और परदम्बका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है । वही घट जिस क्षेत्रमें वतमन्य है, उसी क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् है, अन्य क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् नहीं है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो या तो घट व्यापक हो जायेगा या उसका विकसित अभाव ही हो जायेगा । तथा घट जिस क्षेत्रमें है उसी क्षेत्रकी अपेक्षासे सत् है, अन्य क्षेत्रकी अपेक्षासे असत् है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो या तो घट जिस हो जायेगा या उसका अभाव हो जायेगा । इसी तरह घट अपने निश्चित मानकी ही अपेक्षा है, अनिश्चित परमानकी अपेक्षा नहीं है । यदि ऐसा न माना जायेगा तो सम्पूर्ण व्यवस्था भंग हो जायेगी ।

इस प्रकार समस्त वस्तुएँ सत् और असत् अलग-अलग हैं ।

एवं सयोगाल्पबहुत्वाद्यैर्नेकश स परिमृग्य ।
जीवस्यैतत्सर्वं स्वतत्त्वमिह लक्षणैर्दृष्टम् ॥ २०३ ॥

टीका—संयोगस्तावद्येन येन सयुक्तत्वेन तेन रूपेणात्मास्ति येनासंयुक्तत्वेन नास्ति । मारुता नरकगतिसंयोगेनैव विद्यन्ते न स्वगतिसंयोगेनेति । मनुष्यत्वेन चतुस्त्वेन चादिष्टा स्यादस्ति स्याच्चास्ति । मनुष्यत्वे मनुष्याः, देवा भस्मरुयेयाः । तन्नासमपेयत्वेनैव तियञ्चोऽनन्तसस्रयाः । तेन तियक् संख्यात्मना मनुष्यो नास्तीति मनुष्येभ्यस्ति यञ्चोऽनन्ताः । तेन कारणेन संख्यात्मना नास्ति मनुष्य इत्याद्यना (दिना) स्वबहुत्वादिचिन्ता क्वया । भादिप्रणाशामाद्यनुस्रयोगद्वारभेदेनास्ति त्वनास्ति त्वे भावयित्तये । भनेकदा इत्यनेकेन भेदेन निर्देशस्वामित्यादिनापि आत्मा परिभृग्याः परीक्षणीयाः । एवं च जीवस्य स्वतत्त्व सर्वमेव लक्षणैरुच्यते । उच्यते येन येनात्मा देहादिना तल्लक्षणं चतुप्रकारम् । तल्लक्षणेऽष्टमुपलक्षणमनेकभेदमित्ययः ॥ २ ३ ॥

अर्थ—इस प्रकार संयोग, अत्यवहुत्व बनेरहके द्वारा अनेक प्रकारसे आत्माका विचार करना चाडिए । यहाँ जीवका यह सब स्वरूप उधमोंके द्वारा उपलब्ध होता है ।

भाषाय—इस ध्य, काज, मासकी तरह संयोग, अत्यवहुत्व बनेरहकी अपेक्षासे भी आत्माका विचार करना चाडिए । यथा आत्मा जिस जिससे संयुक्त है, उसकी अपेक्षासे है और जिस जिससे संयुक्त नहीं है उसकी अपेक्षासे नहीं है । जैसे मारुती नरकगतीक संयोगकी अपेक्षासे ही है दक्षयुक्तीक संयोगकी अपेक्षासे नहीं है । इसी प्रकार अग्ना अन्तल और बहुत्वकी अपेक्षासे भी सत् और असत् है । जैसे मनुष्य बोहे है । देव उनसे असंख्यात गुने है और तिर्यञ्च अनन्त है । अन्त तिर्यञ्चोंकी संख्याकी अपेक्षा मनुष्य नहीं है क्योंकि मनुष्योंसे तिर्यञ्च अनन्त है और अपनी संख्याकी अपेक्षा मनुष्य हैं । चादि शब्दस नाम आदि अनुयोगद्वारोंकी अपेक्षासे भी सत् और असत्का विचार करना चाडिए । तथा निर्देश स्वामिन्न बनेरहकी अपेक्षासे भी आत्माका विचार करना चाडिए । इस प्रकार विचार करनेसे आत्माके स्वरूपकी प्रतीति होती है ।

उत्पादविगमनित्यत्वलक्षणं यत्तदस्ति सर्वमपि ।

सदसद्वा भवतीत्यन्यथार्पितानर्पितविशेषात् ॥ २०४ ॥

टीका—उत्पत्तिक्रियाद् । विगमो विनाशः । नित्यत्वं भाष्यम् । सर्वमेवेत्यादभ्ययधीत्यनक्षयं सद्भवत्यगुडिक्त् । यथा मृत्तत्वेनागुडित्थिता पुत्राः फलुत्थन विनष्टा वदत्येनेत्येति । एवं यदुत्पादादिप्रपञ्चदस्ति सत्त्वं । यच्चान्ति तदुत्पादादिप्रपञ्चदपि न भवति । त्वरिषिणापदिक्त् । अतो विकल्पद्वयमुक्तम्—स्यादस्ति, स्याच्चास्तीति । सदसदा भवतीति सूनीयविकल्पे स्यादस्ति च नास्ति चेति । अभ्यथार्पितानर्पितविशेषादिति चत्पारा

१—नाम स्यात्तस इत्य, धन आदिरे इत्य ।

२ निर्देश स्यादित्ये वाच्येन अविशेष, निर्देश तथा विषय आदिसे अपेक्षासे ।

विकल्पः सूचिताः—स्याद्ब्रह्मस्य स्यादस्ति चाब्रह्मस्य स्याच्चास्ति चाब्रह्मस्य स्यादस्ति च नास्ति चाब्रह्मस्य भवेति । तदास्ति च नास्ति चेति एकस्य षट्श्रेयस्यस्य देशो ग्रीवादि सद्भावपर्यायिवादिषो ग्रीबत्वेन अपरस्य देशस्तथैव वस्तुनोऽसद्भावपर्यायिवादिषो वृत्तबुद्धत्वेन परगतपर्यायेण वा तदस्तु अस्ति च नास्ति चेति भावना कार्या । स्याद्ब्रह्मस्य इति सङ्ग मेवास्त्युद्धृतं तदस्तु अर्थात्तरसूत्रैः पटादिभिः पर्यायिनिर्देशात्कुण्डलोद्यत्तवृत्तग्रीवादिभिर्गुणव्यभिचकारेण समादिष्टं नास्तीति वक्तुं न शक्यते, न चास्तीति वक्तुं पायते । युगपद्देशेऽब्रह्मप्राप्ती ब्रह्मविशेषातीतस्वादेवाब्रह्मस्यमिति । अस्ति चाब्रह्मस्य भवेति पञ्चमो विकल्पः । तस्यैव षट्श्रेयस्युक्तः पञ्चो देशः सद्भावपर्यायिवादिषोऽपरो देशः स्वपर्यायः परपर्यायस्य युगपदादिष्ट स्तद्ब्रह्मस्य अस्ति चाब्रह्मस्य च । षष्ठो विकल्पो नास्ति चाब्रह्मस्य च तस्यैव षट्श्रेयस्यस्य एकदेशः परपर्यायिवादिष्टः, अपरदेशः स्वपर्यायः परपर्यायस्य युगपदादिष्टः, तद्ब्रह्मं नास्ति चाब्रह्मस्य च भवति । अयं सप्तमो विकल्पः—तद्देशे षट्श्रेयस्यमेकस्मिन् देशे स्वपर्यायिवादिष्टम्, अन्यत्र देशे परपर्यायिवादिष्टम् अपरत्र देशे स्वपर्यायः परपर्यायस्य युगपदादिष्टम् अस्ति च नास्ति चाब्रह्मस्य चेति । एवमयं सप्तप्रकारेण ब्रह्मविकल्पः । अयं च तस्माद्देशात्स्वाहा— स्यादस्ति स्याच्चास्ति, स्याद्ब्रह्मस्य । तेषाम्भावात्पे विकल्पदेशाः—स्यादस्ति च नास्ति, च क्रमेण भावना, स्यादस्ति चाब्रह्मस्य च, स्याच्चास्ति चाब्रह्मस्य च, स्यादस्ति च नास्ति चाब्रह्मस्य भवेति । अतोऽप्यथा चाभ्युपायितं विशेषितमुपनीतम् अनपितमविशेषितमनुपनीतं चेत्येतस्माद्देशोपात्तं सप्तविकल्पं भवतीति ॥ २०४ ॥

अर्थ—जो उपासक स्वयं और प्रीत्य कल्पते कुछ है, वह सब सत्य है । और जो उपासे विपरीत है, वह असत्य है । इस प्रकार अस्तित्व और अनपितके भेदसे नष्ट सत्य और असत्य होती है ।

भाषा—उपनिषद्को उपासक कहते हैं । विनाशको विनाश ब्रह्मा भव्य कहते हैं । और प्रीत्यको प्रीत्य कहते हैं । जिसमें उपासक, स्वयं और प्रीत्य पाया जाता है, वह सब सत्य होता है । जैसे किसीने अपनी सीधी बंगुचीको मोड़ लिया । तो सीधीके टेकी होनेपर भी बंगुची बंगुची ही रही, कठ-वह प्रीत्य है । तथा सीधपन गड़ होकर टेकापन आगया । अतः सीधपनका भास हो गया और टेकापनकी उपपत्ति हो गई । इस प्रकारसे जो उपासक, स्वयं और प्रीत्यसे कुछ होता है वह सब सत्य है और जिसमें उपासक, स्वयं और प्रीत्य नहीं होते हैं वह असत्य है । जैसे गधके सनि । इतने प्रत्यक्षरने स्यात् है और स्यात् नहीं है इन दो विकल्पोंको कहा है । 'स्यस्य से स्यात् है और स्यात् नहीं है यह तीसरा विकल्प अतन्मया है । और अभ्युपायितमपितमविशेष से स्वयं ब्रह्म विकल्प सूचित मिले हैं । ये चार विकल्प इस प्रकार है — स्यात् अचक्ष्य है', स्यात् है और अचक्ष्य है स्यात् नहीं है और अचक्ष्य है , स्यात् है, स्यात् नहीं है और अचक्ष्य है ।

पहला और दूसरा मङ्ग ऊपर स्पष्ट कर दिया गया है । तीसरा मङ्ग इस प्रकार है —किसी एक घट को (परार्थक्य गर्दन को) भी गर्दन को (अर्थक्य) अनेकते सत्य है और उसीके अन्य मामों की अपघाते असत्य है । अर्थात् गर्दनका भाग गर्दनकप ही है न अन्य भाग गर्दनकप है और न

बदलका भाग अन्य भागरूप ही है। अथवा यह भी कहा सकते हैं कि घट घटरूपसे सत् है और पटरूपसे असत् है। अतः घट 'स्यात्' है और स्यात् नहीं है कहा जाता है। इन्हीं दोनों धर्मोंकी यदि एक साथ कहनेकी विवक्षा हो तो शेष 'स्यात् अवच्छम्प' मङ्ग होता है। जैसे यदि उसी घटको पटादि बगैरह परपर्यायोंसे और अपनी ऊँचा गोकान्तर बगैरह पर्यायोंसे एक साथ कहा जाये तो व तो उसे वसत् ही कहा जा सकता है और न सत्की कहा जा सकता है। इस तरह एक साथ दोनों धर्मोंकी विवक्षा होनेपर बचनके अगोचर होनेसे वस्तु 'स्यात् अवच्छम्प' कही जाती है। उसी घटको जब अपनी पर्यायोंसे तथा एक साथ अपनी और परकी पर्यायोंसे निश्चित किया जाता है तो वह घट 'स्यात् सत् और अवच्छम्प' कहा जाता है। उसी घटको जब परपर्यायोंकी अपेक्षासे और एक साथ अपनी तथा परपर्यायोंकी अपेक्षासे निश्चित किया जाता है तो वह घट 'स्यात् वसत् और अवच्छम्प' कहा जाता है। वही घट जब क्रमशः और एक साथ अपनी और परकी पर्यायोंसे निश्चित किया जाता है तो उसे 'स्यात् सत् और असत् और अवच्छम्प' कहा जाता है। इस प्रकार बचनके ये सात प्रकार हैं। इनमें स्यात् सत्, स्यात् असत्, और स्यात् अवच्छम्प ये तीन मङ्ग सफलादेश हैं और शेष चार मङ्ग विफलदेश हैं। वस्तुके जिस धर्मकी विवक्षा होती है, उसे वर्णित या प्रमाण करते हैं। और जिस धर्मकी विवक्षा नहीं होती उसे अनर्णित या गौण करते हैं। इस गौणता और मुख्यताके भेदसे उक्त सात विकल्प होते हैं। इन्हें ही छत्रमङ्गी भय करते हैं।

उपमादादिप्रयत्नात्मायाह—

उत्पाद बगैरहका स्वरूप करते हैं—

योऽर्थो यस्मिन्नाभूत् साम्प्रतकाले च दृश्यते तत्र ।

तेनोत्पादस्तस्य विगमस्तु तस्माद्विपर्यास ॥ २०५ ॥

टीका—घटार्था मृत्पिण्डे नास्ति माभूवित्पद्य । स च मृत्पिण्डश्चक्रकारोपमादिना परिधर्मविधिना वर्तमानकाले परिनिष्पन्न उपसम्प्यते घटोऽयमुत्पन्न इति । तेनाकारेणोत्पादः स्वस्य घटस्येति । विगमस्तु विनाशस्तस्मादुत्पादाद्विपर्यासो विपरीत । पिण्डो विनष्टो मोक्षसम्पदे न दृश्यते इति ॥ २०५ ॥

अर्थ—जिसमें जो धर्म नहीं था; किन्तु वर्तमानमें देखा जाता है। उसकी उस अवसत उदाति होती है और विनाश उससे विपरीत है।

भाषाय—मिथीके पिण्डमें घट पदाव नहीं था; किन्तु उस मिथीके पिण्डको कुम्हारके हाथपर लक्ष्मर जब पुण्या जाता है तो वह बनेकी सङ्गमें बदल जाता है। इस प्रकार मिथीके पिण्डकी

उस बटकासे उत्पत्ति होती है। इसे ही बटका उत्पाद कहते हैं। घट उत्पाद होनेके बाद वह मिट्टीका पिण्ड फिर दिक्काई नहीं पकता वह मघ हो जाता है। यही विनाश है। जैनधर्ममें उत्पाद और विनाश सात्विके दो पक्षोंकी उर्ध्व-निर्ध्वकी तरह सहमासी हैं। जिस प्रकार तादृश यदि एक पक्का भीजा होता है तो दूसरा पक्का अवश्य ही ऊँचा होता है, इसी प्रकार जिस समय मिट्टीका पिण्डका विनाश होता है उसी समय बटका उत्पाद होता है और जिस समय बटका उत्पाद होता है, उसी समय पृथिव्याका विनाश होता है। जैनदर्शनमें न तो विनाश दुष्प्रामाण्य है और न वस्तुकी किसी पहली पर्यायका विनाश हुए बिना दूसरी पर्यायकी उत्पत्ति होती है।

साम्प्रतकाले चानागते च यो यस्य भवति सम्बन्धी ।
तेनाविगमस्त्रस्येति स नित्यस्तेन भावेन ॥ २०६ ॥

टीका—वर्तमानकालेऽनागते भविष्यति च काले । च शब्दाद्वितीतकाले । यः पदार्थो मृदाविश्वरूपं न ब्रह्मति । वर्तमानवटपर्यायसम्बन्धी मृत्सृष्टिति भिन्नाकारिका पिण्डरूपकपात्ररसासु न नष्टो न विगतः, स तेन भावेन मृदादिना पुनो भवति नित्यः । एवं पवति तासर्गमुत्पाद्यव्ययप्रौढ्यरूपम् । न च प्रौढ्यमन्तरेऽप्युत्पादविनाशयोर्निर्बीजयोः संभवा । कश्चिदुत्पद्यते च वस्तु प्रौढ्यनाशवदेव । किन्त्यद्यपि प्रौढ्योत्पादापेक्षम् । पुनरुत्पादविनाशापेक्षम विनाशापेक्षमविनाश (विना) भावितात् परस्परमुत्पादादीनामिति ॥ २ ॥

वार्ध—वस्तुका जो स्वरूप वर्तमान, अतीत और अनगत कालमें ज्ञात है उस स्वरूपस उच वस्तुका वह न होना—यही उस स्वरूपसे नित्यता है।

मात्राद्य—मिट्टी कतीत पिण्ड अवस्थाओंमें है, ४०भाग घट अवस्थामें है और वातापी कपाक अवस्थामें मात्र वर्तमान रहती है। तीनों ही अवस्थाओंमें मिट्टीका माद्य नहीं होता। केवल उसकी आकृतिमें बदल जाती है। अत मिट्टी मिट्टीरूपसे निराल है।

इस प्रकार समस्त वस्तुएँ उत्पाद, व्यय और प्रौढ्यरूप हैं। न कोई सर्वथा शुन ही हैं और न कोई सत्त्वा उत्पादव्यय रूप ही है। प्रौढ्यके बिना उत्पाद व्यय नहीं हो सकते, जैसे कि मिट्टीके बिना न पिण्ड अवस्थाका माद्य हो सकता है और न घटकी उत्पत्ति हो सकती है। यदि कोई वस्तु उत्पाद होती है तो प्रौढ्य और विनाशकी अपेक्षासे ही उत्पन्न होती है, जिस प्रकार घटका उत्पाद मिट्टीकी सृष्ट्य और पिण्डके विनाशके बिना संभव नहीं है। यदि कोई वस्तु मघ होती है तो प्रौढ्य और उत्पादकी अपेक्षासे ही मघ होती है जैसे पिण्डका माद्य मिट्टीकी सृष्ट्य और घटके उत्पादकी अपेक्षा रहता है। जो उत्पादविनाशहीन है वही शुन है। सर्वथा शुन कोई वस्तु नहीं है। अतः ये तीनों ही परस्परमें अनिवार्यायी हैं।

अबीबानधिकृत्याह—

अबीब इष्योका वर्णन करते हैं—

धर्माधर्माकाशानि पुद्गला काल एव चाजीवा ।
पुद्गलवर्जमरूप तु रूपिण पुद्गला प्रोक्ता ॥ २०७ ॥

टीका—धर्मद्रव्यम् अधर्मद्रव्यम् आकाशद्रव्यम् पुद्गलद्रव्यम् काळद्रव्यमिति पञ्चाबीबद्रव्याणि । तत्र तेषु पञ्चसु पुद्गलद्रव्यं कपरसगन्धस्पर्शरस । शेष द्रव्यचतुष्टयमरूपरूपादिबन्धितमित्यर्थः । रूपिण इत्यम्भ गन्धरसस्पर्शाः सर्वेषां रूपाविनाभाविन इति परमाणावपि सम्भवन्तीति दर्शितं भवति ॥ २०७ ॥

अर्थ—धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, आकाशद्रव्य काळद्रव्य और पुद्गलद्रव्य—ये पाँच अबीब द्रव्य हैं । पुद्गलके सिवाय शेष चारों द्रव्य अरूपी हैं और पुद्गलद्रव्य रूपां कहे गये हैं ।

भाषा—अबीब द्रव्य पाँच हैं । उनमें से केवल एक पुद्गलद्रव्य रूपा है । उसमें रूप, रस गन्ध और स्पर्श—ये चारों गुण पाये जाते हैं । ये चारों गुण परस्परमें अविनाभासी हैं । इसीलिए रूपा होनेसे उन चारोंके महत्व होता है । अतः कितने भी परमाणु हैं, उन सबमें चारों ही गुण पाये जाते हैं । इसीलिए वे रूपां कहे जाते हैं । परन्तु शेष द्रव्योंमें रूपादि गुण नहीं पाये जाते, इसीलिए वे अरूपां अथवा अनर्थांक कहाते हैं ।

स्कन्धास्तु—

पुद्गलद्रव्यके सम्बन्धमें कुछ और भी कहते हैं—

द्वयादिप्रदेशवन्तो यावदनन्तप्रदेशकां स्कन्धा ।
परमाणुरप्रदेशो वर्णादिगुणेषु भजनीय ॥ २०८ ॥

टीका—द्वयादिप्रदेशाभावाः स्कन्धाः सघाताः एकव्ययपुष्पसृष्टयः । द्वयोरण्वोरुपायां वेत्यादिप्रारम्भाः यावदनन्तप्रदेशाः सर्वे स्कन्धाः । परमाणुस्तु न स्कन्धसाम्यामिषेयोऽप्रदेशात्वात् । न हि तस्य द्रव्यप्रदेशाः सम्बन्धे । स्वयमेवासी प्रदेशः । प्रकृत्यो वेद्योऽवयवक प्रदेशः । न तत्, परमस्या सुप्तमतोऽस्ति पुद्गलः । द्रव्यप्रदेशो वर्णरसगन्धस्पर्शगुणेषु भजनीयः सेवनीयः । प्रदेशस्तेन सञ्चितस्य वर्णावयोऽवयवास्तैरवयवैः समदेश परार्था द्रव्यावयोरप्रदेश इति । पयोक्तं शास्त्रे—कारणमेव तद्वर्त्यं सूक्ष्मो नित्यश्च भवति परमाणुः । एक रसगन्धवर्णमित्यर्थाः कार्यच्छिद्वाश्च ॥ १ ॥ इति ।

अर्थ—दो आदि प्रदेशीसे केकर अनन्तप्रदेशी तक स्कन्ध होते हैं। परमाणुके प्रदेश नहीं होते। रूप कोरह गुणोंकी अपेक्षासे परमाणुका विमान कर उभा चाहिए।

मावाच—दो आदि प्रदेशमाके पुत्रकोंको स्कन्ध कहते हैं। स्कन्ध नाम संघातकर है। अनेक परमाणुकोंके संघात अर्थात् समग्रत्व विद्यमानके स्कन्ध कहते हैं। जिस प्रकार दो परमाणुकोंके मेलसे इष्टतम नामक स्कन्ध और तीन परमाणुकोंके मेलसे त्र्यष्टक नामक स्कन्ध होता है, इसी तरह अनन्त परमाणुकोंके मेलसे अनन्तप्रदेशी स्कन्ध होता है। अतः परमाणुके सिवाय शेष मिलने पुत्रक-इत्यर्थ है, जिसमें एकसे अधिक परमाणु पाये जाते हैं, वे सब स्कन्ध कहलाते हैं। केवल परमाणु स्कन्धा नहीं कहा जाता। क्योंकि वह अप्रदेशी है। अतएव एक इत्यर्थ होनेसे उसके अन्य प्रदेश नहीं होते। वह स्वयं एकप्रदेश है। पुत्रकके सबसे छोटे अवयवको प्रदत्त करते हैं। परमाणुसे सूक्ष्म कोई वस्तु पुत्रक नहीं होता। अतः परमाणु बहुप्रदेशी न होनेके कारण अप्रदेशी है। पर अप्रदेशी परमाणुमें भी रूप, रस मन्थ और स्पर्श गुण पाये जाते हैं। इसलिये गुणोंकी अपेक्षासे भी परमाणु सप्रदेशी ही है केवल इत्यर्थक अवयवोंके न होनेके कारण ही वह अप्रदेशी है। साक्षरमें कहा है—

वह परमाणु करण है; क्योंकि उसीसे संपन्न स्कन्ध उत्पन्न होते हैं। वह अन्य और सूक्ष्म है क्योंकि उसके भी छोटा इत्यर्थ नहीं होता। वह नित्य है, क्योंकि उसके कभी नाश नहीं होता तथा उसमें एक रस, एक गन्ध, एक रूप और दो स्पर्श (स्निग्ध रूपमेंसे कोई एक और शीत-उष्णमेंसे कोई एक) होते हैं तथा उसके कणोंसे ही उसे जाना जाता है; क्योंकि सूक्ष्म होनेके कारण वह स्वयं दिखलाई नहीं देता।

कस्मिन् पुनर्मथि भौदधिक्यद्वौ धर्मादीभ्यजीवप्रम्यापि कर्तव्य इत्याह—

भौदधिक्य आदि कारणोंमें धर्म आदि अजीव द्रव्योंके जीवनता मात्र होता है, वह बतलाते हैं—

मावे धर्माधिर्माभ्वरकाल्य परिणामिके ज्ञेया ।

उदयपरिणामिरूप तु सर्वभावानुगा जीवा ॥२०९॥

टीका—अनादिपारिणामिकमावे धर्माधिर्माभ्वरकाल्यप्रम्यापि अत्यारि वर्तन्ते जीव मभ्यत्वाधिक्ये । यथा जानादि संसारस्तथा धर्मादिद्रव्यपरिणामोऽपीति । न आद्यविद्यमादिद्रव्य-उचित मसीधोक्तः । पुत्रकप्रभे पुनरीदधिके मावे मवति पारिणामिके च । परमाणुः परमाणुरिति अनादिपारिणामिको भावः । आदिमत्पारिणामिकस्तु इष्टतमकारिदंश्रन्नचतुरदिव्य । वर्णरसादि-पारिणामिकस्तु परमाणुनां स्कन्धानां चौदधिके भावः इष्टतमकारिदंश्रतिपरिणामश्चेति ॥ २ ९ ॥

अर्थ—धर्म, अर्थात्, आकाश और आकाशके पारिणामिकभाव जानना चाहिए। पुत्रक-इत्यर्थके भौदधिक्य और पारिणामिकभाव होते हैं। तथा जीवोंके वो सभी मात्र होते हैं।

मावाच—जिस प्रकार जीवके मध्यम कीरह मात्र पारिणामिक होते हैं, उसी प्रकार धर्म, अधर्म, आकाश और आकाशके भी पारिणामिकभाव ही होता है; क्योंकि जैसे संसार अनभि है,

वेसे ही धर्मादि द्रव्य भी अनादि हैं। लोक कभी भी धर्मादि द्रव्योंस रहित नहीं पा। पुद्गलद्रव्यक बौद्धिक और पारिणामिकभाव होते हैं। पुद्गलका परमाणुरूप परिणाम तो अनादि है और द्रव्ययुक्त वादक, इन्द्रियव्यवहार परमाणु सादि है। परमाणुओं और लक्षणोंमें जो रूप-रस वगैरह परिणाम पाये जाते हैं तथा परमाणुओंके मिकमेसे जो द्रव्ययुक्त वगैरह परिणाम बनते हैं, वे बौद्धिक हैं। सारांश यह है कि अनादि परिणामको पारिणामिकभावे और सादि परिणामको बौद्धिकभावे समझना चाहिए। रूप, रसादि परिणाम वषदि अनादि हैं, परन्तु उनमें जो हासि-वृद्धि होती रहती है। यह सादि है।

बीबाः पुन सर्वभावेषु औपशमिक्यदिषु वतन्त इति पूर्वमेवमाधितम्। अथकोऽप्य लोक इत्याहाहुते, किं द्रव्यान्तरमुताम्यत् किंचिदित्याह—

यव यह बतजाते हैं कि यह लोक क्या वस्तु है! क्या यह भी कोई द्रव्य है या और और कुछ है।—

जीवके औपशमिक वगैरह पाँचों ही भाग होते हैं यह पहले बतला चुके हैं।

जीवाजीवा द्रव्यमिति पङ्क्ति भवति लोकपुरुषोऽप्यम् ।

वैशाखस्थानस्य पुरुष इव कटिस्थकरयुगम् ॥ २१० ॥

टीका— जीवा अजीवा धर्माधर्माकासपुद्गलाः काष्ठश्च यह द्रव्याणि। लोकपुरुषः पुरुष इव लोकपुरुषः प्रतिबिम्बितस्थानत्वात्। अथ जीवाजीवा द्रव्याणामाधारभूतं यत्सम सत्त्वोक्त- धर्माभिधेय लोकपुरुष इत्युक्तम्। सप्त निबन्धनमाह—वैशाखस्थान इति। वैशाख चातुष्कस्य स्थानकम्। ऊर्ध्वमवस्थितः पुरुषा बिक्रितबङ्गादयः कर्त्या इयवस्थापिताकुञ्चितहस्तद्वयो यथा तद्वत्लोकपुरुष इति ॥ २१० ॥

अर्थ—इस प्रकार जीव और अजीवके मरसे छह द्रव्य होते हैं। यही लोक-पुरुष है। दोनों हाथोंको कमरके दोनों ओर ऊँचोंपर रखकर, पैर फैलाकर खड़े हुए पुरुषके समान उसका आकार है।

आभाष—छहो द्रव्योंके समूहको लोक कहते हैं। अर्थात् बितने क्षेत्रमें छहो द्रव्य रहते हैं उन्हे क्षेत्रको लोक कहते हैं। यह लोक-पुरुषके आकार है। अतः उसे यहाँ लोक-पुरुषके नामसे कहा है। दोनों हाथोंको फैलाकर और दोनों हाथोंको कमरके दोनों बाहुओंपर रखकर खड़े हुए मनुष्यके समान लोकका आकार जानना चाहिए। यथा—



तदेव ब्रह्मास्त्वामकं वक्ष्यामि—

उत्तीक्ष्ये त्वत्र कृते ई—

तत्राधोमुखमल्लकसस्थानं वर्णयन्त्यधोलोकम् ।

स्थालमिव तिर्यग्लोकमूर्ध्वमथ मल्लकसमुद्रम् ॥ २११ ॥

टीका—तत्र तस्मिन् छात्रे अधोबोद्धविभागः अधोमुखमस्तच्छात्रं उपरि संक्षिप्तमधो-
विभागात् धर्ममानकमधोमुखं भवति । एतत्स्मात्तत्र तिर्यग्लोकं वर्णयन्ति । तिर्यग्लोकं रूपं
मल्लकसंपुटकारमूर्ध्वकोकं वर्णयन्ति । मल्लकसमुद्रश्च एकं वर्णमानकमूर्ध्वमुखमपरं श्यवम-
धोमुखं तस्योपर्यति । एतत् प्रतिपाद्यति काव्यै । लोकोऽप्यः सतरज्जुप्रमाणो विस्तरेण । तिर्य-
ग्लोको रज्जुप्रमाणः । सतरज्जुसंपुटमध्ये पञ्चरज्जुप्रमाण उपर्येकरज्जुप्रमाण इति ॥ २११ ॥

अर्थ—उस लोकमें अधोलोकको नीचे मुख दिने हुए सखोरोंके आकार बतवाते हैं, मध्यलोक-
को बायीके आकार बतवाते हैं और ऊर्ध्वलोक नीचे—ऊपर (कबे हुए दो सखोरोंके आकार बतवाते हैं ।

भाषा—लोकके तीन भाग हैं—अधोलोक तिर्यग्लोक या मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक
आकार नीचा मुख करके रखे हुए सखोरोंके जैसा है । सखोरोंके उल्टकर रख देनेसे उसके नीचेका
भाग चौड़ा और ऊपरका भाग संजरा होता है । जैसे ही अधोलोकका लक्षण विस्तार प्राप्त तब ही और
ऊपरका विस्तार एक तब ही । तिर्यग्लोक बायीके आकार गोल है । उसके विस्तार एक तब ही ।
तिर्यग्लोकके ऊपर दो सखोरोंके आकारका ऊर्ध्वलोक है । अर्थात् एक सखोरको ऊपरकी ओर मुख
करके रखो और दूसरेको उसके ऊपर नीचेको मुख करके रखो, तो उनके आकारके समान ऊर्ध्वलोकका
आकार जानना चाहिये । उसके मध्यका विस्तार पाँच तब ही और ऊपरका विस्तार एक तब ही ।

एवमस्तिर्यगूर्ध्वं च विभक्ते लोके को विभागः कतिविध इति दर्शयति—

इस प्रकार लोकेके तीन विभाग बतवाकर अब प्रायिके विभागके भेद बतवाते हैं—

सप्तविधोऽधोलोकस्तिर्यग्लोको भवत्यनेकविधः ।

पञ्चदशविधानं पुनरूर्ध्वलोकं समासेन ॥ २१२ ॥

टीका—समासेनति संक्षेपेण । एतन्नमादिभेदेन महातन्मध्यमान्तेन सप्तधाऽधो-
लोकः । तिर्यग्लोकोऽनेकप्रकारो बन्धुदीपादिभेदेन क्वचनतमुद्रादिभेदेन च । अर्धकोपेया दीप
समुद्रा इति । षोडशिकभेदा अपि तिर्यग्लोक एव । ऊर्ध्वलोकश्च पञ्चदशभेदाः । इत्यन्त्यः
सौचमर्हिय आगतप्राप्तकविकल्पस्य, परकेन्द्रस्वामिस्तात् । आरण्याभ्युती च । एवं इत्यन्त्यः ।

प्रेष्येयानि भीणि अथोमध्यमोपरितनभेदेन । पञ्च महाविमानानि चतुदसो भेद । ईपत्याग्मात्तम्य पञ्चदसो भेद इति ॥ २१२ ॥

अथ—अथोकोक्ते सप्त भेद हैं, तिर्यगोक्त अनेक भेद हैं और ऊर्ध्वकोके संश्लेषसे पन्द्रह भेद हैं ।

भाषाय—रत्नप्रमा, धर्कराप्रमा, बालुकाप्रमा पद्मप्रमा, धूमप्रमा, तन्मप्रमा और महातमप्रमा पृथिवीके भेदसे अथोकोक्ते सप्त विभाग हैं । तिर्यगोक्ते अमूर्तीय और अणुसमुद्रको जाति लेकर असंख्यात द्वीप और समुद्र हैं । अतः तिर्यगोक्तके भी अनेक विभाग हैं । तथा न्योतिष्क जातिके देव भी तिर्यगोक्ते ही निवास करते हैं । ऊर्ध्वकोके पन्द्रह भेद हैं । सौम्यं वीरह बारह स्वर्गोमेंसे जानत और प्राणत तथा आर्य और अभ्युत स्वर्गोंमें एक एक इन्द्र होनेके कारण दस भेद होते हैं । स्वर्गोसे ऊपर भी प्रेष्येयक हैं । उनके तीन भेद हैं—अप्रेष्यक, मध्यम प्रेष्यक और उपरितन प्रेष्यक । पाँच अनुत्तर विभागोंका एक भेद है और ईपत्याग्मात्र जिते सिद्धसिद्धा भी कहते हैं, मामका एक भेद है । ऐसे प्रकार ऊर्ध्वकोक $1+3+1+1=15$ भेद होते हैं ।

अथाकारां किं लोकमात्रमेवाहोस्तिवत् सर्वमेत्याह—

अथ नया आकास लोकप्रमाण ही है या सर्वत्र व्याप्त है ? यह बतलाते हैं—

लोकालोकव्यापकमाकाश मर्त्यलोकिक काल ।

लोकव्यापि चतुष्टयमवशेषं त्वेकजीवो वा ॥ २१३ ॥

टीका—व्यापकमिति लोकालोकस्वरूपमुच्यते लोकस्वरूपमलोकस्वरूपं च । बीबा-बीबाधारक्षेभ लोकन्ततः परमलोक इति । पमाकाशे बीबात्रीवादिपद्यापञ्चकं तल्लोकाकाशम्, पमामाषो बीबात्रीनां तदलोकालोकमिति बीबाद्याधारकृतो भेदोऽप्यया एकमेवाकाशम् । मत्यलोकिक काश । मत्यलोको मनुष्यलोक—मनवृतीया द्वीपः समुद्रद्वयं च मानुषोत्तर महीचरेण परिक्षितः । तावत्येव क्षेपे वतमानादिसङ्घः कासो न परतः । लोकव्यापिचतुष्टयमवशेषं धमाधमबीबपुद्गलाक्यम् । सधम लोककाशे धमाधमी । सूक्ष्मधारीराध अन्तक सर्वलोक एव । पुद्गलाध परमाणुपभूतय सकलोक इति । एकोऽपि वा त्रीक सकललोकालोकव्यापी केवलिसमुदातकाश एव भवन्ति ॥ २१३ ॥

अथ—आकाश लोक और लोकमें व्यापक है । काशका व्यापक मनुष्यलोकमें ही होता है । काशके चार द्रव्य लोकव्यापी हैं । एक जीव भी लोकव्यापी होता है ।

१—काश वरदिक क पुलके । २—इतिमूर्त्येकी पुलके १२ लोकके १३ भेद, अथप्रेष्यकका एक भेद, पाँच अनुत्तरोंका एक भेद और सिद्धसिद्धाका एक भेद एवं प्रकार पन्द्रह भेद विनाये हैं ।

माहात्म्य—आकाशद्रव्य लोकास्वरूप भी है और अलोकास्वरूप भी है। जीवों और अजीवोंके आघातमूल क्षेत्रके लोक कहते हैं। उससे परे अलोक है। अतिरिक्त आकाशमें जीव और अजीव वीर्य पौषों इत्ये पाये जाते हैं, उसे लोककक्ष कहते हैं और जहाँ जीव बाणिक्य विद्यकुल समाप्त है, उसे अलोकाकक्ष कहते हैं। इस प्रकार जीवार्थिक द्रव्योंके एक और न रहनेसे आकाशके दो विभाग हो गये हैं। अथवा आकाश एक और अखण्ड ही है। मानुषोत्तर पर्वतसे थिरे हुए अर्द्ध द्वीप और दो समुद्रोंके मनुष्यलोक कहते हैं। उसने ही क्षेत्रमें भूत, मरिच्यत् और वर्तमान रूप कश्चन्य न्यवहार होता है। क्योंकि न्यवहारक श्चोऽर्थिकरथोंके भ्रमणसे होता है और उनका भयन क्षेत्र मनुष्य-लोकमें ही होता है। वायुके धर्म, अर्धम जीव और पुत्रकद्रव्य लोकास्वापी है। धर्म और अधधर्म्य समस्त लोकाकक्षमें व्याप्त हैं; सूक्ष्म शरीरका जीव भी समस्त लोकमें पाये जाते हैं। परमाणु वीर्य पुत्रकद्रव्य भी सम्पूर्ण लोकमें रहते हैं। एक जीव भी कश्चित्तुद्रातरु सम्य सम्पूर्ण लोकाकक्षमें व्याप्त हो जाता है।

किमेक द्रव्य किं पानेकद्रव्यमित्याह—

अथ इह द्रव्योंमें क्विन् क्षेत्र इत्ये एक हैं। और क्षेत्र अनेक हैं। यह कहते हैं —

धर्माधर्माकाशान्येकैकमत पर त्रिकमनन्तम् ।

कालं विनास्तिकाया जीवमृते चाप्यकतृणि ॥ २१४ ॥

टीका—धर्मद्रव्यमधर्मद्रव्यमाकाशद्रव्यं च धीष्यप्येकैकद्रव्याणि एकमेकं द्रव्य धर्म, अधर्माकाशावपि तथैव स्योमद्रव्यं तु लोकाकक्षोऽस्वरूपमेकमेवेति प्रतिपत्तभ्यम् । जीवद्रव्यमनन्त-संकल्पम् । तथा पुत्रकद्रव्यं कश्चन्यद्रव्यमनन्तसमयमतीतामागतानिमिदनेति । अथापमस्ति कायकक्ष किं सवद्रव्यविषया ? मेत्याह—कालादिनाऽस्तिकाया। कालस्तु नास्तिक्यः। न प्रचयोऽस्ति समायागाम् । वर्तमानस्त्येक एव समयः स मास्तिकायाः। अन्वयः प्रचयोऽस्ति । असंशयेयमन्वेदो जीवः। तथा धर्माधर्मावपि । न्मोमान्तप्रदेशं पुत्रकद्रव्यं च । जीवार्थे द्रव्याणि धर्माधर्माणि कश्चन्यवर्षावप्युत्पानि । जीवस्तु कर्ता शुभाशुभानां कर्मणामिति ॥ २१४ ॥

अर्थ—धर्म, अधर्म और आकाश इत्ये एक एक हैं। वायुिक तीन इत्ये अनन्त हैं। कालके विना क्षेत्र इत्ये अस्तिकाय हैं और जीवके विना क्षेत्र इत्ये अस्तिकाय हैं और जीवके विना क्षेत्र इत्ये अकर्ता हैं।

माहात्म्य—धर्मद्रव्य एक है अधर्म इत्ये एक है और लोक तथा अलोकाकक्ष आकाश इत्ये भी एक ही हैं जीवद्रव्य अनन्त है। पुत्रकद्रव्य अनन्त है तथा कश्चन्य भी असीत, अनन्त वीर्यके क्षेत्रसे अनन्त समयका है। इन कृष्टों द्रव्योंमेंसे कश्चने विना क्षेत्र पौषों इत्ये अस्तिकाय कहे जाते हैं। कश्चन्य अस्तिकाय नहीं है। क्योंकि उसके समयका प्रचय नहीं होता। वर्तमानकक्षका प्रमाण एकसमय है। अतः यह अस्तिकाय नहीं है। किन्तु क्षेत्र द्रव्योंके प्रवेशका प्रचय होता है क्योंकि वे बहुप्रदेशी हैं। जीव धर्म और अधर्मद्रव्य असंख्यप्रदेशी है। आकाश

अनन्तप्रदेशी हे और पुत्रक भी अनन्तप्रदेशी होता है। अन्त के पाँचों केस्तिकाय कहे जाते हैं। बीचके सिवाय छेप पर्मादि द्रव्य कर्तृत्वपर्यायसे रहित हैं। क्योंकि छुम और अछुम कर्मोक्त कर्ता केवल जीवद्रव्य ही होता है।

कर्मात्मीनि द्रव्याणि कार्यामिति निर्विशम्भाह—

द्रव्योक्तं कार्यं वक्तव्यते हे—

धमा गतिस्थितिमता द्रव्याणा गत्युपग्रहविधाता ।

स्तित्युपकृत्वाधर्मोऽवकाशदानोपकृद्गमनम् ॥ २१५ ॥

टीका—धर्मद्रव्य गतिमता द्रव्याणां स्वयमेव गतिपरिष्पतानामुपग्रहे वर्तते जीवपुत्रकाम् न पुनरगच्छञ्जीवद्रव्यं पुत्रकद्रव्यं वा वतान्नयति धमः । किन्तु स्वयमेव गतिपरिष्पतद्रव्यभूते धमद्रव्येण । मत्स्यस्य गच्छतो वृद्धद्रव्यमिबोपग्राहकम् । यथा वा भ्योभद्रव्यं स्वयमेव द्रव्यस्यावगाहमानस्य कारणं भवति, न पुनरवगाहमानं वृद्धद्रव्याहं कारणति । यथा च कृषीवसानां कृष्यारम्भं स्वयमेव कर्तुमुद्यतानामपेक्षाकारणं भवति, न च तानकुचतः कृषी वसान् वृत्तान् कृषिं कारणति यथा । यथा वा गर्जितम्बनिसमाकणमत् वृत्तानां गर्माधानप्रसवा भवतः, न च तामप्रसवती वृत्तान्बिषदशब्दं प्रसाद्यति । यथा वा पुरुषः प्रतिबोधनिमित्तं पापादिरमति न चाविरमन्तं पुमांसं वृत्तान्त्यतिबोधो विरमयतीति । एव गतिपरिष्पतभावात् पुत्रकजीवानामपेक्षाकारणं धर्मद्रव्यम् । तथा स्थितिमतां द्रव्याणां स्थितेरपेक्षाकारणम् धर्मद्रव्यं स्वयमेव तिष्ठताम् न चातिष्ठद्रव्यं वृद्धद्रव्यमः स्यादपयति । एव स्थितिमतां द्रव्याणां स्थित्युपकारी भवत्यधर्मः । गगर्भं तु जीवपुत्रकानामवगाहमानानामवकाशादानेन व्याप्त्रियते ॥२१५॥

अर्थ—धर्मद्रव्य चकते हुए द्रव्योके चकनेमें सहायता करता है। अधर्मद्रव्य ठहरे हुए द्रव्योके चकनेमें सहायक है और आकाशद्रव्य सभी द्रव्योके अवकाश रता है।

मावाध—धर्मद्रव्य स्वय ही चकते हुए जीव और पुत्रकोके चकनेमें सहायता करता है। किन्तु न चकते हुए जीवद्रव्य और पुत्रकद्रव्यको चकदीती नहीं भजाता है। जिस प्रकार जड मछलीके चकनेमें सहायक है, जिस प्रकार आकाशद्रव्य स्वय ही अवकाशको हस्तुक द्रव्यको अवकाशदान करता है—वक्पूर्वक कित्तीकत्रे अवकाश नहीं करता, जिस प्रकार स्वय ही क्षेत्रोंमें ऊने हुए किसानोंको सर्वा सहायक होती है—किन्तु क्षेत्री न करनेवाके किसानोंको वक्पूर्वक क्षेत्रोंमें नहीं बनाती है, जिस प्रकार मपशी गर्भनाके सुनकर मारा बगुनाबोधक गर्माधान अथवा प्रसव होता है—किन्तु यदि बगुना स्वय ही प्रसव न करे तो भेषकी गर्भना उसे वक्पूर्वक प्रसव नहीं कराती अथवा जिस प्रकार धर्मवैदशक निमित्तसे मनुष्य पापका त्याग कर देता है—किन्तु यदि पुरुष पापसे भिरक न हो तो

१-“ इति करो तेभेदे धाव्येति धर्मसि सिचतय अथा ।

वर्णोपदेश उक्तं बहूपूर्वकं एवागं नह्यं कर्तव्यं । उसी प्रकार चर्मे ह्ये जीव और पुत्रलोको धर्मद्रव्य चर्मेने सहायक्य करता है । तथा स्वयं ही उखरे ह्ये इत्योको अपर्मेद्रव्य उखरेने सहायक्य करता है । किन्तु उखरे ह्ये इत्योको बहूपूर्वकं नह्यं उखरता है । आकाशद्रव्य अन्नाहके इत्युक्त जीव और पुत्रलोको अन्नाहक-दान करता है । सारांश यह है कि छीवो ही द्रव्य अपने अपने कर्षोके प्रति उदासीन करन हैं; प्रेरक करन नहीं हैं ।

पुत्रलक्षणम्^१ क्लृप्तकारं विभक्त इत्याह—

पुत्रलक्षणस्य उपकारं कर्ते है—

स्पर्शरसगन्धवर्णां शब्दो घन्धश्च सूक्ष्मता स्यौल्यम् ।

सस्थान भेदतमश्छायोद्योतातपश्चेति ॥ २१६ ॥

कर्मशरीरमनोवाग्विचेष्टितोन्ध्यासदु खसुखदा स्युः ।

जीवितमरणोपग्रहकराश्च संसारिण स्कन्धा ॥ २१७ ॥

टीका—स्पर्शाद्यं पुत्रलक्षणस्योपकारः । तथा शब्दपरिणामः पुत्रलक्षणामेवोपकारः । बन्धनं बन्धं कर्मपुत्रलक्षणामात्मभवेष्टानां च क्षीरोदककम्पं पक्षोष्मीमात्रं पुत्रलक्षणस्योपकारः । सूक्ष्मतापरिणामः पुत्रलक्षणामुपकारोऽनन्तभवेष्टानां स्कन्धानाम् । तथा स्त्रीस्वपरिणामोऽश्रेष्ठ-मनुष्यादीनाम् संस्थानं चतुरस्रादि पुत्रलोपकारः । मेघः क्षणरूपं सोऽपि पुत्रलक्षणपरिणामः । तमोऽप्युपकारः परिणामः पुत्रलक्षणामेवोपकारः । जायापि पुत्रलक्षणपरिणामः । उद्योतश्चात्रतारुण्यं दीनां पुत्रलक्षणपरिणामः । आतपो विनकारादीनां पुत्रलक्षणपरिणामः ॥ २१६ ॥

कर्म ज्ञानावरणादि पुत्रलोपकारः । शरीरमौदारिकादि पुत्रलक्षणपरिणामः । मनोवाद्यायाम् पुत्रलक्षणपरिणामः । विचेष्टितं क्रिया पुत्रलक्षणपरिणामः । उच्छ्वासः प्राणापानी पुत्रलक्षणपरिणामः । कुर्वं सुखं चेति पुत्रलक्षणमित्येव । जीवितोपग्रहकराः क्षीरपूतादिपुत्रलक्षा मरणोपग्रहकरा विपगवादि-पुत्रलक्षा सर्वेऽप्येते पुत्रलक्षणामुपकाराः । संसारिणीवक्षिपया स्कन्धयुक्तेवपरिणतानां न परमाहुः कृपेयसि ॥ २१७ ॥

अथ—स्पर्श, रस, गन्ध, वर्णं शब्द, कम्प, सूक्ष्मता, स्यौल्यं आकार, क्षण्यं बन्धकर्म, जाया, चन्द्रमा आदिक्य प्रकार्य तथा वामं उदासीनीयोके ज्ञानावरणादि कर्म, शरीर, मन बन्धन क्रिया, आसु उच्छ्वासात् सुख और दुःख तथा जीवन और मरणमे सहायक स्कन्ध—यह सब पुत्रलक्षण उपकार है ।

भाषाय—जाठ प्रकारका स्वर्ण, पाँच प्रकारका रस, दो प्रकारकी गन्ध और पाँच प्रकारका रूप—ये सब पुद्गलके गुण होनेसे पुद्गलका ही उपकार समझना चाहिए। शरीर भी पुद्गलकी ही पयाव है। परमाणुका परमाणुके साथ अथवा कर्मपुद्गलके बाह्यके प्रदेशोंके साथ जो रूप-पानीकी तरह गन्ध होता है, वह भी पुद्गलका ही उपकार है। बनगठानम्प्रदष्टी स्वर्णके भी प्रदष्ट होना, और बादर, इन्द्रधनुष आदिका स्पृष्ट होना भी पुद्गलका ही उपकार है। तिक्रमे गौरह आकार, सब आदिके दुर्गन्ध अथवा चोदनीका प्रकार सूर्यका प्रकाश—ये सब पुद्गलके ही कार्य हैं। तथा बिन दृश्यबोसे सगरी जीवोंके कर्म शरीर, मन, बचन, इवात उष्णता भीरा बनते हैं, बिनके सभनते उन्हें सुख और दुःखका अनुभव होना है और जो उनके जीवनमें सहायक हैं—श्रेष्ठ रूप, भी आदि और जो उनकी मृत्युमें कारण हैं, वेस बिन गौरह—ये सब पुद्गलके ही कार्य मानना चाहिए।

काठकृतोपकारवधानायाह—

काठ और जीव द्रव्यका उपकार बतलाते हैं—

परिणामवर्तनाविधिः परापरत्वगुणलक्षण कालः ।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्रवीर्यशिक्षागुणा जीवाः ॥ २१८ ॥

टीका—परिणामास्तावदधतेऽङ्कुरो हीयते वाऽपक्षीपते बिनद्वयीत्यादिकः काठ बनिस उपकार। वर्तमेति—वर्तत इत् काठोपक्षमेतद्विमिमानं प्रपुत्रमे विद्वान्मत् । बतनाया विधि प्रकार उत्तन म्यायेन। परत्वमपरत्वं च काठकृतम् । पञ्चासद्वर्षात्पञ्चविंशतिवर्षात्परत्वं पञ्चविंशतिवर्षात्पञ्चासद्वर्षात्परत्वं । एवं परिणामादिगुणलक्षणः काठः परिणामादिभिषयार्थकत्वात् इत्यथ । अथ जीवाः केनोपकारेणोपकुर्वते ? सम्पत्तवाप्त्यादनेन । तत्र तत्त्वार्थभेदानलक्षणं सम्यक्त्वमुक्त्वमुत्पादयन्ति । ज्ञान सुताद्यधिगमयन्ति । चारित्रं क्रियानुष्ठानमुपदिशयन्ति । वीर्य शक्ति विसर्प वर्धयन्ति । शिक्षा विषयकारादिसिद्धान्तं जनयन्ति । एते वीर्यक्रिया (कृता) उपकारा ॥२१८॥

अर्थ—परिणाम वर्तनापरत्व और अपरत्व गुण काठद्रव्यके हैं। और सम्यक्त्व, ज्ञान चारित्र, वीर्य और शिक्षा जीव द्रव्यके गुण हैं।

भाषाय—अङ्कुरका फटना उसका बढ़ना अथवा बटना, इत्यादि परिणाम काठ द्रव्यका उपकार है। अनुक वस्तु है इत्यादि व्यवहारके वर्तना करते हैं। यह वर्तना भी काठका ही उपकार है; क्योंकि काठके निमित्तसे ही—'है आदि व्यवहार होय है। पञ्चास वर्षके बादभीकी अपेक्षासे पचीस वर्षका युवक ऊपर—छोटा कहलाता है। और पचीस वर्षके युवककी अपेक्षासे पञ्चास वर्षका आत्मी पर—बड़ा कहलाता है। यह छोटा-बड़ा व्यवहार भी काठ द्रव्यका ही कार्य है। इन

१-४ व्यवहारकेव्यवहार निमित्तसे योग्यवस्तु मुद्रुमारो। पुढीरिर्वरत्त व बरो ए केव्यो केव्यो ॥ ११

२-वर्षात्परत्वं सु ।

—वीर्यक्रियाचारिकृत प्रवचनभार ११४

गुणों—कर्मोंसे काळ द्रव्यको जाना जाता है। तथा सम्यक्त्व और हीनके गुण हैं; क्योंकि जीव तत्पार्षदज्ञानरूप सम्यक्त्वको उपलब्ध करते हैं शास्त्रोंको पढ़ते चारित्रिक पापन तथा उपशेध करते हैं सत्कर्म प्रदर्शन करते हैं, किये अन्तर औरहक्य ज्ञान करते हैं। ये सब हीनके गुण-उपकर बनाने चाहिए।

एवं श्रीवाचीमानमिवाद्य प्रपद्येन पुण्यापुण्यपदार्थद्वयमभिहितसुराह—

इस प्रकार जीव और अजीव पदार्थको कह कर नित्यरसे पुण्य और पाप पदार्थको करते हैं—

पुद्गलकर्म शुभ यत्तत्पुण्यमिति जिनशासने दृष्टम् ।

यदशुभमथ तत्पापमिति भवति सर्वज्ञनिर्दिष्टम् ॥ २१९ ॥

टीका—द्विभस्वारिंशत्प्रकृतयः शुभाः पुण्याभिधाना । वृथधिक्याशीतिरप्रस्तमङ्गुलीनां पापाभिधाना एवमाहुः सर्वज्ञा इति आगमप्राक्तं पद्यार्थोऽयमिति प्रतिपाद्यति ॥ २१९ ॥

अर्थ—शे पद्गल कर्म शुभ हैं वह पुण्य है, ऐसा जिनशासनमें देखा गया है। तथा जो अशुभ है, वह पाप है ऐसा सर्वज्ञ भगवान्ने कहा है।

भाषार्थ—सर्वज्ञदेव कर्मोंकी ४९ छान प्रकृतियोंको पुण्य और ८९ अशुभ प्रकृतियोंको पाप करते हैं। सर्वज्ञका निर्देश करनेसे मन्वन्तरकय अग्रिमय यह है कि पुण्य-पाप पदार्थ आत्मकय विषय है। और जिनशासनमें उसका नित्यरसे वर्णन पाया जाता है।

आत्मवसंशरी निरूपयति—

आत्मन और अत्मका निरूपण करते हैं—

योगः शुद्धः पुण्यास्रवस्तु पापस्य तद्विपर्यासः ।

वाक्फायमनोगुणिर्निरास्रवः सवरस्तूक्त ॥ २२० ॥

टीका—योगा मनोवाक्फायस्य स जन्वागमपूर्वको व्यापारः स्वेच्छाकृतः स पापत्वात् स्रवइति । सर्वपापेनास्रवाणां निरोधो गुणिसमितिपुरःसरं निवमितमनोवाक्फायक्रियस्य स्रवो भवति स्वगितास्रवद्वारस्यत्यर्थः ॥ २२० ॥

अर्थ—शुद्ध योगसे पुण्य कर्मका अज्ञान होता है और अशुद्ध योगसे पाप कर्मका अज्ञान होता है। कथन गुणि कथगुणि और मनोगुणिपूर्वक आत्मक कर्मको सवर करते हैं। इसका निरूपण पहले किया जा चुका है।

१—नाथि वरमिदं व पुस्तके । २—नाथन व वरमिदं व पुस्तके । ३—अस्मात् सर्व आस्रवर्तने निरूपयति इत्यन्तः पाठ उपलब्धे व पुस्तके ।

भाषाय—भागमें भिन्नित विधिक अनुसार जो मन, बचन और कार्यकी प्रवृत्ति होती है उससे पुण्य कर्मका आश्रय होता है। और स्वेच्छापूर्वक प्रवृत्ति करनेसे पाप कर्मका आश्रय होता है। गुणि समितिका पावन करते हुए सर्व मन बचन और कार्यकी क्रियाको नियमित करनेसे जो समस्त आश्रयोंका विरोध होता है, उसे संहर करते हैं।

निर्जरणबन्धमोक्षप्रतिपादनायाह—

निर्जरा बन्ध और मोक्षको करते हैं—

सवृततपउपधानं तु निर्जरा कर्मसन्ततिर्वन्ध ।

बन्धवियोगो मोक्षस्त्विति सक्षेपान्नव पदार्थाः ॥ २२१ ॥

टीका—एव सवृतान्नवद्वारस्य तपसि यथाशक्ति धर्मानस्यापूषकमप्रवेशानिपद्ये सति पूर्वोक्तकर्मफलपसा क्षयः। निर्जरा निर्जरणम्। उपधानमिबोधानं शितोदराया सुखहेतुत्वया तथा उपोऽपि जीवस्य सुखहेतुत्वाद्दुपधानमुच्यते। कर्मसन्ततिर्वन्धः। कर्मणां शानावरणादीनां सन्ततिरविच्छेद्यो बन्धः। कर्मत एव कर्मोपादानमात्मन इत्ययम्। कात्स्न्येन बन्धवियोगो मोक्षः। द्वाविंशत्युत्तरेऽपि प्रकृतिशाले निःशेषतः क्षाप्ते मोक्षो भवति। इत्युक्तः संक्षेपतो नव पदार्थाः ॥ २२१ ॥

अर्थ—सबसे सुख जीवके तप—उपधानको निर्जरा करते हैं। कर्मोंकी सन्तानको बन्ध करते हैं। और बन्धके अभावको मोक्ष करते हैं। इस प्रकार संक्षेपसे नौ पदार्थ हैं।

भाषार्थ—आश्रयके शरीरको पन्द करके शक्तिके अनुसार तपस्या करनेसे नदीन कर्मोंके अगमनका रुक जानेपर पहले बंधे बंधे हुए कर्मोंका तपसे जो क्षय होता है उसे निर्जरा करते हैं। उपधान लक्षिकेको करते हैं। जिस प्रकार लक्षिका सिरके छिपे सुखदा कारण होता है, उसी प्रकार तप भी जीवके सुखका कारण है। तप करनेसे सुखकी प्राप्ति होती है। अतः तपको उपधान कहा है। शानावरण आदि कर्मोंके माद्य न होनेको—उनकी परम्पराके बराबर बंधते रहनेको बन्ध करते हैं; क्योंकि कर्मोंसे ही अतमाके कर्मबन्ध होते हैं। बर्बाद पहले बंधे हुए कर्म ही नदीन कर्मोंके बन्धमें कारण होते हैं। इसीसे कर्मोंकी सन्तानको बन्धका क्षय होनेसे बन्ध कहा है। बन्धके विच्छेदक अभाव हो जानेको मोक्ष करते हैं क्योंकि ११२ प्रकृतियोंके विच्छेदक क्षीण हो जानेपर मोक्ष होता है। इस प्रकार संक्षेपसे ये नौ पदार्थ हैं।

सम्यग्दर्शनस्वरूपनिरूपणायाह

सम्यग्दर्शनका स्वरूप करते हैं—

एतेष्वध्यवसायो योऽर्थेषु, विनिश्चयेन तत्त्वमिति ।

सम्यग्दर्शनमेतच्च तन्निसर्गादिधिगमाद्वा ॥ २२२ ॥

टीका—एतेषु जीवाधिपदाथेषु योऽप्यवसायो निनिश्चयेन परमार्थन, न दासिण्या-
नुहत्या तत्रत्वमिति सत्यं तस्यं तद्वृत्तमित्यथा । एतदेव प्रकारं सम्पदर्शनम् । तत्र द्विहेतुकं
निसर्गाधिगमादिति । निसर्गः स्वभावः संसारे परिभ्रमतो जीवस्त्वानामोगपूर्वकं क्म क्षपयतो
प्रतिबन्धानप्राप्तस्त्वापूर्वकत्वात्प्राप्तम् प्रथिं विदारयतेः शुभाप्यवसायस्य विभिन्नप्रभेरेति
वृत्तिकरणप्राप्तौ ध्रुमपरिणामस्य स निसर्गतः स्वभावज्ञेयं तस्यायभङ्गान्छद्मं सम्पदर्शन
मुत्पद्यते । भगवत्प्रतिमादर्शनात् साधुदर्शनात् ध्रुमपरिणामो निसर्गः स्वभावश्चिकार्याः ।
कदाचिद् प्रथ्मी मिथे शिष्यमात्रस्यागमोपदेशावाक्यपतः शृङ्खतोऽधिगमसम्पदर्शन-
मुत्पद्यते ॥ २२२ ॥

अर्थ—इन जीवाधि परार्थोंमें परमार्थसे ये तत्त्व हैं । ऐसा जो अल्पवसाय—परिणाम होता है
उसे सम्पदर्शन कहते हैं । यह सम्पदर्शन स्वभावसे अथवा परोपदेशसे होता है ।

भाषार्थ—उक्त जीवाधि परार्थोंमें परमार्थसे, न कि दूसरोंके आश्रयसे, स्वयत्ताकी जो प्रतीति
होती है—कि यही तत्त्व है यही तत्त्व है यही सत्य है यही वास्तविक है, उसे सम्पदर्शन कहत हैं ।
उक्त सम्पदर्शनके दो हेतु हैं—एक निसर्ग और दूसरा अधिगम । निसर्ग स्वभावसे कहत हैं । संसारमें
भ्रमन करत हुआ जीव काश्चस्मिकसे प्राप्त होनेपर मित्रा मोने हो कर्तव्य क्षपण करता है । और मिष्य-
त्वकपी प्रतिबन्धानसे प्राप्त करके अपूर्वकरण नामके परिणामोंके द्वारा प्रथिं को मेदता है । ध्रुम परिणामोंके
द्वारा मिष्यत्व-प्रथिंका मेद करनेके बाद अनिवृत्तिकरण नामके परिणामोंसे प्राप्त करता है । तब
उसके स्वभावसे ही तत्त्वार्थप्रदानरूप सम्पदर्शन उत्पन्न होता है । इस प्रकार विनोद्दर्शकी
प्रतिमाके दर्शनसे अथवा साधुओंके दर्शनसे प्रथिंके शिष्यसे जो सम्पत्क प्रकट होता है वह निसर्ग
सम्पदर्शन है । तथा प्रथिं-मेद होनेपर गुरु महाराजके उपदेश सुननेसे जो सम्पत्क होता है वह
अधिगम सम्पदर्शन है । सादाश यह है कि सम्पदर्शनकी उत्पत्तिके दो कारण हैं—एक अन्तरङ्ग और
दूसरा बाह्य । अन्तरङ्ग कारण दोनों ही सम्पदर्शनमें समान हैं क्योंकि दोनों ही प्रकारके सम्पदर्शनोंकी
उत्पत्तिके लिए मिष्यत्वकपी प्रतिबन्ध ठेका जाना आवश्यक है और उसके ठेकके लिए अपाप्रवृत्तिकरण
अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण नामके परिणामोंका होना बकरी है । अतः अन्तरिक प्रथिंका तो होनेमें
समान है । केवल बाह्य कारणोंमें अन्तर है । निसर्ग सम्पदर्शनमें विन-प्रतिमा साधु योगद्वारा दर्शन
बाध कारण होता है । उनके दर्शन मात्रसे ही ध्रुम मार्गकी भाव रहने लगती है । किन्तु अधिगम
सम्पत्कमें पक्ष उपदेश बाध कारण होता है । दोनोंमें केवल इतना ही अन्तर है ।

एतदेव दद्यायति—

इसी गानसे कहते हैं —

शिक्षागमोपदेशध्वणान्येकार्थकान्याधिगमस्य ।

एकार्थ परिणामो भवति निसर्ग स्वभावश्च ॥ २२३ ॥

टीका—उक्त्याया कारिकेयम् ॥ २२३ ॥

अथ—शिक्षा, आगम, उपदेशप्रवचन-ये अविगमके समानार्थक हैं। और परिणाम, निर्गम और स्वभाव-य तीनों एकार्थक हैं।

भाषाय—त्रिस प्रकार जैनधर्मके अम्याससे, आगमके पढ़नेसे, और उपदेशके सुननेसे जो सम्पत्त उदयन होता है, वह अविगम है, उसी प्रकार परके उपदेशके बिना स्वभाससे ही जो सम्पत्त होता है, वह निर्गम है।

एतत्सम्यग्दर्शनमनधिगमविपर्ययो तु मिथ्यात्वम् ।

ज्ञानमथ पञ्चभेद तत् प्रत्यक्ष परोक्ष च ॥ २२४ ॥

टीका—एतद्विप्रकारं सम्यग्दर्शनमाधिगमिक निर्गमिक च । एतद्विपरीत मिथ्यात्वमनधिगमत्वस्य तत्त्वाद्याश्चज्ञानम् । अतत्त्वबुद्धिरिति विपर्ययः । ज्ञानं मत्प्रादिभेदेन पञ्चधा । तत् समासतो द्विधा—प्रत्यक्षं परोक्षं च । तत्र प्रत्यक्षमधिमनःपर्यायकेवलज्ञापमक्ष स्यात्मनः साक्षाद्बिन्द्वनिरपेक्षं क्षयोपशमञ्च क्षयोत्थं च । मतिभूते परोक्षमिन्द्रियानिन्द्रियनिमित्तमिन्द्रियद्वारकं न पुनरात्मनः साक्षाद्भूमादभिज्ञानवत् । इन्द्रियमनोज्ञानात्पञ्चक्षयोपशमन्वयं परोक्षमिति ॥ २२४ ॥

अर्थ—यह सम्यग्दर्शन है। और तत्कार्यका अज्ञान न करना अथवा विपरीत अज्ञान करना मिथ्यात्व है। ज्ञानके पाँच भेद हैं। वह प्रत्यक्ष और परोक्ष होता है।

भाषाय—इस प्रकार सम्यग्दर्शन दो प्रकारका होता है—अधिगम और निर्गम। इससे उक्त मिथ्यात्व है। तत्कार्यका अज्ञान न करना अविगम मिथ्यात्व है। और तत्परि अतत्त्वबुद्धिका होना विपर्यय मिथ्यात्व है। इस प्रकार सम्यग्दर्शनका कथन करके सम्यग्ज्ञानका कथन करते हैं। ज्ञानके पाँच भेद हैं—मति, बुद्धि, अविनिःपर्यय और केवल। यह सभ्यसे दो प्रकारका होता है—प्रत्यक्ष और परोक्ष। अथवि मनःपर्यय और केवल प्रत्यक्ष हैं। क्योंकि ये ज्ञान इन्द्रियोंके सहायता न केवल केवल अज्ञानसे ही उत्पन्न होते हैं। इनमेंसे अविनिःपर्यय और मनःपर्यय क्षयोपशमिक हैं और केवलज्ञान क्षयिक है। मति और बुद्धि परोक्ष हैं। क्योंकि वे इन्द्रिय और मनकी सहायतासे उत्पन्न होते हैं। जैसे घूमने अविज्ञान ज्ञान करनेमें घूम सहायक होता है। जैसे ही ये ज्ञान भी इन्द्रिय और मनकी सहायतासे पदार्थोंके जानते हैं। अतः जो ज्ञान इन्द्रियारण और अविन्द्रियाकरण कर्मके क्षयोपशमसे होता है, वह परोक्ष है।

तत्र परोक्षं द्विविधं श्रुतमामिनिबोधिकं च विज्ञेयम् ।

प्रत्यक्षं चावधिमनःपर्यायो केवलं चेति ॥ २२५ ॥

टीका—श्रुतमागमोऽतीन्द्रियविषयो यथापरिच्छेदित्वात् प्रमाणम् । आमिनिबोधिकं मतिरिति तु स्याद्योः सा च मानसी मतिरप्यावहाया । तत्र परं द्विविदादृशविभं श्रुतं

भवति । अस्यास्य पुनरवस्थाविषयम् । मिथ्यावस्तुनपरिग्रहामतिभ्रुतावयवो विषयव्याप्यत्वमपि
भवतीति ॥ २२५ ॥

अर्थ—उत्तमेसे परोक्षके दो भेद जानने काक्षिण्य—एक भूत और दूसरा आभिमिबोधि ।
तथा अथ, मन्त्रपर्यय और केवलज्ञानको प्रत्यक्ष जानना काक्षिण्य ।

भाषा—आत्मिक ज्ञानको भूत कहते हैं । आभिमिबोधि और मतिव्यय एक ही अर्थ है ।
पहले अर्थप्रमाण काक्षिण्य मतिज्ञान होता है । उसके बाद अनेक प्रकारका भूतज्ञान होता है । अथ
कीवृत्त तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं । मिथ्यात्वके साथ रहनेसे मति, भूत और अक्षिण्य मिथ्याज्ञान मो होते
हैं । अर्थात् ये तीनों ज्ञान सबे मो होते हैं और मिथ्या भी होते हैं । यदि सम्प्रत्यक्षके साथ हों तो
सब होते हैं और यदि मिथ्यात्वके साथ हों तो मिथ्या होते हैं ।

एषामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति' विस्तराधिगम ।

एकादीन्येकस्मिन् भान्यानि त्वाचतुर्भ्य इति ॥ २२६ ॥

टीका—एषां मत्याविज्ञानानामुत्तरभेदविषयादिभिर्भवति विस्तराधिगमः । तत्रे-
न्निश्चानिन्निश्चमेवाक्षिण्यं मतिज्ञानम् । अथप्रहाविभेदाच्चतुर्भिषम् । ब्रह्मादिभेदात्नेकमा ।
भूतमप्यङ्गवाङ्माङ्गप्रविष्टमेवादेया । अङ्गवाङ्गमनेकैककारम् । आक्षिण्यकाचङ्गप्रविष्टमप्याचारवि-
द्यावृत्तविषयम् । तत्र परोक्षमसत्प्रत्यक्षविषयम् । अथविर्भावस्यमध्यमोत्कृष्टादिभेदानेकधा रूपि-
प्रत्यक्षविषयम् । मन्त्रपर्यायज्ञानमपि अक्षुब्धविभूतमत्यादिभेदमवधिज्ञानविषयीकृतप्रत्यानन्तमान-
निश्चयनं विदुदत्तरं वेति । एष विस्तराधिगमः । आक्षिण्यत्वात् क्षेत्रकावधिभागोऽपि इत्यन्तः ।
अर्थात्तानि पञ्च ज्ञानाभ्येकस्मिन्कारणनि भुगपत् क्षिण्यन्ति मन्त्रादीत्याह—एकस्मिन्त्यादि । एषं
मतिज्ञानं अथमप्यत्त भूतज्ञानमक्षरपरमकं सर्वत्र नै तमवतीत्येवमुक्तमेकं मतिज्ञानमिति ।
अन्वया भावकृतं सर्वबीजानामागमेऽभिहितम् । तथा कदाचिन्मतिभ्रुते द्वे भवतः । कदा-
चिन्नोमि मतिभ्रुतावधिज्ञानानि । कदाचिन्मतिभ्रुतावधिमन्त्रपर्ययज्ञानानीति । न अक्षुब्ध-
पञ्चापि भुगपत् संभवन्तीति ॥ २२६ ॥

अर्थ—इन ज्ञानोंके उत्तरभेद और विषय औरहसे इनका विस्तारसे ज्ञान होता है । एक जीव
में एकसे क्षेत्र चार ज्ञान तक विभाग करना काक्षिण्य ।

भाषार्थ—भेद-प्रभेद और विषय काक्षिण्ये ज्ञानोंको सब विस्तारके साथ जाना जा सकता है । जैसे
इन्द्रिय और अभिमिबोधि के भेदसे मतिज्ञान दो प्रकारका है । अथप्रमाण ईहा, अथाव और धारणाके भेदसे
चार प्रकारका है । वे चारों ज्ञान पौंचों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होते हैं । अतः मतिज्ञान ४×५=२०
प्रकारका है । ब्रह्म, ब्रह्मविषय, क्षिण्य आनिःसृज, अक्षुब्ध, सुख, एक, एकविध, चिद, निःसृत, तत्र और

१-विभिर्भेदविषयको मति-व । २ एकस्मिन्नेकस्मिन् इत्यन्तं 'विस्तराधिगमो मन्त्रे

इति वक्तव्यः एत-व-० पुस्तके अस्ति । १-मात्मीय-व पुस्तके ।

सूत्रज्ञान चार प्रकारके पदार्थोंके अर्थप्रहादि चारों ज्ञान होते हैं और उनमेंसे प्रत्येक ज्ञान पाँचों इन्द्रियों और मनसे उत्पन्न होता है। अतः मतिज्ञान $12 \times 5 \times 6 = 360$ प्रकारका है। तथा अर्थप्रहादि दो भेद हैं। एक अर्थान्वयप्रहा और दूसरा अर्थप्रहाप्रहा। अर्थप्रहाप्रहा अक्षु और मनके सिवा शेष चारों ही इन्द्रियोंसे होता है और अर्थप्रहा ही प्रकारके पदार्थोंका होता है। अतः उसके $12 \times 5 = 60$ भेद होते हैं। पूर्वोक्त 360 भेदोंमें 60 भेदोंको विद्याभेदे मतिज्ञान 300 प्रकारका होता है।

सूत्रज्ञान भी अर्थप्रहा और अंगप्रविष्टके भेदसे दो प्रकारका है। अर्थप्रहा सूत्रके अनेक भेद हैं। अंगप्रविष्ट सूत्रके आचारार्ह, सूत्ररूपार्ह आदि बारह भेद हैं। ये दोनों परोक्षज्ञान समस्त द्रव्योंकी कुछ पर्यायोंका जानते हैं। अर्थप्रहाज्ञानके अल्पम, मध्यम, उत्कृष्ट आदि अनेक भेद हैं। तथा वह कृपी द्रव्योंको ही जानता है। मध्यपर्यायज्ञानके अल्पमति, विपुलमति वगैरह भेद हैं। यह अर्थप्रहाज्ञान निश्चयीमूल कृपी द्रव्योंके अर्थप्रहाके मानको जानता है। अतः उसकी अपेक्षासे विशुद्धतर है। केवलज्ञान समस्त द्रव्योंकी समस्त पर्यायोंको जानता है। इस प्रकार भेदों और नियमकी अपेक्षासे ज्ञानोंका विस्तारसे शेष होता है। आदि पदसे क्षेत्र और कालकी अपेक्षासे भी विभाग कर केना चाहिए। इन पाँचों ज्ञानोंमेंसे एक अर्थके एकसे केवल चार ज्ञान तक हो सकते हैं। एक ज्ञान मतिज्ञान होता है। अर्थप्रहाप्रहा सूत्रज्ञान सब जीवोंके नहीं होता। अतः अकेला मतिज्ञान बतलाया है। कमी मति और कुछ दोनों होते हैं। कमी मति, कुछ और अर्थप्रहा ही ज्ञान होते हैं। कमी मति, कुछ अर्थप्रहा और मध्यपर्याय ये चार ज्ञान होते हैं। अतः एक सात पाँचों ज्ञान कमी नहीं होते।

सम्यग्ज्ञानमिष्याज्ञानयोः किञ्चित् भेद इत्याह—

सम्यग्ज्ञान और मिष्याज्ञानमें भेद होनेका कारण बतलाते हैं—

सम्यग्दृष्टेर्ज्ञानं सम्यग्ज्ञानमिति नियमत सिद्धम् ।

आद्यत्रयमज्ञानमपि भवति मिष्यात्वसयुक्तम् ॥ २२७ ॥

टीका—सम्यग्दृष्टिस्तस्यायमज्ञानसंक्षयसम्यग्ज्ञानसम्पन्नः साक्षाद्विद्यारूपद्वैतस्तस्य यमज्ञानं तत्सम्यग्ज्ञानम् । यथावस्थितपदाद्यपरिच्छेदित्वात् नियमेनैवाप्यभिचारि सिद्धम् । आद्यत्रयमज्ञानमपि । मिष्यादृशमयोगात् मतिभुतावचयः सत्सत्त्वविशेषपरिज्ञानाय-
दृष्ट्यातो वाऽसत्त्वप्रवेकमसत्त्वत् । ज्ञानकज्ञाभावात्तच्च मिष्यादृष्टेर्ज्ञानमेव ॥ २२७ ॥

अर्थ—सम्यग्दृष्टिके ज्ञान सम्पन्न होना है, यह नियमसे सिद्ध है। आदिके तीन मति, कुछ, और अर्थप्रहा, मिष्यात्वसे सयुक्त होनेपर मिष्याज्ञान भी होते हैं।

1-यके अर्थ केवलज्ञानं न तेन ब्रह्मज्ञानं अ. योग्यमिदं नुबन्धवदिति प्रत्ये । हे मतिभुते । मतिभु मतिभुतावचयमिति मतिभुतमन्तरवचयमिति वा अन्वयः मतिभुतमन्तरवचयमिति । न पत्र दृष्टि, केवल-
त्वात्कालमन्त्र ।—श्रीपूज्य पारङ्गल-उर्वाचिके, पद्यम अन्वय एव । १ ।

भाषाय—तत्त्वार्थके अज्ञानरूप सम्पददर्शनसे युक्त और छाद्वादि दोषोंसे रहित सम्पदद्विक्रम जो ज्ञान होता है, उस सम्पदज्ञान कहते हैं; क्योंकि वह वस्तुके स्वरूपको देता वह तैसा जानता है। यह बात नियमसे सम्पदिबारी है। अर्थात् सम्पदद्विक्रम ज्ञानक सम्पदज्ञान होनामें कमी कोई बात नहीं देखी गई और न कमी सम्पदद्विक्रम सिवा किसी अन्यक ज्ञान सम्पदज्ञान ही दखा गया है। आधिके तीन ज्ञान—स्मृति ज्ञान, और अथवि सिध्दाज्ञान भी होते हैं। अर्थात् य तीनों ज्ञान सिध्दाद्विक्रमे भी होते हैं। अतः वे सिध्दाज्ञान भी कहे जाते हैं। क्योंकि सिध्दादर्शनके सम्बन्धसे ये तीनों ज्ञान सत् और असत्में भ्रम न कर सकनेके कारण उन्नत मनुष्यकी तरह अपनी इच्छासे सत् को असत् कह देते हैं और असत् को सत् कह देते हैं। यदि कमी सत्को सत् और असत्को असत् भी कह दें तो भी उन्हें प्रामाणिक नहीं माना जा सकता। जिस प्रकार छाद्वादी मनुष्य सरस्वके नशेमें जोको मृदा और माटाको भी कहता है। कदाचित् मृदाको माटा और भी को भी भी कह देता है; किन्तु इससे उसे होशमें नहीं माना जा सकता। इसी प्रकार सिध्दाद्विक्रम भी आत्मज्ञानसे विमुक्त होनेके कारण संसारके पदार्थोंमें सिध्दाद्विक्रम रहता है—जो अपने नहीं हैं उन्हें अपना समझता है। उनमें कित्थीसे राज और कित्थीसे बेप करता है। अतः उसका ज्ञान अज्ञान या सिध्दाज्ञान कहा जाता है। इस प्रकार सम्पन्न और सिध्दाद्विक्रमे कारण ज्ञान, सम्पदज्ञान और सिध्दाज्ञान होता है।

सम्पददर्शनसम्पदज्ञाने निरूप्य चारित्र्यप्रतिपादनायमाह—

सम्पददर्शन और सम्पदज्ञानका निरूपण करके सम्पदचारित्र्यका प्रतिपादन करते हैं —

सामायिकमित्याद्यं छेदोपस्थापन द्वितीयं तु ॥

परिहारविशुद्धिकं सूक्ष्मसम्पराय यथाख्यातम् ॥ २२८ ॥

टीका—अस्तद्विष्ट समस्तस्य मायो साभ उपचयो ज्ञानादेः सामायिकं स प्रयोब नमस्यति सामायिकम् । प्रथमपश्चिमतीक्ष्णरूपारिस्वरं सामायिकम् । मध्यमतीक्ष्णरूपार्था धावन्तीविक्रमम् । पूर्वपथायच्छेदाद्गतपर्यायंरूपपापनं छेदोपस्थापनम् । प्रथमपश्चिमतीक्ष्णरूपारिस्वरं तीर्थं । परिहारविशुद्धिकं पश्चिरेण भाषाम्बन्धिताहारपरिहारेण तत्परित्यागेन विशुद्धिः क्रम यम सत् परिहारविशुद्धिकम् । अर्थात् नवमपूर्ववृत्तीयाचारस्मृतां साधूनां गच्छन्निविगतानां पश्चिरेणकल्पस्यितत्वन मिथा स्थितानां प्रीम्भसिस्त्रिस्त्रिंशत्सु चतुर्थादिवाद्वाप्त-भक्तमात्रिनामाचार्येणव परिहारिकेर्णां च प्रतिदिनाभास्त्रमोक्षनां कल्पस्थितस्य च पृष्ठकल्पवगस्य पापमासाशापवतोऽनुष्ठानं पश्चिरेणविशुद्धिकमुच्यते । तथा सूक्ष्मसम्परायं सम्परायक्यापोपस्य सूक्ष्मा सोमारम्पसस्तत्सम्परायं दशमगुणस्थानवतिनश्चारित्र्यं भवति । यथाख्यातं तूपशास्त्रक्यापस्य क्षीमक्यापस्य चिन्ताद्वाद्वाद्दो च गुणस्थान वतमानस्य भवति । यथा भगवद्विपक्यापस्य वन प्रकृतेण कथितं कथं चारम्प्यातमक्यापस्य चारित्र्यमित्येवमारम्प्यातम् ॥ २२८ ॥

इत्येतत् पञ्चविध चारित्र मोक्षसाधन प्रवरम् । अनेकानुयोगनयप्रमाणमार्गे समनुगम्यम् ॥ २२९ ॥

टीका—पञ्चविधं सामायिकविषयाख्यातपर्यन्तमष्टविधकर्मपरिकीर्तनाच्चारित्रम् ।
मोक्षसाधनं सम्यग्ज्ञानपूर्वकं क्रियानुष्ठानम् । प्रवर प्रधानम् । अनेकानुयोगद्वारमार्गेण अनेकेन
च नयमार्गेण नैगमादिना तथा प्रमाणमार्गेण प्रत्यक्षपरोक्षगोचरेण । समनुगम्यं समभिगम्यं
इयमित्यर्थः ॥ २२९ ॥

अर्थ—यह सा सामायिक, दूसरा ऐश्वर्यस्थापना, तीसरा परिहातविशुद्धि, चौथा सूक्ष्मसम्पत्तय
और पाँचवाँ यथाक्यात ये चारित्रके पाँच भेद हैं । यह चारित्र मोक्षका प्रधान कारण है । अनेक
बहुभोगद्वारसे नयोंसे और प्रमाणोंसे उसे अच्छी तरह जानना चाहिए ।

भाषा—राग और द्वेषसे रहित परिणामको सम कहते हैं उसकी प्राप्तिसे 'समाय' कहते
हैं । 'समाय' अर्थात् साम्यभावकी प्राप्ति ही जिसका प्रयोजन है, उसे सामायिक कहते हैं । पहले
और अन्तिम तीर्थकरका सामायिकचारित्र कुछ समय तक रहता है और मध्यक तीर्थद्वारोंके जीवनपर्यन्त
रहता है । पूर्व पर्यायका छेद करके उत्तर पर्यायके कारण करनेको ऐश्वर्यस्थापनचारित्र कहते हैं । यह
चारित्र पहले और अन्तिम तीर्थकरके तीर्थमें ही होता है । आद्यय यह है कि दीक्षा भाग्य करते समय
सामायिकसमय ही भारत क्रिया मत्त है । बादमें उसमें दूयण उगनेपर ऐश्वर्यस्थापनचारित्र कारण
करना होता है । यह दूयण पहले और अन्तिम तीर्थकरोंके समयमें ही उगता है । अतः उनके तीर्थमें
पाँचों चारित्रोंकी प्रवृत्ति रहती है । निम्न मध्यके चारिष तीर्थकरोंके तीर्थमें सामायिकमें दूयण उगनेका
प्रसङ्ग उपस्थित नहीं होता । अतः उनके तीर्थमें चार ही समयोंकी प्रवृत्ति रहती है । आचार्यके सिवा
उप बाहार भी भाग कर देनेसे आराममें जो विशुद्धि उत्पन्न होती है उसे परिहातविशुद्धिचारित्र कहते
हैं । नीचे पूर्वकी तीसरी आचार्य बस्तुके पाठी जो साधु गच्छसे निकलकर पारिवारिक कर्ममें स्थित होते
हैं और श्रेय, शिक्षित तथा वर्षा ऋतुमें एकसे केकर पाँचतक उपवास करते हैं । अर्थात् श्रेय ऋतुमें
अध्यासे एक, मध्यम दो और उत्कृष्ट तीन उपवास, शिक्षित ऋतुमें अध्यासे दो, मध्यम तीन और उत्कृष्टसे
चार उपवास तथा वर्षा ऋतुमें अध्यासे तीन, मध्यमसे चार और उत्कृष्टसे पाँच उपवास करते हैं ।
पारणाक दिन आचार्यक मोक्षण करते हैं ।

सम्पत्तयकणायको कहते हैं । जिसके सूक्ष्म उमेकयाय बाकी रह जाती है, उस दशम
गुणस्थानकी जीवके सूक्ष्मसम्पत्तयचारित्र होता है । ग्याहमें और ग्याहमें गुणस्थानकी उपशास्य
कणाय और हीनकयाय मुनिके यथाक्यातचारित्र होता है । मगधान्ते जिस प्रकारसे कहा है उसी
प्रकारसे पूर्ण चारित्रको यथाक्यातचारित्र कहते हैं । यह चारित्र अक्यायोंके होता है । इस प्रकार
चारित्रके पाँच भेद हैं । यह चारित्र साठ प्रकारक कर्मोंके सन्तुष्टके मद्य कर दास्य है, अतः मोक्षके

प्रति प्रधान रूपम् है। अनेक अनुयोगोंसे, अनेक नयोंसे तथा प्रत्यक्ष परोक्ष प्रमाओंसे इस चारित्र्यको बख्शी तब बालना चाहिए ॥ २२८ २२९ ॥

सम्पद्दर्शनं सम्पद्गणनं सम्पद्कृचारिणं च किं समुदितमेव साधनमाहोधिरेकै-
कमपीत्याद्याह—

सम्पद्दर्शनं सम्पद्गणनं और सम्पद्कृचारिणं तीनों मिळकर ही मोक्षके साधन हैं कबच एक एक साधन है ! यह आसङ्गा करते हैं—

सम्यक्त्वज्ञानचारित्र्यसम्पद साधनानि मोक्षस्य ।

तास्वेकतराऽभावेऽपि मोक्षमार्गोऽप्यसिद्धिकरः ॥ २३० ॥

टीका—समुदितमेव मितयमाधिक्यं मोक्षसाधनम् । एकतराऽभावेऽप्यसाधनमिति । एता सम्पत्कृत्वादिस्वम्पदाः । परस्परापेक्षा एव मोक्षं साधयन्ति त्रिक्रान्द्वयपदेशवत् । एकतराऽभाव तु साधनाभावः, न मोक्षं साधयन्तीत्ययम् ॥ २३ ॥

अर्थ—सम्पद्दर्शनं सम्पद्गणनं और सम्पद्कृचारिण्युक्त सम्पदा मोक्षका साधन है। उनमेंसे एकके भी कमारमें मोक्षमार्गकी सिद्धि नहीं होती।

मात्सर्य—ये तीनों मिळकर ही मोक्षके साधन हैं। एकके भी कमारमें मोक्षके साधन नहीं हो सकते। जिस प्रकार हर् नरेशा और बॉन्साके मेषसे ही त्रिफला नामक औषध तैयार होती है, तभी यह रोगोंका उन्मूलन करती है। उसी प्रकार ये तीनों ही परस्परमें एक दूसरेकी अपेक्षा रखकर ही मोक्षका साधन करते हैं। इनमेंसे यदि एक भी न हो तो ससत्तरूपी रोगोंसे मुक्ति नहीं निकल सकती।

पूर्वद्वयसम्पद्यपि तेषां भजनीयमुत्तरं भवति ।

पूर्वद्वयलाभ पुनरुत्तरत्त्रमे भवति सिद्ध ॥ २३१ ॥

टीका—सम्पद्दर्शनसम्पद्गणनयोः सतोऽपि चारित्र्यसम्पत् कदापि न भवति, कदा-
चिन्नेति मज्जनीयमुत्तरं चारित्र्यमित्यर्थः । यदा पुनश्चरन् स्वयं तथा पूर्वद्वयलाभो नियमनैव ।
महि सम्पद्दर्शनसम्पद्गणनाभ्यां विना चरत्संभवः, तत्पूर्वकृत्वाचारित्र्यस्य । तस्माच्चरत्संभवा
विनाभूते सम्पत्त्वसम्पद्गणने ॥ २३१ ॥

अर्थ—उनमेंसे पहलेके दो—सम्पद्दर्शनं और सम्पद्गणनके होनेपर भी चारित्र्य मज्जनीय है—कमी होता है और कमी नहीं होता। किन्तु कष्ट चारित्र्यके होनेपर पहलेके दोनों—सम्पद्दर्शनं और सम्पद्गणनका काम सिद्ध ही है।

१-त्रिक्रान्द्वय-क प । २- सम्पद्दर्शनतः सम्पद्गणनयोः इत्यतश्च नियमेनैव इति तर्कः

कदा-कदा पुत्रके माथि । २२३ सम्पद्गणनचारित्र्यसम्पत् । इत्यादिपूर्वकृत्वाचारित्र्यस्य तस्माच्चरत्संभवाविनाभूते-
सिद्धे-वै बुद्धिः कदाचित् ।

मावाच—सम्पदस्तत्र और सम्पद्ज्ञानक प्राप्त होनेपर जो किस्तीक चारित्र होता है और निस्तीके नहीं होता । जिस प्रकार चारुर्ष गुणत्वानमें सम्पदर्शन और सम्पद्ज्ञानक होनेपर भी चारित्र नहीं होता; किन्तु छद्म चारि गुणत्वानमें होता है । परन्तु जिसके चारित्र होता है, उसके सम्पद्दर्शन और सम्पद्ज्ञान नियमसे होते हैं । क्योंकि उनके बिना चारित्र हो ही नहीं सकता । सम्पद्दर्शन और सम्पद्ज्ञानके होनेपर ही चारित्र होता है । अतः चारित्रकी प्राप्ति उन दोनोंकी अविनाभायी है ।

कथं पुनः सम्यक्त्वाविसाधनमाराध्यमविक्रममनुष्ठेयमित्याह—

सम्यक्त्व वगैरहक्य आराधनं किञ्च प्रकारं करना चादिप ! यह वतवात है—

धर्मावश्यकयोगेषु भावितात्मा प्रमादपरिवर्जि ।

सम्यक्त्वज्ञानचारित्राणामाराधको भवति ॥ २३२ ॥

टीका—धर्मों वृथाबिधे क्षमादिके आबश्यकेषु । तानि आबश्यकानि प्रतिक्रमणाद्धोषन स्वाध्यायप्रत्युपेक्षणप्रमादनिगमप्रवेशादीन्यवश्यककरणौघानि तेषु । भावितात्मा आह समस्त-प्रमादपरिहारी सम्यक्त्वाविसाधनामाराधक्य भवति परिसमापयिता भवतीत्यर्थः ॥ २३२ ॥

अर्थ—क्षमा आदि धर्मों और आबश्यकक्रियाओंमें अज्ञाशील तथा प्रमाद न करनेवाला वात्सा सम्पद्दर्शन सम्पद्ज्ञान और सम्यक्चारित्रक्य आराधक होता है ।

मावाच—जो दृष्ट प्रकारके धर्मों और प्रतिक्रमण आद्धोषन स्वाध्याय प्रत्युपेक्षण, प्रमाद और आना-जाना वगैरह आबश्यकक्रियाओंमें अज्ञा रजता है तथा आबश्यक नहीं करता है, वह सम्पद्दर्शन चादिकी आसधना कर सकता है ।

आराधनाञ्च तेषां तिस्रस्तु जघन्यमध्यमोत्कृष्टा ।

जन्मभिरष्टत्र्येकै सिध्यन्त्याराधकास्तासाम् ॥ २३३ ॥

टीका—तेषां सम्यक्त्वादीनामाराधनास्तिस्रो जघन्यमध्यमोत्कृष्टाविभवेन संभवन्ति । तत्र जघन्याष्टमिष्वन्मनिर्देशमनुष्ठेयपूरावस्थ भवति । अष्टमिस्तेषां भविरत्सं याति सिद्धिं प्राप्नोतीत्यर्थः । मध्यमा आराधना जन्मप्रयेण मनुष्यजन्मपूर्विका । उत्कृष्टा आराधना एकैर्नव भवेन मन्त्रेभ्यः इव भवति । एवमाराधकास्तान्याराधयन्तीति ॥ २३३ ॥

अर्थ—उन सम्यक्त्व वगैरहकी जघन्य मध्यम और उत्कृष्टके भेदसे तीन प्रकारकी आराधना होती है । और उनके आराधक वाट तीन और एक जन्ममें मोक्षको प्राप्त करते हैं ।

मावाच—उनकी आराधना तीन प्रकारकी होती है—जघन्य मध्यम और उत्कृष्ट । जघन्य आराधनाके आराधक जीव आठ भवमें मोक्षको प्राप्त करते हैं । मध्यम आराधनाके तीन भवमें मोक्ष प्राप्त करते हैं, और उत्कृष्ट आराधनाके आराधक जीव उन्हीं भवमें मोक्ष-प्राप्त करते हैं ।

तासामाराधनतत्परेण तेष्वेव भवति यतितथ्यम् ।
 यतिना तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन ॥ २३४ ॥

टीका—तासां सम्यक्त्वज्ञानचारिणसम्पत्ताम् आराधनतत्परेण तेष्वेव व्यग्रेषु । तेष्वेव सम्पत्त्वादेषु यतितथ्यं भवति । यतिना साधुना । तत्परजिनभक्त्युपग्रहसमाधिकरणेन तत्पर इति सत्त्वादिपरेण जिनभक्त्युपग्रहेण भगवतामदत्ता यथाकार्त्तं वन्दनगुणांस्तीतनपरेण उपग्रहो भगवद्विम्बनिष्ठाफल्गुनादि । भयवा साधूनामुपग्रहो नखपापमत्तपानादि समाप्युत्पादनेन च साधूनाराधयति प्रयत्नमेव कुर्वन्निति ॥ २३४ ॥

अर्थ—जो साधु उन सम्पत्त ज्ञान और चारिण्ये आराधनामें करार है । उन सम्पत्त-
 दिमें करार साधुओंके और जिनमतवान्की मर्दि, उपग्रह और समाधिक शाप उनमें ही प्रफल
 करना चाहिए ।

भाषा—जो साधु सम्पत्तज्ञान और सम्पत्त चारिण्ये आराधनामें करार है, उसे उन्हींके फल
 करते देना चाहिए । और उसका विषय उसे सम्पत्तदिमें करार किये साधुओंकी तथा जिनेश्वरकी
 कृपा शक्ति और करनी चाहिए । जिनदिक्कप्रतिष्ठा और देवता पढ़ान् फल कृतकत देना चाहिए ।
 साधुओंकी सेवा सुधरा करते देना चाहिये, तथा समाधिमें करार देना चाहिए । भाषण यह है कि
 सम्पत्त, ज्ञान तथा चारिण्ये आराधनके सम्पत्त, ज्ञान और चारिण्ये आराधनके भी हर तरहसे
 आराधना करत देना चाहिए ।

तमेव यत्नं प्रपश्यन् इत्यति—
 रिक्ताक्षे उष्ठी वानञ्च वचनं कर्ते है —

स्वगुणाम्यासरतमते परवृत्तान्तान्धमूर्खवधिरस्य ।
 मदमत्तनमोहमत्सररोपविषादेरघृप्यस्य ॥ २३५ ॥
 प्रशमाच्यानाधमुम्याभिकाणिण मुस्यितस्य सदर्म ।
 तस्य किमोपम्य स्यात् सत्त्वेमनुजेऽपि लोकेऽस्मिन् ॥ २३६ ॥

टीका—स्वगुण सम्पत्तज्ञानवत्प्राप्तयः साधुगुणास्तत्त्वभ्यास आहृत्तुष्टानं तत्र
 रता सत्त्व मतिवत्त्वाभा परगुणाभ्यासरतमन्दि । स हि परवृत्तान्ते परत्वाभावा परव्यतिरेक्यः,
 न वत्पति परदापान गुणान वा । स्वगुणत्वर मत्सररारिणु व्यप्रत्वात् । न च परदापान्
 गुणान वा उद्दृष्टानि । मूर्ख इव मद्दुःखी । न वा म्यन परगुणशानुत्प्राप्त्यमानान् वधिर इव
 दृम्भयति । मदा मत् । मदन काम । मदा दाम्पत्यार्थि । मत्सररिधित्तस्य च च्च क्वाप न
 वधि मच्छा । ना क्वात्तरावाहन्तारं वा प्रतिनिनति । मत्स्यु रत्नपनायायागारनादिर्विनिन्दु ।
 विषाद मन्त्रनादिवापमातुवच्छरणादिना भवा । पविमहादिनिर्गृह्यमाननिभूतस्य ॥ २३५ ॥

प्रथमसुखाभिकाक्षिप्त्वा अग्नाबाधमोक्षसुखकाक्षिणश्च । सद्यमे मूर्खोत्तरज्जल्पे ।
सुस्थितस्य निश्चलस्य । तस्यैवविषयस्य साम्प्रो कौनोपमानं क्रियेत । अस्मिन् लोके सदेवमानुषे ।
नास्त्येव देवेषु मानुषेषु वा प्रथमसुखतुल्यं सुखम् दूरत एव मोक्षसुखमिति ॥ २३६ ॥

अर्थ—त्रिसती मति अपने गुणोंके अन्वयमें कही हुई है, जो दूरतोंकी बातमें अन्धा, रूंगा और बहिरा है, जो गर्व कम, मोह मरुत, रोष और निपादसे अभिमूढ नहीं होता, जो प्रथम-सुख और वाया स्थित मोक्षके सुखकर इच्छुक है और अपने धर्ममें रूढ़ है, देव और मनुष्योंसे युक्त इस लोकमें उस पुण्यकी उपमा किससे दी जा सकती है ?

भाषा—जो अपने सम्पत्त ज्ञान और आदि-गुणोंके पावनमें सदा अन्धमें रहता है, दूरतोंके दोषों अथवा गुणोंके नहीं देखता, अपने ही गुणोंके आराधनमें मग्न रहता है, दूरतोंके दोषों अथवा गुणोंके नहीं कहता है, यदि दूरत कोई कहता हो तो तब कल नहीं देता, गर्व, क्रम और मोह आदिके बधमें नहीं होता, केवल प्रथम-सुख और मोक्ष-सुखकी अभिधापा करता है, और अपने धर्ममें स्थिर रहता है, ऐसे साधुकी उपमा किससे दी जाने ? इस लोकमें जो देव और मनुष्य रहते हैं, उनमेंसे कोई भी उसकी बराबरी नहीं कर सकता ।

अपि च
और भी—

स्वर्गसुखानि परोक्षान्यत्यन्तपरोक्षमेव मोक्षसुखम् ।
प्रत्यक्षं प्रथमसुखं न परवर्षां न व्ययप्राप्तम् ॥ २३७ ॥

टीका—स्वर्गो मोक्षश्च परोक्ष एव यत्सुखं तदयमपि परोक्षमागमगम्यम् । मोक्ष
सुखमत्यन्तपरोक्षमेव । अत्यन्तमिति सुतरां परोक्षम् । स्वर्गसुखस्य केनचिच्छेदोप किंचिद्विद्
उपमानं स्यात्, न तु माक्षसुखस्येति । अतोऽत्यन्तपरोक्षम् । सप्तप्रमाणस्येष्टेण प्रत्यक्षेण स्वात्म-
वर्तिना परिच्छिद्यमानं प्रथमसुखं न च पराधीन स्वायत्तमेव । नापि व्ययप्राप्तम् । स्वामीनस्वा-
देव । यतस्तत्र स्येति न विगच्छति । वैपरिक्तं तु सुखं परपद्यं विपयाधीनं विपयाभावे तु
न भवतीति ॥ २३७ ॥

अर्थ—स्वर्गके सुख परोक्ष हैं और मोक्षकर सुख तो अत्यन्त परोक्ष है । एक प्रथम-सुख
प्राप्य है । न वह पराधीन है और न विनाश्या ।

भाषा—स्वर्ग और मोक्ष—दोनों ही परोक्ष हैं कत नहीं जो सुख होता है, वह भी परोक्ष है ।
उसे केवल धारणसे जान सकते हैं । स्वर्गके सुखकर तो पोडा-बहुत व्याप्त भी हो सक्य है क्योंकि

१-जो काल दिव ही दिवमें रहता है चार प्रकर नहीं होता उसे मरुत कहते हैं । २-किसमें
भेदके लोके कल-कल हा जाती है, वाणी बन्द्य है, मरपीठ रहता है उसे रोष कहते हैं । ३-जन्मे धिनको
। किञ्चित् देवकर स्थित होनेसे विपत्त कहते हैं ।

गर्होपर मी वैयक्तिक ही सुख है किन्तु मोक्षका सुख तो व्यक्तित् परतेह है। उस सुखका तो हम ससारी जनोंको ज्ञानस्य मी नहीं हो सकत। परन्तु प्रथम सुखका अनुभव तो हम अपनी अवशामे ही कर सकते हैं। तथा वह सुख न तो परधीन है और न विनाशक है। वैयक्तिक-सुख नियमता परधीन है। क्योंकि वह नियमोक्ति प्राप्ति होनेपर होता है और नियमोंके अभावमें नहीं होता।

निर्जितमदमदनानां वाक्कायमनोविकाररहितानाम् ।

विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम् ॥ २३८ ॥

टीका—म्यपकृतगर्भकामानां स्वस्वीभूतचेतसां शान्तानां वागाविकाररहितानाम् । वागविकारो हिंस्रपक्ष्यानुदादिः । कायविकारो भावकषणनादिः । मनोविकारोऽभिज्ञोद्दामि मानेष्वादिः । परिनिवृत्तानाम् । विनिवृत्ता परविषया आशा येषां ते विनिवृत्तपराश्रः । परस्मादिहं छन्द्यं धनधाम्यरजतादि केवलं तु परकृतमिसामाधोपजीविनः । सोऽपि यदि छन्द्यते प्रवचनोक्तेन विधिना तदा साधु ज्ञानचारिप्रोपकारित्वाम् । न छन्द्यते चेत्ततः शुद्धाद्यवस्थ निर्धारयेति । परविषयानां यतीनीमिहैव मोक्षः । मोक्षसुखमुपमानमुपमेयं प्रथममुक्तमिति ॥२३८॥

वर्ष—वचन कल और मनके विकारसे छित्त गर्भ और कामके बीजनेवाले परकी आशा न करनेवाले शास्त्रमिश्रित विधिके पाठक साधुजनोंको यहाँ मोक्ष है।

भाषार्थ—निर्जिते गर्भ और कामको जीत किया है, शिक्तक विचर तत्त्व है, जो शान्त हैं वचनके विकार-कोरता अक्षयता हिंस्रकता औसच्छे, कठोरके विकार-दीडना फौदना कोरछे, और मनके विकार-अभिज्ञोद्दामिमान ईनां कनेरछे जो रचित हैं, सुखोंसे प्राप्त होनेवाले धन-वस्तु सोना चाँदी फौदकी रचना मी इच्छा न करके जो केवल मिश्रसे प्राप्त होनेवाले उपपानसे अपना जीवन निर्वाह करते हैं—वह मी यदि शास्त्रमिश्रित विधिके अनुसार शिक्ता है तो टीक है अथवा जो अज्ञानको ही परम निर्दोषका कारण मानकर उसमें ही उद्योग करते हैं, और अपने परिजनोंको दुख करते हैं, ऐसे सुधीजनोंको इसी अर्थमें मोक्ष है। अर्थात् प्रथम सुखको मोक्ष-सुखको ही तुल्य समझना चाहिए।

शब्दादिविषयपरिणाममनित्य दुःस्त्वमेव च ज्ञात्वा ।

ज्ञात्वा च रागद्वेषात्मकानि दुःस्थानि ससारे ॥ २३९ ॥

स्वशरीरेऽपि न रन्वति शत्रावपि न प्रदोषमुपयाति ।

रोगज्वरामरणभयैरव्ययितो यः स नित्यसुखी ॥ २४० ॥

टीका—शब्दादयो विषया सम्बन्धपरसंगमस्पर्शास्तेषां परिणाम इष्टानिद्यता शब्दादि विषयपरिणामाच्च पस्तुर्जं तदमित्यम् । विषयसन्निधीः भवति तदभावं च न मकर्तात्पानित्यम् ।

ये च कुक्षमेवेद वैपयिकं सुखं पामनपुरुषकण्डूविमुक्तम् । कुक्षमेवायं सुखाभिमानोऽत्य-
रसाम् । एव विद्याय ज्ञात्वा च । रागद्वेषात्मकानि रागद्वेषपरिणतिजातानि रागद्वेषानुविद्यानि
ज्ञानि संसारे करोतीदम् ॥ २३९ ॥

निबधारीकेऽपि न रम्यति रागं न करोति स्नेहमित्यर्थः । सन्नाहपि न प्रबोधं प्रवेष्टं
पेति । रोगो न्वरात्रिः । अरा वयोहानिः । प्राणलाशो मरणम् । भयमिहकोकादि सप्तप्रकारम् ।
पि सख्भार्ये । एमिश्च न व्यथितः सपतद्विरपि न बाधितः । एभ्यो न मीतो वा स
त्यमेव सुखी नित्यसुखीति ॥ २४० ॥

अर्थ—जो शब्द बादि विषयोंके परिणामको अस्विकार और कुक्षरूप जानकर तथा संसारके
बोधके राग और द्वेषके होनेवाले जानकर अपने शरीरमें भी राग नहीं करता और शत्रुके भी द्वेष
ही करता, रोग बुढ़ापा मृत्यु और भयसे अशोकित वह मनुष्य सर्वदा सुखी है ।

भावार्थ—शब्द, रूप रस गन्ध, और स्पर्श—ये पाँचों इन्द्रियोंके विषय हैं । इनमें जो इह
व्यथ अतिशय बुद्धि होती है, वही उनका परिणाम है वह परिणाम अस्विकार है क्योंकि जो विषय आज
सुखकर लगते हैं, कल बही कुक्षदापी अपने लगते हैं । इसीप्रकार उन विषयोंके सम्बन्धसे जो सुख
लेता है, वह भी अस्विकार है, विषयोंके होनेपर होता है, उनके अमानमें नहीं होता । तथा यह वैपयिक
कुक्ष वास्तवमें कुक्ष ही है । जिस प्रकार साबुदा रोगी साबुके सुनगधमें सुख मानता है, उसी प्रकार
जिस प्राणी विषय-सेवनमें सुखका अभिमान करते हैं । तथा विषयोंका अनुभव करनेसे राग और द्वेष
व्यथ उत्पन्न होते हैं । जो विषय प्रिय लगते हैं, उनसे राग होता है और जो अप्रिय लगते हैं, उनसे
द्वेष होता है । ये राग और द्वेष ही संसारके दुःखोंके मूलकारण हैं । ऐसा जानकर जो अपने शरीरसे
जो राग नहीं करता है और शत्रुके भी द्वेष नहीं करता है तथा जो रोग, बुढ़ापा, मृत्यु और भयसे
अशोकित नहीं—यदि ये उपस्थित भी हो जायें तो डेरकिस नहीं होता, वह मनुष्य सर्वदा सुखी रहता है ।

धर्मध्यानाभिरतस्त्रिदण्डविरतस्त्रिगुस्त्रिगुतात्मा ।

सुखमास्ते निर्द्वन्द्वो जितेन्द्रियपरीपहकपाय ॥ २४१ ॥

टीका—अभावपतं धर्म ध्यानमाहाविषयादि, तत्राभिरतस्तत्परस्तत्र सक्तः ।
मनोवाक्यपास्यादण्डमयादिरतः । अनागमको मनोवाक्यपास्यापारो दण्डः । तिस्रो गुणयस्ता-
भिगुतात्मा । मीमी निरवयमापी । पाण्ड (सूक्तका) योत्सग प्रवचनोक्तविधिना गामी वा
धर्मध्यायी जिस-दासरीद्राण्यवसाय सुखमान्ते निराशानमशेषक्रियानुष्ठानं कुर्वन् । निर्द्वन्द्वो
निगतसक्तोपत्रव एककी निष्कलहो वा चित्तानीन्द्रियाणि ब्रह्म स्थापितानि । परीपहट सम्यक्
सकान्ते । कृपायाणानुबयो निसद्व उचितो वा विकस्यकृतः । स एवविधः सुखमास्ते ॥ २४१ ॥

अथ—धर्मप्यानमे कर्महीन, तीन दण्डोंसे बिरुद्ध, तीन गुणोंसे सुरक्षित, इन्द्रिय परीषद् और कर्मान्तर जैसा कर्म रक्षित साधु सुखपूर्वक रहता है ।

माधार्थ्य—धर्मयुक्त ध्यानको धर्मप्यान कहते हैं जो उसमें क्या रहता है मन बचन और कर्मके आगम-निवृत्त व्यापारको दण्ड कहते हैं, जो इन दण्डोंका (पानी है) तीन गुणोंका पाकन करता है अर्थात् सर्वदा मोन भाव्य करता है, विद्वेष आक्षयकता पञ्चनेपर यदि बोलता है, तो क्षिप्त-मिष्ट बचन ही बोलता है कर्म-व्यापार नहीं करता, आगममें कड़ी गई विधिक अनुसार केवल धर्मक ही चिन्तन करता है, धर्म और वेद ध्यानमें कभी भी मनको नहीं बनाता कर्मार्थ्य प्रणयोंसे दूर रहता है, इन्द्रियोंको अपने बचने रहता है, परीषदोंको अच्छी तरहसे सहता है, कर्मान्तोंके उदरको या तो रोक देता है या उसे व्यवहार देता है ऐसा साधु सच्चे सुखको भोगता है ।

विषयसुखनिरभिलाष प्रशमगुणगणाम्यलङ्कृत साधु ।

द्योतयति यथा सर्वाण्यादित्य सर्वतेजांसि ॥ २४२ ॥

टीका—सुखादिबन्धिते विषयसुखं निर्गतामिच्छापो निर्मलेच्छः । प्रशमगुणं ये स्वाध्यायसन्तोषावपस्तेषां गन्धं समूहस्तेनालङ्कृतो विभूषितः । साधुभास्कर इव । द्योतयति अभिमनति तारकादिप्रमां स्वप्नप्रमां तिरोमाम्यं स्केतव एव प्रकाशयति सप्तार्थात्मसेषामि तेर्वास्वमिभकतीत्यर्थः । तद्वत् साधुवक्तृगुणयुक्तं सर्वतेजांसि देवमनुष्यादीनामभिभूव प्रकाशते स्वतेजसति ॥ २४२ ॥

अर्थ—विषय-सुखकी अभिलाषासे रक्षित और प्रशम गुणोंके समूहसे सुसोमित साधु स्वर्गके सम्पन्न सब देवोंको अभिमूत करके प्रकाशमान होता है ।

माधार्थ्य—सर्व आदिसे उत्पन्न होनेवाले विषय-सुखकी जिसे चाह नहीं है और स्वच्छन्देय तथा प्रशमगुणोंके समूहसे जो विभूषित है, वह साधु स्वर्गके सम्पन्न बनकर है । जिस प्रकार सूर्य अपनी प्रभासे धरती आदिषु प्रमाको अभिमूत करके अपने देवको प्रकाशित करता है, वही प्रकार उत्तर गुणोंसे युक्त साधु सभी देव और मनुष्योंको अभिमूत करके अपने गुणोंसे स्वर्ग ही प्रकाशित होता है ।

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोवलयुतोऽप्यनुपशान्तः ।

त न लभते गुणं यत् प्रशमसुखमुपाश्रितो लभते ॥ २४३ ॥

टीका—सम्यग्दृष्टानसम्पन्नं सम्भवात्सम्यग्दृष्टं । विरतितपोवलयुतोऽपि विरक्तं मूढोत्तरगुणेन युक्तोऽपि तपोवलेन च सम्पन्नः । अनुपशान्तं क्रोमादिभ्यामोदपत्नात्म्यप्रसमः । तं गुणं न लभते क्वाप्योदये वतमानः । यं गुणं प्रशमगुणमाश्रितं प्राप्नोति । प्रशमस्वखं हि प्राग्बर्षिता एव गुणाः । तस्मानुपशान्तक्यायेन भक्तिरप्यमिति ॥ २४३ ॥

अथ—सम्यग्दृष्टो, सम्यग्ज्ञानी और तब तबों तपके बच्चे युक्त होत हुए भी जो उपशान्त नहीं है, वह उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता, जिस गुणको प्रथम-सुखमें स्थित साधु प्राप्त करता है।

भाषा—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान, सम्यक्चारित्र और तपोबन्धसे सम्यक् होते हुए भी जिस साधुकी श्रोत्रादि कषाय शान्त नहीं हुई है, वह साधु, उस गुणको प्राप्त नहीं कर सकता जो गुण प्रथम, मानवाके साधुको प्राप्त रहता है। प्रथममें स्थित साधुक गुण पहले बतला जाये हैं। अतः कषायोंको शान्त करना चाहिए।

तथा शीलाङ्गानामविक्रानामेर्षविष एव निष्पादको भवतीति दशयति—

प्रथम गुणवाला साधु ही शीलके सम्यक् बर्तनोंकी साधना करता है वह मतलब है—

सम्यग्दृष्टिर्ज्ञानी विरतितपोध्यानभावनायोगे ।

शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमयत्नेन साधयति ॥ २४४ ॥

टीका—सम्यग्दर्शनसम्यग्ज्ञानसम्यक्को विरत्या मूकोत्तरगुणस्वरूपया । तपसा ध्यानज्ञानादिना । ध्यानेन च धर्मादिना । भावनाभिदधानित्यादिकाभिर्योगश्च प्रशस्तो मनो बाह्याभ्यापारोः । शीलाङ्गसहस्राष्टादशकमष्टादशशास्त्रीङ्गसहस्राणीत्यथः । अयत्नना यासेन कीदृशैव । साधयति स्वीकरोतीति ।

अर्थ—सम्यग्दृष्टी और ज्ञानी तब, तप ध्यान, भावना और योगके द्वारा शीलके अठारह हजार बर्तनोंको बिना यत्नके ही साधता है।

भाषा—जो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञानसे युक्त है वह मुख्यगुण और उत्तरगुणरूप तब, ध्यान ध्यान और धर्म ध्यान अनिष्टादि भावना, और मन, चक्षु, कर्णके प्रशस्त व्यापारक द्वारा शीलके अठारह हजार बर्तनोंको बिना किसी परिश्रमके धारण कर लेता है।

ज्ञानि पुनस्तानि अष्टादशशीलाङ्गसहस्राणीति केन चोपायेनाभिगम्यानीत्याह—
शीलके अठारह हजार बर्तनों और उनकी उत्पत्तिके उपायसे बतलाते हैं—

धर्मान्भूम्यादीन्त्रियसत्त्वाम्य करणतश्च योगाच्च ।

शीलाङ्गसहस्राणामष्टादशकस्य निष्पत्ति ॥ २४५ ॥

टीका—धर्मादिवृत्तभण्डको धर्म प्रथमपंचतप रचनीयाः । तस्या अप्यधो द्वितीयपंचतप भूम्यन्तरेषोपायुवनस्पतिदीप्तिप्रीप्तिवचतुःपञ्चेन्द्रिया अजीवकायश्च विष्यसनीयाः । तस्या अप्यधस्तृतीयपंचतप धोषप्रभुभाष्यरसनस्पदानानि ज्ञेयानि । तस्या अप्यधश्चतुर्थपंचतप आहार भयपीडप्रहमधुनसंज्ञा रचनीयाः । पञ्चमपंचतपचतस्रस्या न करोति न कारयति न फलन्तमन्यं

और कथ्य सभी बाकी हैं। अतः उनके भी छह छह हजार भेद होते हैं। इस प्रकार तीनोंके विचारकर शीकके अठारह हजार भेद बनते हैं।

शीलार्णवस्य पार गत्वा संविमसुगमपारस्य ।

धर्मप्यानमुपगतो वैराग्य प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥ २४६ ॥

टीका—शीकं मूळोत्तरगुणाः। शीलमप्यत्र इष्यं वृत्तत्वाद् अनेकवृत्तिसयनिनायादा। पार गत्वा सम्पूर्णमवाप्य। कथं पुनः केन वा पारं गम्यते? संविमसुगमपारस्येति—संविमसा ससारमारभ्य सुखनैव सकृच्छीलप्रतिपिणो मयस्ति। अथवा च सम्पूर्णशीकं धर्मप्यानं प्राप्ताः। वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यमिति। तत्कालावस्थायापामुचितं प्रकृत्यैराग्यमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

अर्थ—ससारसे मयभीत साधुमनोंके द्वारा सकृदासे पार करनेके योग्य, शीकरूपी समुद्रके परको प्राप्त करके, जो धर्मप्यानमें लक्ष्य होते हैं, उन्हें योग्य वैराग्यकी प्राप्ति होती है।

भाषा—यह शीक समुद्रके समान है। जिस प्रकार समुद्रका पार पाना कठिन होता है और उसके अन्दर अनेक बहुमूल्य रत्न भरे होते हैं, उसी प्रकार शीकके भेद—प्रवेशोक्त पार पाना भी कठिन है और उसके अन्दर भी अनेक गुण-रत्न भरे हुए हैं। जो साधुजन संसारसे मयभीत हैं, वे इस शीक-साम्राज्ये सरलतासे पार कर सकते हैं। अतः उसे पार करनेके लिए संसारभीड़ होना चाहिए। और जो उसे पार करके अर्थात् शीकके अन्दर छह हजार भेदोंको पारण करके धर्मप्यानमें अपने मनको स्थिर रखे, उसे उस अवस्थाके योग्य सकृद्य वैराग्यकी प्राप्ति होती है। यही उसका फल है।

तच्छ धर्मप्यानं चतुर्भेदमाचक्ष्णाप भाह—

धर्मप्यानके चार भेद कहते हैं—

आज्ञाविचयमपायविचय च स प्यानयोगमुपसृत्य ।

तस्माद्विपाकविचयमुपयाति सस्थानविचय च ॥ २४७ ॥

टीका—आज्ञाविचयमपायविचयं विपाकविचयं संस्थानविचयं च। स तस्य चतुर्भेदप्रकारं धर्मप्यानं शीलार्णवपारगामी। आद्यप्यानद्वयमुपाभित्य सम्प्राप्य तत्समूर्तीर्यं विपाकविचयमुपयाति। तत्समूर्तीर्यं संस्थानविचयमभ्येति ॥ २४७ ॥

अर्थ—शीक-समुद्रका पारगामी साधु आज्ञाविचय और अपायविचय नामके प्यानयोगके द्वारा करके विपाकविचय और संस्थानविचय नामके धर्मप्यानको प्राप्त करता है।

भाषा—धर्मप्यानके चार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान-

नानुमोदयति, एतद्वयं स्वाप्यम् । तस्वाप्ययः पशुपंथी मनसा वाचा कथयेनेति त्रयं विरचनी-
यम् । तत्र विकल्पानयने उच्चारणम् । समयान्वितः पूष्णीकायसमारम्भं संवृतभीमशिवद्वारा
आहारसंज्ञाप्रियुक्ते न करोति मनसा । एवं पूष्णीकायमपरिस्पृशन् इवा विकल्पान् उच्यते ।
एवमप्यक्यसमारम्भादित्यपि दशानु इवा विकल्पा उच्यन्ते । ते इस दशकाः शतम् । एतच्छत
आधेन्द्रियमनुजता उच्यते । एव चक्षुषिभिरपि शतं शतं उच्यते । ज्ञातानि पञ्च शतानि ।
एतान्याहारसंज्ञामनुजता उच्यन्ति । तथा भवमैशुनपरिग्रहसंज्ञादिभिरपि प्रत्येक पञ्च पञ्च
शतानि उच्यन्ते । शतं सहस्रद्वयम् । एतत् सहस्रद्वयं न करोमीत्यनुजता उच्यते । एवमित
यम्बामपि द्वे द्वे सहस्रे उच्ये । ततश्च पट् सहस्राणि ज्ञातानि । एतानि च मनसा उच्यन्ति ।
वाचापि पट् सहस्राणि । कथयेनापि पट्वेव सहस्राणीति । एवमेवा स्त्रीशास्त्रानां स्त्रीशकारणा-
नामष्टादशसहस्राणि निष्पाद्यन्ते ॥ २४५ ॥

अर्थ—धर्म, पूष्णीकाय वगैरह इन्द्रियो संज्ञा, कृत, करित, अनुमोदना, और मन, वचन कल्पके
वेकडे स्त्रीके अठरा हजार अङ्गोंकी उत्पत्ति होती है ।

मात्कार्य—पहली पंक्तिमें क्षमा आदि इस वर्गके रचना आदि। उसके नीचे दूसरी पंक्तिमें पूष्णी,
वच, अग्नि, वायु, मनस्पति, रोहिण्य, ऐश्वर्य, चोहिन्य पंचेन्द्रिय और अजीवकल्पके रचना आदि।
उसके नीचे तीसरी पंक्तिमें श्रोत्र चक्षु, रसना और स्पर्शन इन्द्रियोंके रचना आदि। उसके नीचे
चौथी पंक्तिमें आहार, मय, मैशुन और परिग्रहसंज्ञाके रचना आदि। उसके नीचे पाँचवीं पंक्तिमें
न करता है', न करता है और न दूसरोंके करवा हुआ देखकर उसकी अनुमोदना करता है'—
इन तीनोंकी स्थापना करनी आदि। उसके नीचे छठी पंक्तिमें मन वचन और कल्पके रचना आदि।
इनके सिवाकर मेदोंका उच्चारण इस प्रकार करना आदि—क्षमा धर्मसे कुछ पूष्णीकायके आरंभके
श्रोत्रेन्द्रियके द्वारके बन्द करने, आहारसंज्ञासे रहित, मनसे नहीं करवा है, इस प्रकार पूष्णीकाय और
उसके नीचेके सब विकल्पोंके दसों वर्गोंके साथ क्रमात्से दस मेद होते हैं। इसी प्रकार
अकल्पय, अशिक्षय वगैरह दूसरी पंक्तिके दसों विकल्पोंके दस दस मेद जान देने आदि। सब सिवाकर
छे मेद हुए।

इन सो मेदोंमें श्रोत्रेन्द्रिय सम्मिलित है। क्योंकि कल्पके बरबसे छेमेपर भी नीचेके सब
विकल्प प्रत्येकके साथ स्योंके लो रहते हैं। अतः श्रोत्रेन्द्रियके स्थापने चक्षुन्द्रियके रचनासे उसके भी
इसी प्रकार छे मेद होते हैं। इसी प्रकार शेष इन्द्रियोंके भी जानने आदि। इस प्रकार पाँचों इन्द्रियोंके
पाँचसो मेद होते हैं। इन पाँचसो मेदोंमेंसे प्रत्येकके साथ आहारसंज्ञा कनी हुई है; क्योंकि धर्म, कल्प
और इन्द्रियोंके परिपूर्ण होनेपर भी अभी संज्ञा आदिक परिपूर्ण नहीं हुआ है। अतः आहारसंज्ञा
ही तरह मय, मैशुन और परिग्रहसंज्ञाके भी पाँचसो पाँचसो मेद हुए। सब सिवाकर दो हजार
मेद हुए। इन दो हजार मेदोंमें प्रत्येकके साथ नहीं करवा है विकल्प कया हुआ है; क्योंकि अभी
संज्ञासे नीचेके विकल्पोंमें परिपूर्ण नहीं हुआ। अतः शेष दो विकल्पोंके भी दो दो हजार मेद होते हैं।
तीनोंके सिवाकर छह हजार मेद होते हैं, इन छह हजार मेदोंमेंसे प्रत्येकके साथ मन सम्मिलित है, वचन

और काय धमी जाती हैं। अतः उनके भी छह छह हजार भेद होते हैं। इस प्रकार तीनोंके मिलकर शीघ्रके अठारह हजार भेद बनते हैं।

शीलार्णवस्य पार गत्वा संविमसुगमपारस्य ।

धर्मध्यानमुपगतो वैराग्य प्राप्नुयाद्योग्यम् ॥ २४६ ॥

टीका—शील मूलोत्तरगुणः। शीलमर्षं च इव दुरुत्तरत्वाद् भवेत्काविशयमिनाभावात्। पारं गत्वा सम्पूर्णमभाष्य। कथं पुन केन वा पारं गम्यते? संविमसुगमपारस्येति—संविमः संसारमारणं सुखेनैव सकृच्छीलप्रापिणो' भवन्ति। शब्दात् च सम्पूर्णशीलं धर्मध्यानं प्राप्तम्। वैराग्यं प्राप्नुयाद्योग्यमिति। सत्काशावस्थापामुचितं प्रकृत्यैराग्यमित्यर्थः ॥ २४६ ॥

मर्ष—संसारसे भयभीत साधुजनोके द्वारा संकल्पसे पार करनेके योग्य शीलरूपी समुद्रके पारको प्राप्त करके जो धर्मध्यानमें उत्तर होते हैं, उन्हें योग्य वैराग्यही प्राप्ति होती है।

भाषाया—यह शील समुद्रके समान है। जिस प्रकार समुद्रका पार पाना कठिन होता है और उसके अंदर बनेक बहुतसए लन मरे होते हैं, उसी प्रकार शीघ्रके भेद—प्रवेशोका पार पाना भी कठिन है और उसके अंदर भी बनेक गुण-लन मरे हुए हैं। जो साधुजन संसारसे भयभीत हैं, व उस शील-सागरको संकल्पसे पार कर सकते हैं। अतः उसे पार करनेके लिए संसारभीक होना चाहिए। और जो उसे पार करके अर्थात् शीघ्रके अठारह हजार भेदोंको प्राप्त करके धर्मध्यानमें अपने मनको लगाए है उसे उस अवस्थाके योग्य सकृद्य वैराग्यही प्राप्ति होती है। यही उसका फल है।

तद्वच धर्मध्यानं जतुर्भेदमाचक्षाय माह—

धर्मध्यानके बार भेद कहते हैं—

आज्ञाविचयमपायविचय च स ध्यानयोगमुपसृत्य ।

तस्माद्विपाकविचयमुपयाति सस्थानविचय च ॥ २४७ ॥

टीका—आज्ञाविचयमपायविचयं विपाकविचयं सस्थानविचयं च। स खलु जतुः प्रकारं धर्मध्यानं शीलानुपारगामी। आध्यात्मिकध्यानमुपाश्रित्य सम्प्राप्य तदस्मृतीर्यं विपाकविचयमुपयाति। ततस्तुरीयं संस्थानविचयमभ्येति ॥ २४७ ॥

मय—शील-समुद्रका पारगान्ते साधु जाह्नविचय और अपायविचय नामके ध्यानयोगको प्राप्त करके विपाकविचय और संस्थानविचय नामके धर्मध्यानको प्राप्त करता है।

भाषाया—धर्मध्यानके बार भेद हैं—आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थान-

विषय । जो शेष-समुद्रक पारको प्राप्त कर ज्ञात है वह इन चारों स्थानोंमेंसे पहलू बार दूसरे ध्यानको प्राप्त करके तब तीसरे और चौथे धर्मस्थानको प्राप्त करता है ।

तथाज्ञाविद्यायापयविषययो स्वरूपनिरूपणमायाह—

आसवचनं प्रवचनं चान्नाविचयस्तदर्थनिर्णयनम् ।

आसवविक्रयागौरवपरीपहाद्येष्वपायस्तु ॥ २४८ ॥

टीका—आसः क्षीणाद्येवरागद्वेषमोहस्तस्य वचनं प्रवचनमस्तीकादिशंकादिरहितं द्वादशाङ्गभागम् । तस्याः सन्नाज्ञापः सर्वज्ञज्ञाया विषयो गणेषु गुणवस्तेन निर्दोषत्वेन च । तस्यार्थप्रवचनस्य निवचनं विनिश्चयः । सवाक्यप्रकारनिरोधैकरसत्वाद्गुणमुक्तम् । न कश्चिद्दोषोऽस्तीति । आज्ञाविषयोऽन्यासाः सुमार्थनिवचः । आसकः कायवाग्मनासि । विक्रयाः स्त्रीमत्तपौरुषजनपदविषयाः । गौरवमुद्रिसातरसाद्यं मिषा । परीपहाः मुत्पिपासादकः । माद्रिप्रहयाद्गुणित्वमसमितित्वं च । एतेषु वर्तमानस्तद् अन्तोरपायवस्तुत्वं नारकतिर्भक्तवैश्व-मानुषजन्मसु प्रायेण प्रत्यवायाः संभवन्ति भूयांस इति पश्चाद्देन निरूपितमपायविषयम् ॥२४८॥

अर्थ—आसके वचनको प्रवचन कहते हैं । उसके अर्थका निरूपण करना, आज्ञाविषय नामका धर्मस्थान है । और वाक्य विक्रया, गौरव, परीपहा गौरवमें अनर्थका विस्तार करना अपायविषय नामका धर्मस्थान है ।

भाषा—जिसके समस्त राग द्वेष और मोह क्षीण होगये हैं, उसे आस कहते हैं और उसके वचनको प्रवचन कहते हैं, अर्थात् अत्यन्त और शुद्ध आदि दोषोंसे रहित द्वादशांग भागयको प्रवचन कहते हैं । उसके अर्थका निरूपण आज्ञाविषय नामका धर्मस्थान है । जबवा प्रवचनके रूपमें सर्वज्ञदेवने जो आज्ञा दी है, उसकी गुणव्यक्ति और निर्दोषताका विचार करना आज्ञाविषय है । साधुज पद है कि द्वादशांग वाणीके अर्थके अन्यास करनको आज्ञाविषय कहते हैं ।

मन वचन और कल्पक म्यापनको आसव कहते हैं । जो मोक्षक चोर और देसकी बर्तें करना विकाश है । ऐश्वर्य दुःख और रसको गौरव कहते हैं । मज-म्यास आदिकी वाधाको परीपहा कहते हैं । अग्नि परसे गुप्ति और समिक्षिक अभाव जेना आदि । जो जीव हममें पकटा है । उसे अनेक कष्ट उठाने पकते हैं । नरक, क्षिरज वस्तुध और देवनामिमें उसे प्राप्त करके बहुत दुःख भोगना पकता है । इस प्रकार आसव आदिकी बुद्धियोंका विस्तार करना—अपायविषयधर्मस्थान है ।

तृतीयचतुषभेदयोर्निरूपणमायाह—

तीसरे और चौथे भेदका स्वरूप कहते हैं—

अंशुभशुभकर्मपाकानुचिन्तनायां विपाकविचय स्यात् ।

द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमन सस्थानविचयस्तु ॥ २४९ ॥

टीका—अशुभं शुभं च कर्म द्वयोःकोऽयो (द्वयो) वतते तस्य पाको विपाकोऽनुभवो रस इत्यथा । तस्यानुचिन्तन प्रयोजनमशुभमां कमाशानामप्य विपाकः शुभानां चायमिति । संसारमाणां अनिष्टानां तद्वन्वेषयं विपाकविचय । द्रव्यक्षेत्राकृत्यनुगमनान् भवो द्रव्यमपचमश्च तौ श्लेषपरिणामौ तयोः सस्थानं लोकाकाशाख्यं । तत्राचोमुत्समन्त्रक । इत्याशासुक्तम् । पुत्रद्रव्यमनेकाकारमपि सप्तमहास्करमप्यथ सवल्लोकाकार । बीजोऽप्यनेकाकारः शरीराविभेदेन पाकलोकाकारः समुदातफले । फलोऽपि यदा क्रियामात्रं द्रव्यपयायस्तदा द्रव्यकार एव । यदा तु स्वतन्त्रं कालद्रव्य तदैकसमपाऽचतृतीयद्वीपसमुद्राकृतिरित्येकसस्थानविचय ॥ २४९ ॥

अर्थ—अशुभ और शुभ कर्मोंके रसका विचार करना—विपाकविचय नामके धर्मप्यानका अर्थ है । और द्रव्य तथा क्षेत्रके आकारका चिन्तन करना सस्थानविचय नामका धर्मप्यान है ।

मातार्थ—कर्म दो प्रकारक हैं—एक शुभ और दूसरा अशुभ । दोनों ही प्रकारक कर्मोंके अनुभवका विचार करना कि अशुभ कर्मोंका यह फल होता है और शुभ कर्मोंका यह फल होता है, इसे विपाकविचय कहते हैं । बीज, पुत्रक, धर्म, अपर्ण, आकाश और काल ये छह द्रव्य हैं । ऊर्ध्वलोक, मध्यलोक और अधोलोक—ये तीन क्षेत्र हैं । इनके आकारका चिन्तन करना सस्थानविचय है । जैसे धर्म और अपर्ण द्रव्य लोकके अन्तर्गत हैं । उनका संस्थान लोककारके ही समान है । लोककार आकार यहछे अठका आय हैं । पुत्रद्रव्यके अनेक आकार हैं । अचेतन महास्कर सम्पूर्ण लोकके आकार है । बीज भी शरीर आदिके अन्तर्गत अनेक आकारवाला है । केवल ही समुद्रातके समय यह लोकके आकार हो जाता है । कालद्रव्य भी जब द्रव्यकी पर्यायरूपसे किया जाता है तो द्रव्यके ही आकार होता है और जब स्वतन्त्र द्रव्यरूपसे किया जाता है तो अर्थात् द्वीप और दो समुद्रवर्ती एक समयरूप है । इस प्रकारका विचार सस्थानविचय है ।

सम्प्रति पारम्पर्येण धर्मप्यामस्य विधिः फलदधानायाद्—

अथ परम्परासे धर्मप्यानका विधि फल कतकात है—

जिनवरवचनगुणगण स चिन्तयतो वधाद्यपायाश्च ।

कर्मविपाकान् विविधान् सस्थानविधीननेकांश्च ॥ २५० ॥

टीका—जिनानां वरास्तीयकरास्तेषां वचन तस्य गुणा अहिसकृत्वाद्यस्तेषां गण समुहस्तम् । सचिन्तयताः सम्यगात्रोचयतः भाषागुणान् । वधाद्यपायाश्च द्वितीयमेतरे तु चिन्तयतो वचनन्मनाभियोगासमाधिप्रभृतीन् । तृतीयभेदेनच कर्मणो विपाकान् विविधान् शुभानशुभान् च । अतएवमेवे सस्थानविधीन् संस्थानप्रकारान् बहूमिति ॥ २५० ॥

१-नक्षत्रान् सम्पूर्णं शरिका-ब० पुस्तके केवलं स्पष्टीकरणात्पठ्यते । २-द्रव्यक्षेत्रानुगमने फ ।

३- गुणा इत्यत्रापि तेषाम् इति पर्यंत- पाठो नमिद-फ च पुस्तकयोः ।

किं भवतीत्याह—

नित्योद्विग्नस्यैव क्षमाप्रधानस्य निरभिमानस्य ।

धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य जितसर्वतृष्णस्य ॥ २५१ ॥

टीका—नित्यमित्यहर्निशासुद्धिमो मीठाः सप्तादात् । एवमुक्तेन प्रकाशेन । क्षमाप्रधानस्य क्षमामुल्लासनात्मस्य तत्रप्रधानत्वम् । निर्गताभिमानस्य गर्भरहितस्येति । धुतमायाकलिमलनिर्मलस्य धुता विशिष्टो मयि च कलिमलकल्पनं पाप तच्छुषयतः जितस्य (सर्व) लोभकृपा यस्य ॥ २५१ ॥

तुल्यारण्यकुलाकुलविविक्तवन्धुजनशत्रुवर्गस्य ।

समवासीचन्दनकल्पनप्रदेहादिदेहस्य ॥ २५२ ॥

टीका—तुल्यारण्यं कुलाकुलं च जनपदं सहस्रं स्वस्वमहापम्पगतत्वात् । बाह्यारण्यं तादृग् भवताकुलमपि । विविक्तवन्धुजनशत्रुवर्गस्य बन्धुजनः स्वजनलोकाः शत्रुवर्गो रिपुसमूहस्ती विविक्तै यस्य वृषभमूतात्मनाः सक्तासात् । यथा बन्धुवर्गस्तथा शत्रुवर्गः, मत्तोम्य एव बन्धुवर्गः शत्रुवर्गश्च विविक्तः, तत्र तुल्यारण्यं तद्वत् । यथा स्वजनवर्गस्तथा शत्रुवर्गोऽपीति । तथा समस्तु-
न्योऽप्यो वात्स्या तस्म्योति यथा चन्दनादिभोपछिम्पति । कल्पनं तस्मजम् प्रदेह उपदेपनं चन्दना-
धिभिः । तथा समवासी चन्दनकल्पनप्रदेहो (हारिर्वस्यैर्बन्धिवादेहो) यस्य स एवमुक्तः ॥ २५२ ॥

आत्मारामस्य सत समतृणमणिमुक्तलोष्ठकनकस्य ।

स्वाध्यायध्यानपरायणस्य दृढमप्रमत्तस्य ॥ २५३ ॥

टीका—आत्माराम्येवारमति प्रीतिं करोति स्वकार्यं एव ध्यायिष्यते, न बद्धिं प्रीतिं
कृष्याति । सतं तुल्यं तुल्यं इमांदि मजयश्च पथरागादयः लोष्ठं काञ्चन च मुक्तं येन नामिच्छवितम्-
यथा लोष्ठं सुस्तिग्धो नामिच्छयते एवं कनकमपि । एतदुक्तं भवति—न सुस्तिग्धस्तुप्यास्वयं
तथा कनकमपि यस्य स मुक्तलोष्ठकाञ्चन । मुक्तं परित्यक्तम् । स्वाध्यायो वाचगादिपञ्चप्रकारः ।
ध्यानं धर्मावित्यपरायणस्तद्व्यवस्तुपरायणः । दृढं बाढं दृढम् । अममत्तस्य सक्कप्रमादपारि-
हारिकः ॥ २५३ ॥

अप्यवसायविशुद्धेः प्रमत्तयोगैर्विशुद्धयमानस्य ।

चारिप्रशुद्धिमग्न्यामवाप्य लेश्याविशुद्धिं च ॥ २५४ ॥

टीका—मन्व्यवसायविशुद्धिनापरिणामस्य निमज्जता । तस्याश्चाध्यवसायविशुद्धेर्हेतुम्
 वाच्यः । प्रमत्तयोगीविशुद्धयमानस्य प्रमत्तस्य ये न्यायारा मनोवाक्यायविपयास्तैर्विषोषनशी-
 लस्य विशुद्धयमानस्येति । ततश्चातिप्रशुद्धिमप्रथां प्रथानभूतामवाप्य ज्ञेयविशुद्धिं च तैवसी-
 पयशुक्लकेश्यानामम्यतमज्ञेयया प्रकृष्टां विशुद्धिं समाप्नोति ॥ २५४ ॥

पताः सवा पूषकाळा संप्रत्युत्तरक्रियानिर्वेसायमाह—

तस्यापूर्वं करणमथ घातिकर्मक्षयैकदेशोत्थम् ।
 शुद्धिप्रवेकविभववदुपजात जातमद्रस्य ॥ २५५ ॥

टीका—पदेतदुक्तमेतदन्तेऽपूषकरणमुपजातमप्राप्तपूष घातिकर्माणि ज्ञानावरणहरणाना
 रणमोहनीयान्तरायाभ्यानि तेषामेकत्रेयसंशया । कस्यापि च सवक्षयः । तस्मान्मुद्रतमाविभूतम् ।
 मुद्धिप्रवेकाः मुद्धिप्रकारान्तेषां विभक्तः प्राणुय ते यत्र विद्यन्ते तत्र शुद्धिप्रवेकविभववत । मद्रं क-
 स्याथं मुद्धिप्रकारास्तस्यामवस्थायामुपजायन्ते वियद्गमनवैक्रियाणिमादिकाः । जात मद्रं कस्या-
 प्यमन्येति । तस्य जातमद्रस्य ॥ २५५ ॥

अथ—विनेन्द्र मन्वान्के वचनमें जो गुण हैं उनके समूहका हिंसा वादि अनर्थका,
 कर्मोंके विपाकका और अनेक प्रकारकी आहृष्टियोंका विचार करनेवाला संसारसे सर्वदा मयमीत,
 सनासीक गर्भरहित, मायारूपी कश्चिमात्रो भो जन्मसे निम्न सब तृष्णाओंके जेता बन और नगरमें,
 मित्रकर्म और शत्रुवर्गमें समबुद्धि, शरीरको बसूछेसे नीतेमें और चन्दनसे छिन्न करनेमें समान, अपनी
 भावामें ही रमते हुए, नृप और मणिको समान समझनेवाले छोड़के तरह सुवर्णके मी त्यागी, स्वाध्याय
 और ध्यानमें तत्पर प्रयादसे विष्णुका निश्चित परिणामोंके विपुत्र होनेके कारण योगोंसे विपुत्र, प्रथान
 चारित्रकी विद्वद्धि और ज्ञेय-विशुद्धिको प्राप्त करवानामुर्ते, साधुके पातिकर्मके क्षयके एकदेशसे उत्पन्न
 होनेवाला और अनेक ऋद्धियोंके वैभवसे युक्त अद्वैतकरण नामका आठवाँ गुणस्वान प्राप्त होता है ।

मावाचः—जो धर्मध्यानके पहले मदमें तीर्थकारोंके वचनरूप अज्ञानमें बाँहिसा औरह जो
 कलक गुण हैं उनका विन्तन करता है, दूसरे मदमें हिंसा असमाधि वादि जो पाप हैं—उनका विचार
 करता है, तीसरे मदमें कर्मोंके सुमासुम फलका विचार करता है और चतुर्थ मदमें हर्षोंके और श्रेयके
 शोक अनेक आकर्षकोंका विचार करता है, तथा इन धर्मध्यानको करके जो उत्तम-दिन संसारसे उरता हैं
 उरता है, दस धर्मोंके मूल धर्मावमका पावन करता है, गर्भसे रहित है, जिसका मायाभाररूपी कश्चिमात्रो
 भो बाधा है जिसे जोम छू मी नहीं गया है, जो बन और नगरमें, शत्रु और मित्रमें, चन्दनके केन
 और बसूकाके प्रहारोंमें वृष और मणिमें तथा देव और सोनेमें समान मान रखता है । अर्थात् जिसके
 मिय देसा ही बन है वेसा ही नगर है, जो शत्रु और मित्र—दोनोंको ही अपनेसे निम्न जानकर समान
 भावसे देखता है, उसके शरीरको जो बसूछेसे नीता है तथा जो उत्तर चन्दनका केप करता है, उन

दोनों ही जो समभाव रहता है, जिसकी छट्टमें वासक दिनके और बहुमूल्य मणि समान हैं, जो सिद्धिक हेतुके लिये सोनेकी भी इच्छा नहीं करता जो अपनी आत्मामें ही छिपी रहता है—यद्यपि यद्यपि सिद्धिक कोई सम्पन्न नहीं है, स्वाम्याय और ध्यानमें लक्ष्य रहता है, समस्त प्रमादोंको प्राप्तमें नहीं फटकने दत्ता परिणामोंके निर्मूल होनेके कारण जिसके मन बचन और कल्पका व्यापार उत्तरोत्तर विस्तृत होता जाता है, जिसका चरित्र विस्तृत है कदा विस्तृत है वह कदापानमूर्ति साधु अपूर्णकरण नामक आठमें गुणस्वामको प्राप्त करता है । इस गुणस्वाममें अपूर्ण अर्थात् जो कमी प्राप्त नहीं हुए—एक कर्म अर्थात् परिणाम होता है, इसलिये इसे अपूर्णकर्म कहते हैं । यह अपूर्णकर्म वास्तविकोंके एकत्रेष्टके अर्थ होनेपर प्राप्त होता है । इसके प्राप्त होनेसे अनेक ऋषियोंकी प्राप्ति होती है । सारांश यह है कि—धर्मप्यानोंको करनेसे साधुको अनेक गुणोंकी प्राप्ति होनेके साथ ही साथ उन गुणोंकी प्राप्ति होती है, जो गुण उसे अपूर्णकर्म नामक आठमें गुणस्वामको प्राप्त करानेमें समर्थ होते हैं ॥ २५०-२५१ २५२ २५३ २५४ २५५ ॥

सातद्विंशसेष्वगुरु सम्प्राप्य विभूतिमसुलभामन्यै ।

सक्त प्रशमरतिसुखे न भजति तस्यां मुनि सगम् ॥ २५६ ॥

टीका—सात ऋषीं रसे च अगुरुकृतात्तरः । सम्प्राप्य विभूतिमाश्चसगमनादिक्रान् । अर्थिरसुलभामप्राप्तम् । तादृक्चारिणिसत्तरोऽमिरतःप्रशमरतिसुखे । न भजति न करोति । तस्यां विभूती मुनिः संगं स्नेहं नापबीवति उन्नीटित्यक्तः ॥ २५६ ॥

अर्थ—सात ऋषि और रसेमें आकर न रहनेवाला मुनि दूसरोंको प्राप्त न हो सकनेवाली ऋषियोंके प्राप्त करनेके वैराग्यके प्रेम्से उत्पन्न होनेवाले सुखमें जासक्त होता हुआ उस ऋषिसे मन्त्र नहीं करता है ।

माहाय—धर्मप्यायक करनेसे मुनिके अनेक ऋषियोंकी प्राप्ति होती है । किन्तु यह मुनि साधारण-सुख ऋषि और रसेलियेके विषयमें व्यथित न रहता और एत दिव वैराग्यव्रत सुखमें ही निमग्न रहता है । अतः उन सुख ऋषियोंको पाकर भी उसे उनसे अलग भी मोह नहीं होता है ।

सर्वदुष्यतिष्ठापिनां पतीनामुद्धिभवति परमातिशयप्राप्तसाधिविति दस्ययति—

मुनिबोको जो ऋषियों प्राप्त होती हैं वह सब ऋषियोंसे उक्त्य होती हैं, यह कलकठे हैं—

या सर्वसुरवरद्विर्विस्मयनीयापि सानगारदं ।

नार्धति सहस्रभाग कोटि शतसहस्रगुणितामपि ॥ २५७ ॥

टीका—सबसुराणां ये वरा कस्यापिपतय इन्द्राः सस्यदयः कस्यातीताश्च । तेपामुद्धि-विभूतिया ता विस्मयकारिणी भवति प्राणिनाम् । भूतो विस्मयनीयापि मती सा विभूति-नगारदं सापुत्रनससुखनापति सहस्रभागम् । कोटिसहस्रगुणितापि सा सुखवरदं कोटिसहस्रगुणितापि नापति । सहस्रभागान्यनगारदं तुस्वतामतीत्वन् ॥ २५७ ॥

अर्थ—समस्त देवताओंमें प्रधान इन्द्र कादिकी जो शक्ति होती है वह आश्चर्यकारी होती है। किन्तु यदि उस आश्चर्यकारीकी शक्तिको एक झल कोटिसे गुणा किया जावे तो भी वह शक्ति मुनिको प्राप्त हुई शक्तिके एक हजारवें भागके बराबर भी नहीं होती।

माशार्थ—संसारके प्राणिपक्षी इष्टिमें देवोंके अधिपति इन्द्रों तथा पृथ्वीतल महामिनोंकी विमूर्ति बड़ी आश्चर्यकारीणी होती है।—उसे समझत उन्हें आश्चर्य होता है। परन्तु मुनिजनोंको जो शक्तियाँ प्राप्त होती हैं उनके सामने वे शक्तियाँ एकदम तुच्छ हैं।

तज्वयमवाप्य जितविघ्नरिपुमवशतसहस्रदुष्प्रापम् ।

चारित्रमथाख्यात सम्प्राप्तस्तीर्यकृतुल्यम् ॥ २५८ ॥

टीका—तस्या तज्वयमवस्तमवाप्य । तज्वय विभूतेरनुपर्वाकनम् । उपधानामपि सम्प्रीनां सामर्थो न परिभोगान् विदधते । जिता निराकृता विघ्नप्रधाना रिपवः कृपायाः क्रोधान्प्रयो मवशतसहस्रीबन्धनक्षामिरपि दुष्प्रापं दुर्लभं चारित्रमथौरव्यात यथाख्यातमथारम्यातं सम्प्राप्तस्तीर्यकृतुल्यम्, यथा तीयकरस्तत्स्पर्शं तथाऽसावपि मस्तीति विशिष्टेनोपमा क्रियते ॥ २५८ ॥

अर्थ—जिस करेबाण्डे क्रोधादि कर्मापेक्ष जेता मुनि, उन शक्तिपौर विजय प्राप्त करके काशों मर्गेमें भी दुर्लभ यथाख्यातचारित्रको तीयकरके समान प्राप्त करता है।

माशार्थ—शक्तिपौरके प्राप्त होनेपर भी साधुजन उनका उपयोग नहीं करते हैं। अतः शक्तिपौरके उपयोग न करना ही उनपर विजय प्राप्त करना है। तथा यथाख्यातचारित्रकी प्राप्तिमें क्रोधादि कर्माप्य बाधक है। जो साधु उन कर्मापेक्षोंको जीतकर प्राप्त हुई शक्तिपौर भी विजय प्राप्त करता है, उसे तीयकरोंके समान चारित्रकी प्राप्ति होती है। अर्थात् जिस प्रकार तीर्थकर यथाख्यातचारित्रको प्राप्त करते हैं, वसी प्रकार वह भी यथाख्यातचारित्रको प्राप्त करता है। यह यथाख्यातचारित्र काशों मर्गेमें भी दुर्लभ है। इसके बिना तीर्थकरोंके भी मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसीसे उसका महत्त्व मतदानके किए तीर्थकरकी उपमा ही है।

शुक्लघ्यानाद्यद्वयमवाप्य कर्माटकप्रणेतारम् ।

ससारमूलवीजं मूलादुन्मूलयति मोहम् ॥ २५९ ॥

१- मोहनीयस्व निक्षेपस्त्रोरतवात् उवाच आरवस्तम्यवस्वस्वैषाकवर्षे यथासधतचारित्रमित्या कथयसे । पूवचारिवाजुप्रतिभिराकवर्षे न लयातं प्राश्नोत्तवोरुयमाग्यामिःनवाकवात् ॥ अथ समस्तवान्तराचर दिवाधिरपधेयोरुत्तवोरुयमाग्यामिःनवस्तीर्यवैः । तथाऽऽज्याप्रमिति वा यथास्यरहमागेऽपरिकृतस्यैवाकवत्त मम् । इति ब्रह्म परिब्रमती उवाच । ततो यथाकवातचारिवात् उच्छ्रम्यंउपरितुमाधिर्यैरतीति कथयते ।”

टीका—मुमुक्षुस्थानस्याद्यद्यप्यप्य पूषकत्ववितकसविचारमेकत्ववितकमविचारं च । किं करोति ? मोहमुन्मूलयति । कीदृशं मोहम् ? क्रमाद्यक्रम्य प्रणेतारं नायकम् । संसारतरोमूलमाद्य प्रथमं बीजम् । समूहकार्यं कृत्स्नमुन्मूलयतीति ॥ २५९ ॥

अर्थ—आदिक हो मुमुक्षुस्थानको प्र प्त करके आठों कर्मोंके नायक, संसारके कारण मोहनीय कर्मको जड़से उखाड़ फेंकता है ।

भाषा—आठों कर्मोंमें मोहनीयकर्म ही प्रधान है । यही संसारकी शृङ्खला बीज है । मुक्ति पूषकत्ववितकसविचार और एकत्ववितकसविचार नायक मुमुक्षुस्थानके बलसे उस मोहनीयकर्मको जड़से नष्ट कर डालता है ।

अथ केन प्रकारेण मोहोन्मूलनमित्याह—

मोहनीयकर्मके उन्मूलन करनकी प्रक्रिया बतलाते हैं—

पूर्वं करोत्यनन्तानुबन्धिनाम्नां क्षयं कपायाणाम् ।

मिथ्यात्वमोहगहन क्षययति सम्यक्त्वमिथ्यात्वम् ॥ २६० ॥

टीका—अनन्तानुबन्धिनाः क्लृप्तमात्रमापातोभास्तान् प्रथमं क्षययति । कीदृशं तत् ? मोहगहन मोहो गहनो धनो यस्मिन् मिथ्यात्वे तन्मोहगहनम् । ततः सम्यग्मिथ्यात्वं क्षययति ॥ २६ ॥

अर्थ—सबसे पहले अनन्तानुबन्धी श्लेष मात्रा यावा और जोय नामकी कपाओंका क्षय करता है । उसके बाद मयकर मिथ्यात्व मोहका क्षय करता है और इसके पश्चात् सम्यक्त्वमिथ्यात्वका क्षय करता है ।

भाषा—मोहनीयकर्मके दो मूल भेद हैं—दर्शनमोहनीय और आदिप्रमोहनीय । दर्शनमोहनीयकर्म तीन भेद हैं और आदिप्रमोहनीयके पञ्चीस । इनमेंसे दर्शनमोहनीयकर्म प्रबल है और इसके तीन भेदोंमें भी मिथ्यात्वकर्म बलवान है । उसके खदेसे ही मोहनीयकर्म प्रबल रहता है । मोहनीयकर्मके इन खड्डाईस भेदोंमेंसे सबसे पहले अनन्तानुबन्धी कपाओंका नाश करता है । उसके बाद क्रमशः मिथ्यात्व और सम्यग्मिथ्यात्वका नाश करता है ।

सम्यक्त्वमोहनीय क्षययत्यष्टावत कपायांश्च ।

क्षययति ततो नपुसकवेद स्त्रीवेदमथ तस्मात् ॥ २६१ ॥

टीका—ततः सम्यक्त्वं क्षययति । ततोऽप्रत्याकृष्यान्वृत्तुं प्रत्याकृष्यामाहरणरूपाय चतुर्धं च क्षययति । ततो नपुंसकवेदम् । पश्चान् स्त्रीवेदं पुंस्य क्षयकर्मणिमारोहम् । यदा स्त्री समारोहति तदा स्त्रीवेदं पश्चान् क्षययति । अथ नपुंसक आरोहाते ततो नपुंसकवेदं पश्चान् क्षययति ॥ २६१ ॥

अथ—उसके बाद सम्पत्कक्ष क्षयण करता है। उसके बाद बाठ कपायोका क्षयण करता है। उसके बाद नपुंसक वरकक्ष नाश करता है। उसके बाद खीरेका नाश करता है।

भाषाय—मिथ्यात्व और सम्पत्कक्षनाश क्षयण करनेके पश्चात् क्रमशः सम्पत्कक्ष अग्रवा-
क्याम क्रोध मान माया क्रोध प्रत्याख्याम क्रोध, मान, माया, क्रोध नपुंसक वर और खीरेद भी क्षयण
करता है। इतना विषय है कि यदि खीरेदी क्षयणकी वदता है तो खीरेकक्ष क्षयण बादमें करना है
और यदि नपुंसकवेदी क्षयणकी वदता है तो नपुंसकवेदकक्ष क्षयण बादमें करता है। अर्थात् पुरुषवेदी
क्रमस नपुंसकवेद खीरेद और पुरुषवेदकक्ष क्षयण करता है। खीरेदी क्रमस नपुंसकवेद पुषेद और
खीरेदकक्ष क्षयण करता है तथा नपुंसकवेदी क्रमसे खीरेद पुषेद और नपुंसकवेदकक्ष क्षयण करता है।

हास्यादि तथा पदक क्षययति तस्माच्च पुरुषवेदमपि ।

सज्वलनानपि हत्वा प्राप्नोत्यथ वीतरागत्वम् ॥ २६२ ॥

टीका—हास्य रतिरतिभयं शोको जुगुप्सा चति पदकम् । तत्र पुरुषवेद क्षययति ।
सम्पत्कक्षनापि क्षययित्वा वीतरागत्वमप्राप्नोति । उन्मूलितऽष्टाविंशतविधे मोहे वीतरागो
भवतीति ॥ २६२ ॥

अथ—उसके बाद हास्य रति, अरति, भय, शोक और जुगुप्साका क्षय करता है। उसके
बाद पुरुषवेदकक्ष क्षय करता है। उसके बाद सम्पत्कक्ष क्रोध, मान, माया और क्रोधको नष्ट करके वीतरा-
गवाक्ये प्राप्त करता है।

भाषाय—उक्त क्रमसे मोहोन्नीवर्पकी १८ प्रकृतियोंके नष्ट होनेपर मुनि वीतराग हो जाता है।

सर्वोद्घातितमोहो निहतक्लेशो यथा हि सर्वज्ञः ।

भात्यनुपलक्ष्यराहुशोन्मुक्त पूणचन्द्र इव ॥ २६३ ॥

टीका—सर्व सकल उद्घातितो यस्तो मोहो येन स सर्वोद्घातितमोहः । निहताः क्लेशा
येनासा तथाक्तः । क्लेशायन्तीति क्लेशाः क्वाचादय एव बुद्धमत्वात् पूषगुपात्ता । यथा हि सवक्त्रा
सुप्तकक्षेनद्राणो भवति । स तु क्षपितसकलमोहः सर्वज्ञवद्भाति शोभते । अनुपलक्ष्यराहु-
शोन्मुक्तः अनुपलक्ष्यो राहुशो मुक्तादिविभागस्तत्र मुक्तः पूणचन्द्र इव । अतिसंक्षेपेणोक्ता
क्षयकक्षेर्भा प्रकरणकारेण, प्रवृत्तनमाप्रस्तात् । अनुना विरायणोऽप्येन—अनन्तानुशक्तिनाशानु-
कषायान् सुगणम् क्षययति । तपामनन्तभाग शेषं मिथ्यात्व प्रक्षिप्य मिथ्यात्व क्षययति ।
मिथ्यात्वान्निरीषं शेषं सम्पत्कक्षनाशे प्रक्षिप्य सम्पत्कक्षनाशे क्षययति । तच्छेषं सम्पत्कक्ष
प्रक्षिप्य सम्पत्कक्षमपि क्षययति । यदि च वदन्पुरुषस्तत्र क्षणिसकल तत्रैव भवतिष्ठति नोपपा-
रोहति । भवद्वापुरुषस्तु भवित्रान्त्या भविच्छदन सकला भविमप्यारोहति । तताऽष्टा कषायान्
क्षययति । सकल च सावदाय पूषक पुरस्तात्तगति । अद्यानां च कषायानां सकलयेवनाग क्षययन्

विमर्शभागे नामकर्मण इमा प्रकृतीस्त्रयोदश क्षपयति—नरकतिर्यंगती द्वे एकद्विभिश्चतुरि
 त्रिपञ्चातयश्चतस्रः, नरकतिर्यंगत्वात्पुण्यैर्द्वे, अप्रसस्तविहायोगतिः, स्थावरसूत्रमापवाप्तक-
 साधारणसरीरनामानि चत्वारि । दर्शनावरणीयकर्मणश्च तिस्रः प्रकृतीः क्षपयतीमाह—निद्रा
 निद्राप्रचञ्चलप्रचञ्चलास्त्यानदर्शारम्भाः । ततो यद्ब्रह्मेयमज्ञानं तत् क्षपयति क्वायाचामप्रत्याकृत्वान्
 प्रत्याकृत्वानावरणानाम् । ततो नपुंसकवेदं स्त्रीवेदं च । ततो हास्वल्प्यरतिमयसोऽङ्गुष्ठाः स्रवं
 नयति । ततः पुरुषवेदं त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयमार्गं संव्यञ्जनक्राये प्रक्षिप्य
 श्लेषमपि त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयमार्गं संव्यञ्जनमाने प्रक्षिप्य संव्यञ्जन-
 मानमपि त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं क्षपयित्वा तृतीयमार्गं (संव्यञ्जनमाचार्या तां च त्रिधा
 कृत्वा भागद्वयं युगपत्क्षपयित्वा तृतीयं) संव्यञ्जनश्लेषे प्रक्षिप्य त्रिधा कृत्वा युगपद्भागद्वयं
 क्षपयित्वा पश्चात्तृतीयमार्गं संक्येवानि संज्ञानि करोति । तानि क्षपयन् वादरात्रि संज्ञानि
 वाहरसम्प्राप्य उच्यते । तत्र च पञ्चरत्नं संक्येवतमं स्रवं तद्संक्येवतमि जगद्भानि करोति ।
 तानि क्रमेण क्षपयन् सूक्ष्मसम्प्राप्य उच्यते । तेभ्यपि निःशेषतः क्षपितेषु निर्मथो भवति ।
 मोहसागरात्पृथीर्णं । तीर्त्वा च मोहमहासमुद्रं मुहूर्तमार्गं विश्राम्यति । भगावसमुद्रोतीष्-
 ण्यगावमुत्पन्नत् । विश्राम्य च समपद्ये शोषे मुहूर्तस्य । तत्र तपोर्षयोः समपयो प्रथमे
 समये निद्रा प्रचञ्चलं च दर्शनावरणप्रकृती द्वे क्षपयति । चरमसमये ज्ञानावरणं पञ्चपञ्चरम्
 दर्शनावरणं चतुर्विधम् अन्तरायं पञ्चविधं युगपत् क्षपयित्वा केवलज्ञानं प्राप्नोति । एवं
 शर्विसत्युत्तरसप्तम्ये पष्ठमा प्रकृतिमि क्षपिताभिः केवलज्ञानमो भवति ॥ २६३ ॥

अर्थ—समस्त मोहको नष्ट करके और श्रेष्ठोंको दूर करके मुनि सर्वज्ञ होकर न दिव्य
 देनेवाले पाहुके मागसे छूटे हुए पूर्ण चन्द्रके समान सुशोभित होता है ।

भाषार्थ—बिना प्रकार सर्वज्ञ ज्ञानावरणादि कर्मोंसे मुक्त होनेपर केवलज्ञानसे मासमान होता
 है उसी प्रकार मोह और श्रेष्ठोंसे मुक्त हुआ मुनि पाहुके प्रहसते घूरे हुए पूर्णमासे चन्द्रमाके समान
 सुशोभित होता है । पश्चि मोहमें श्रेष्ठोंका भी अन्तर्भाव हो जाता है; क्योंकि कर्मावशसे ही श्रेष्ठ
 करते हैं, तथापि उनका दमन हुआ करनेसे यही उनको पूरक प्रहस किया है ।

पञ्चपञ्चरत्ने अति संश्लेषण क्षपकर्मणीकर कर्मण किया है । उसे कुछ विस्तारसे करते हैं । अन-
 षट्पुण्यश्रीचो चारों कर्मावशसे एकसाथ क्षपण करता है । उनका कर्म हुए अनन्तमें मानको विपत्तयमें
 मिथ्याकर मिथ्याकर क्षपण करता है । मिथ्याकर भी शेष मान सम्पत्तिव्यवस्थामें मिथ्याकर सम्पत्तिव्यवस्थामें
 क्षपण करता है । उच्यते भी शेष मान सम्पत्तयमें मिथ्याकर सम्पत्तयका भी क्षपण करता है । यदि क्षपण
 करनेवाला मन्व जीव आत्मा भी मन्वकी आयु बीच चुकता है तो उक्त सात प्रकृतियोंका क्षपण करके रुक
 जाता है; अगर नहीं चकता है । किन्तु यदि वह अवज्ञानुक्त होता है अर्थात् आत्मा भी मन्वकी आयु नहीं
 चकता तो बिना कर्म समस्त क्षपकर्मणीकर चक जाता है । अतः सात प्रकृतियोंका क्षपण करनेका नष्ट
 आठ कर्मावशसे क्षपण करता है । सब जगत् शेष मानको अनेकी प्रकृतिमें मिथ्याता जाता है । आठों
 कर्मावशसे सफ्यावशे भागका क्षपण करके मन्वमें नामकर्मनीक एवं वेद प्रकृतियोंका क्षपण करता है—

परकगति, तिर्यङ्गागति, एकत्रिय, द्वीत्रिय तेद्विद्विष और षतुवित्रिय गति, नरकगत्यानुपूर्वी, तिर्यग्गत्यानुपूर्वी, अग्रसत्यद्वापोगति, स्थावर, सूक्ष्म अपर्याप्तक और साधारणघटीर । तथा दर्शनावर्त्यकर्मादी निरा-विद्रा, प्रवका-प्रवका और स्थानभि-इन तीन प्रकृतियोंका क्षयण करता है । उसका बाद अग्रस्था-त्यन्तारण और प्रयास्यानाशरणकी बात कर्मभोंका जो भाग अवशिष्ट रहता है, उसका क्षयण करता है । उसके बाद नपुंसकवेद और शीवेदका क्षयण करता है । उसके बाद हास्य, एति, बलति, मय घोक और सुगुप्ताका क्षय करता है । उसके बाद पुरुषवेदके तीन भाग करके दो मार्गोंका एकसाथ क्षयण करता है और तीसरे भागको संवत्जन मानमें भिन्न करता है । फिर श्लोके मी तीन भाग करके दो मार्गोंका एकसाथ क्षयण करता है और तीसरे भागको संवत्जन मानमें भिन्न देता है । फिर संवत्जन मानका मी तीन भाग करके दो मार्गोंका एकसाथ क्षयण करता है—है । और तीसरे भागको संवत्जन मायामें भिन्न देता है । फिर संवत्जन मायामें मी तीन भाग करके दो मार्गोंका एकसाथ क्षयण करता है, और तीसरे भागको संवत्जन भोममें भिन्न देता है । फिर संवत्जन भोममें मी तीन भाग करके दो मार्गोंका एकसाथ क्षयण करता है । उसके बाद एक भागके सक्षयण क्षयण करता है । स्थूल क्षणोंका क्षयण करता हुआ मुनि वादरसात्म्यत्तम् (नवम गुणस्थानवर्ती) स्थूल कथापवाका करा जाता है । इनमेंसे जो अतिसूक्ष्म सक्षयणोंको क्षयण अवशेष रहता है उसका मी असक्षयण क्षयण करता है । उन सूक्ष्म क्षणोंको क्रमसे क्षयण करता हुआ क्षयण सूक्ष्मसात्म्यत्तय-सूक्ष्म कथापवाका (दशम गुणस्थानवर्ती) करा जाता है । उन सूक्ष्म क्षणोंका मी पूर्ण तरहसे क्षयण करनेपर निर्दम्ब (बादमें गुणस्थानवर्ती) होता है । यह निर्दम्ब मोहक्षयी मन्त्रसमुद्रको पार कर देता है । और पार करके एक पृष्ठपर तक उसी तरह विभाज करता है, जिस प्रकार अनाम समुद्रको पार करके कोई ननुप्य विभ्राम करता है । इस प्रकार विभ्राम करनेके पश्चात् जब सुहृत्में दो समय लेप रह जाते हैं, तो उन दो समयोंमेंदे पहले समयमें दर्शनावर्त्यकी निद्रा और प्रवका प्रकृतिका क्षयण करता है और अतिसूक्ष्म समयमें ज्ञानावर्त्यकी पौंच दर्शनावर्त्यकी वाह, और अन्तर्प्रकृति पौंच प्रकृतिपौंच एकसाथ क्षयण करके केवडज्ञानको प्राप्त करता है । इस प्रकार एकसौवर्गस प्रकृतियोंमेंसे साठ प्रकृतियोंका क्षयण करनेपर केवडज्ञानकी प्राप्ति होती है ।

१- अन्तर-—अपञ्चलक्षणेद्यत्तद्व्ययमपञ्चलक्षणेन चर्तितमित् कत मङ्कली अद्ययुगीय वासिकचरणाङ्कैर्भूत्वा चरितानेद्वयप्रमिन्नुपनिवृत्तौ । तद्वेद्येया प्रवृत्तकामपूरुषकरामनिहृदि। १९ व कृत्या उपराज वेदिकावशापूर्व करतोवद्यमङ्गुलस्थानवपरीक्षामनुपूर तथाविनवद्यमिद्वेषियिचुडरापकर्ममङ्कलिविचलतुण्डमः सिच-रिच्यप्रकर्मनुपत्वा अतिहृदिवाहरकाम्यतपोऽयमकगुणवस्वानमिद्वय अनुपकवेदहावेरयोऽप्यपवृद्धुवेद्यभवा कथनपत्वाकथनश्रेवद्रवमावाहवमेवद्वयक्रेवमारवर्तवकनचर्तिकाः मङ्कलीः क्रमेणोरवमय्य लया सृष्टवशानपव प्रवक्ष्यन्ते मावांशंजकमे कोनघर्म मरे लक्ष्येवहङ्कन्नुपपत्तम् उपपात्तकथयववदेद्यमायु मनसि । अतुच अवायु सिरवे । अथवा पुनरपि कथयानुपेदेन प्रसिधिरर्तते । उ एव वाप्यो च विग्रहण्यवावातुगतोभवाः पूर्वत्वा विविधकथनकथैर्भूत्वा कर्मविग्रहाया महाया विग्रहपन् वाचयेद्येननुपवय उदेव करकेकिसिः पूर्वैवपूर्वक-एववपठ्यमानिभवा एत उक्तं कथावाशं बर्ष कृत्या अनुपकवेदे वाद्यमावाद्य जीवेऽधुमीत्य नोकरवपवृक्ष पुवेदे प्रसिद्ध उवविता पुवेदे क्रेवर्तजकमे कोनर्तजकमे मारंशंजकमे यारंशंजकमे मावांशंजकमे मावांशंजकमे च कोमंशंजकमे शंजकमेकथेव वादरहङ्कवमायेव विषयमुन्नीय अनिहृदिवाहवाम्यय वरव्ययववय । अन्-तर्तकमे एवकृत्य सृष्टवशानपवकथयवकमुपय निवेद्येने मेऽनीर्ष निर्दुहयर्ष कथयिवा शीकथयववविद्वत्

पेतवेव स्पष्टयथाह—

इसी बातको स्पष्ट करते हैं—

परकृतकर्मणि यस्मान्न ज्ञामति संक्रमो विभागो वा ।

तस्मात् सत्त्वाना कर्म यस्य यत्तेन तद्वेद्यम् ॥ २६६ ॥

टीका—परेणकृत कर्म तस्मिन् परकृतकर्मणि विषये । यस्मान्नास्ति संक्रमः । मय्येव कृतकर्म (कृतमस्तीति) तदन्यत्र नै ज्ञामति न संक्रामितमवति । सवन्मय कर्मणः संक्रमो मा यूवेकस्य भविष्यतीति नेत्याह—विभागो वा । नाप्यकृतं गो विभागः सत्त्वमतीत्ययं कृतनाशा कृतान्म्यागमप्रसंगान् । तस्मान् सत्त्वानां प्राणिनां यस्य यत्कर्म प्राणिनस्तेनैव तद्वेद्यमनुभवनीयमिति । अथवा न ज्ञामति न क्रमते न भवति संक्रामितिरिति ॥ २६६ ॥

अर्थ—यतः दूसरेके द्वारा किये हुए कर्मों न संक्रम होता है और न विभाग होता है । अतः प्राणियोंमेंसे जो प्राणा जिस कर्मको करता है उसे वही मोगता है ।

भाषा—दूसरेके द्वारा किया हुआ कर्म न तो सबका सब ही अल्पके कर्मोंमें बाहर निकल सकता है और न उसका कोई भाग ही अल्पके कर्मोंमें बाहर निकल सकता है । यदि ऐसा हो तो कृतनाश और अकृतान्म्यागमक प्रसंग उपस्थित होगा । अर्थात् यदि अल्पका किया हुआ कर्म अल्पके मोगता पड़े तो जिसने कर्म किया है, उसके कर्मका तो नाश हो जायेगा और जिसने कर्म नहीं किया है उसे अकृतकर्मकी प्राप्ति हो जायेगी । और ऐसा होनेसे तो वही लौकिक कर्तावत चारण्य होगी कि “ करे कोई और मर कोई । ” अतः जो करता है वही मोगता भी है ।

मोहनीयकर्मक्षयाभ्येपकमक्षयोऽवश्यं भाषीति वक्ष्यति—

अब यह बतलाने हैं कि मोहनीयकर्मके क्षय होनेपर ऐप कर्मोंका क्षय अवश्य हो जाता है—

मस्तकसूचिविनाशात्तालस्य यथा ध्रुवो भवति नाशः ।

तद्वत्कर्मविनाशो हि मोहनीयक्षये नित्यम् ॥ २६७ ॥

टीका—ज्ञानतरो शिरसि सूचिषा प्ररोहति । तद्विनाशे च तादृशरोरवश्यमावी सुवो नाशः । तद्वत्तथा क्षयकर्मणां विनाशः क्षयोऽशक्तिविविन्नमोहनीयक्षयं ध्रुवो नित्य इत्ययम् ॥ २६७ ॥

१- एतदेव इत्यारम्भ संक्रमो विभागो वा इतिशब्दाः पाठ-४० पुस्तके नास्ति । २-सकृदिः

अर्थ—असि प्रकर तब कृष्णके शिरपर जो सूची—साङ्गामार कृमता है, उसके बाइसे ठाक बूझका नास अरुप्य हो जाता है, उसी प्रकार मोहनीयकर्मेके बाइसे शेष कर्मोंका नास अरुप्य हो जाता है।

छद्मस्यवीतराग काल सोऽन्तर्मुद्दूर्तमथ भूत्वा ।

युगपद्विविधावरणान्तरायकर्मक्षयमवाप्य ॥ २६८ ॥

टीका—छद्म चावरण तत्र स्थित छद्मस्य, वीतरागश्च अपितकपापत्वात् । अन्तर्मुद्दूर्तं षट्कद्रूपान्तरकर्म वीतरागो भूत्वा । युगपत् समकालेन । विविधं ज्ञानावरणं अतिज्ञानादिभेदं वसनावरणं चतुर्विधम् । विविधमित्यनेकरूपम् । तथास्तुपायं वान्ततरायाद्विप्रकारम् । इत्थं कर्मक्षयमवाप्य ॥ २६८ ॥

किं प्राप्तवानित्याह—

शाश्वतमनन्तमनतिशयमनुपममनुत्तर निरवशेषम् ।

सम्पूर्णमप्रतिद्वत सम्प्राप्त केवलज्ञानम् ॥ २६९ ॥

टीका—शाश्वतं अस्मात्मस्वामं सर्वकालमावित्यभेदे मानवति-अनन्तमपर्यवसानम् । अविद्यमानातिशयं महातिशयम्, न तत् परमतिशयोऽस्ति, न तत् केनचिदतिशय्यत इत्यर्थः । अविद्यमानोपममनुपमं तत्सदृशास्मान्मावात् । अविद्यमानमुत्तरं ज्ञानं यस्य तदनुत्तरम् । निरवशेषमात्मकः स्वरूपे सम्पूर्णम् सकलशेषप्राद्विवात् । अविद्यमानमप्रतिभातमप्रतिद्वतं सर्वतः पूर्ण-समुद्रावापि न प्रतिद्वम्यते सम्प्राप्तः प्राप्तवानेतिविधं केवलज्ञानम् ॥ २६९ ॥

अर्थ—उसके बाद अन्तर्मुद्दूर्तं कर्तव्यक छद्मस्य वीतराग एकर वह मुनि एकद्वय ज्ञानावरण, दर्शनावरण, और अन्तःकरणक्षय छप करके मित्य अनन्त, निरतिशय, अनुपम अनुत्तर, निरवशेष, सम्पूर्ण और अप्रतिद्वत केवलज्ञानको प्राप्त करता है।

मावार्थ—बाइसे गुणत्वानक्ष नाम छद्मस्यवीतराग है। छद्म नामकको कहते हैं। बाइसे गुणत्वानक्षके नीचेके ज्ञानादिक गुणोंपर आचारण एता है। अतः उन्हे छद्मस्य कहते हैं। और करार्योके छप हो जानेपर बाइसे गुणत्वानक्षी प्राप्ति होती है। अतः उसे वीतराग कहते हैं। इसलिये बाइसे गुणत्वानक्षी मुनि छद्मस्यवीतराग करे जाते हैं, बाइसे गुणत्वानक्षे जानेके बाद मुनि एक अन्तर्मुद्दूर्तं कर्तव्यक एकर ज्ञानावरणसे गोंच, दर्शनावरणकी चम और अन्तःकरणकी पाँच प्रकृतिवोंका एकद्वय छप करता है। इसका अर्थ करत ही उस केवलज्ञानकी प्राप्ति हो जाती है। वह केवलज्ञान सदा रहता है उसका कभी अन्त नहीं होना, उससे बढ़कर कोई अतिशय नहीं है। उससे समान दूसरी कोई

मावाय—विशेषरतीक आयुर्कर्मकी स्थिति कम होती है और शेष रतियों कर्मोंकी स्थिति-
 धनिक होती है तो वह वेदनीयाणि कर्मोंकी स्थितिके आयुर्कर्मकी स्थितिके बराबर करनेके लिए समुदाह
 करते हैं। उक्त गमनको समुदाह करते हैं। इसमें आत्मके प्रदेश छतरेके बाहर फैलकर समस्त
 क्षेत्रकाधमें व्याप्त हो जाते हैं। अत्र यह उक्त गमन कहा जाता है। इससे ही उक्त अर्थ को
 मय नहीं होता, क्योंकि लोकके बाहर आत्मका गमन नहीं होता।

तस्य चाय विभिरुच्यते—

समुदाहकी विधि बतलाते हैं।

दण्ड प्रथमे समये कपाटमय चोचरे तथा समये ।

मन्यानमथ तृतीये लोकव्यापी चतुर्थे तु ॥ २७४ ॥

टीका—स्वशरीरप्रमाणदण्डबाहुस्येनोर्ध्वमथ आरामप्रदेशान् विक्षिपत्यालोकांन्तात् । तर्ष
 मयमे समये दण्डम् । द्वितीयसमये तु कपाटीकरोति दक्षिणोत्तरतो विस्तारयत्यालोकांन्तात् ।
 एवं तृतीयसमये तदेव कपाटं मन्याम करोति पूर्वोत्तरयोर्विस्तारयत्यालोकांन्तात् । एव चतुर्थ
 समये मन्थानान्तराणि पूरयित्वा चतुर्थे तु लोकव्यापी भवति । एवमारामप्रदेशेषु निरवरोधेन
 रीयेण विरहितेषु कम वेद्यादिप्रयमायुषा सम करोति । आयुष्क तु नापवर्तते । ममपवर्तित्वा-
 देकेत्युक्तम् । आत्मप्रदेशविस्तारणाच्च तदेद्यादिकर्म अतिरिक्तं शयं गच्छदायुषा सह
 समीकरोति ॥ २७४ ॥

अथ—प्रथम समयमें दण्ड, दूसरे समयमें कपाट, तीसरे समयमें मथानी, और चौथे समयमें
 लोकव्यापी होता है।

मावाय—दण्डके समयमें अपने शरीरके बराबर मोटे दण्डके आकार ऊपर और नीचे ओके
 अन्तक आत्मके प्रदेशोंको विस्तारता है। दूसरे समयमें उन्हे कपाटके आकार करता है अर्थात् दक्षिण
 उत्तर दिशामें ओके अन्तक फैलाता है। तीसरे समयमें उस कपाटको मथानीके आकार करता है।
 अर्थात् पूर्व-पश्चिम दिशामें ओके अन्तक फैलाता है। तथा चौथे समयमें मन्थानीके जो अन्तक
 बाकी रह जाता है उन्हे पूरकर लोकव्यापी हो जाता है। इस प्रकार अपने निरवरोध अवन्तरीयके
 इस आत्मके प्रदक्षोत्र फैलानेपर बन्धीय आदि तीन कर्मोंको आयुष्मके बराबर करता है किन्तु
 आयुष्मका अवनर्तन नहीं करता। क्योंकि अमशरीरेयै आयुष्क प्राय नहीं हो सकता। अतः आत्मके
 प्रदक्षोत्रके फैलानेसे अतिरिक्त कर्मोंका प्रदक्षोत्र वेदनीय, मान और मोक्षकर्म ही आयुष्मके बराबर ही
 हो जाते हैं। इस सम्बन्धमें गीक ब्रह्मका उक्त विद्या जाना है। जिस प्रकार गीते ब्रह्मको इकट्ठा करनेके

१-उक्त प्रथमसमये तु दण्डं कपाटीकरोति-ब । २-प्रथमे तु दण्डं कपाटम्-ब । ३-अन्तर्गते क, ब ।

यदि एक जनह रक्त दिया जाने तो उसे सुलनेमें बहुत समय लगता है, किन्तु यदि उसे फैला दिया जाने तो वह जल्दी ही सुख जाता है, उसी प्रकार संकुचित दशामें जो कर्मरत्न आत्मासे पृथक् होनेमें अधिक समय लेती है वही समुदात दशामें आत्म्याके प्रदेशोंके फैलाये जानेपर कम समयमें पृथक् होनेके योग्य हो जाती है ।

संहरति पञ्चमेत्वन्तराणि मन्थानमथ पुन पष्टे ।

सप्तमके तु कपाटं संहरति ततोऽष्टमे दण्डम् ॥ २७५ ॥

टीका—पंचमं चतुर्भिः समयैर्भौतिकं क्रमेण व्याप्य चतुर्भिरेवैः समयैर्विपरीतं संहरति पञ्चमे समये मन्थानान्तराण्युपसहरति । पष्टे समये मन्थानं संहरति । सप्तमे समये कपाटम् । अष्टमे समये दण्डमुपसहृत्य शरीरस्य एव भवति ॥ २७५ ॥

अर्थ—पौंचमं समयमें भक्तजन्मके प्रदेशोंको संकोचता है । अष्टमे समयमें मन्थानको संकोचता है । सप्तमं समयमें कपाटको संकोचता है और आठवें समयमें दण्डको संकोचता है ।

भाषा—इस प्रकार ठक रीतिसे चार समयमें श्रमसे जोकको व्याप्त करके चार ही समयमें उससे विपरीत रूपसे प्रवेशोंका उपसंहार करता है । अर्थात् पौंचमं समयमें मंत्रात्मिके अन्तराष्ट्रोंमें जो आत्म-प्रवेश है, उसका संकोच करता है । और इस प्रकार जोकम्पापीसे पुनः मन्थानोंके आकार करता है । अष्टम समयमें पूर्व-मन्थानके प्रदेशोंका संहार करके मंत्रात्मिके पुनः कपाटके आकार करता है । और सप्तमं समयमें उत्तर-दक्षिणके प्रदेशोंका संहार करके कपाटसे दण्डके आकार करता है । और आठवें समयमें दण्डका भी उपसंहार करके पहलके तब अपने शरीरमें ही स्थित हो जाता है । इस प्रकार चार समयमें दण्ड कपाट मंत्रात्मिक और जोकम्पापी तथा चार समयमें मंत्रात्मिक कपाट दण्ड और अपने शरीरमें स्थित होता है । इस प्रकार केवली-समुदातमें आठ समय लगते हैं ।

अथ कस्मिन् समये को योगः समुदातकाळे भवतीत्याह—

समुदातमें किस समय कौन योग होता है ! वह कथ्यता है—

औदारिकप्रयोक्ता प्रथमाष्टमसमययोरसाविष्ट ।

मिश्रौदारिकप्रयोक्ता सप्तमपष्ठद्वितीयेषु ॥ २७६ ॥

प्रथमेऽष्टमे च समये औदारिकं एव योगो भवति शरीरस्यैवात् । कपाटोपसंहारने सप्तम् । मन्थसंहारने पष्टः । कपाटकरने द्वितीयः । एतेषु भिन्नभिन्न समयेषु कर्मण्यप्यतिमिथौ औदारिक योगो भवति । काम्य शरीरयोगी चतुर्थके पञ्चमे तृतीये च । समयव्येऽपि

१-चतुर्थ-क. । २-आचारिक प्र-क. । ३-आचारिक एव-क. । ४-आचारिकं प्रकृतिकरीका संकायने नास्ति ।

तस्मिन् मवत्यनाहारको नियमात् ॥ १ ॥ मन्थान्तरपूरणसमयश्चतुषः । मन्थान्तस्तहरणसमय
पञ्चमः । मन्थान्तरणसमयस्तृतीयः । समयप्रयेऽप्यस्मिन् कार्मणशरीरयोगा । तत्र च नियमेन
बीषो मवत्यनाहारकः ॥ २७१ ॥

अर्थ—पहले और आठवें समयमें केवळीके औदारिककाययोग होता है । और सातवें, छठे
तथा दूसरे समयमें औदारिकमिश्रयोग होता है ।

माथार्थ—पहले और आठवें समयमें औदारिकयोग ही होता है । क्योंकि उस समय केवळ
बपने शरीरमें ही स्थिर होते हैं । कपाटका उपसंहार सातवें समयमें होता है । मंथानीका उपसंहार छठे
समयमें होता है और कपाटका आकर द्वितीय समयमें होता है । इन तीनों समयोंमें औदारिकमिश्रकाय
योग रहता है ।

का २७० के अन्तर्गत कारिकाका व्याख्यान.—

अर्थ—बीषे, पौषे और तीसरे समयमें केवळी कार्मणकाययोगवाले होते हैं । इन तीनों
समयोंमें वे नियमसे अनाहारक होते हैं ।

माथार्थ—बीषे समयमें मंथानीके अन्तराळोंको मरा जाता है, अर्थात् ओकम्पायी होता है ।
पौषे समयमें मंथानीके अन्तराळोंका उपसंहार करता है और तीसरे समयमें मंथानीके आकार होता है ।
इन तीनों ही समयोंमें कार्मणकाययोग होता है और उसमें जीव नियमसे अनाहारक होता है ।

स समुद्धातनिवृत्तोऽथ मनोवाकाययोगवान् भगवान् ।
यतियोग्ययोगोक्ता योगनिरोध मुनिर्येति ॥ २७७ ॥

टीका—स लङ् केवळी समीकृतचतुष्कर्मा । ततः समुद्धाताभिहृत् । तदनन्तरं मनो-
वाकाययोगी भगवान् योगप्रपवर्तीति । अथ मनोयोग केवळिन कुत्र इत्युच्यते—यदि नामा
दुसरो मनसा तन्नस्य एव पृच्छेत् अस्यो वा देवो मनुष्यो वा ततो भगवान् मनोद्रव्याण्णाश्च
मनःप्राप्तिकरणेन तद्रक्षणस्याकरणे कपोति सत्यमनोयोगेन असत्याभूतामनोयोगेन न्याक
पेति । तथा वाक्प्रययोगोऽपि भगवतः सत्यः असत्याभूतारूपो वा । काययोगस्त्वीदारिका-
दिगमनादिक्रियासाधनः । यतियोग्ययोगोक्तेऽभ्योनेनैतत् प्रतिपादितम् । तस्यामवस्थायाम् स
यतिः केवळी योग्यमुचितं योगं सत्यरूपमसत्यभूतारूपं वा मुह्यते ॥ २७७ ॥

अर्थ—मन बचन और काय योगवाले वह केवळीभगवान् समुद्धातसे निवृत्त होकर मुनियोंके
योग्य योगको करते हुए योगका निरोध करते हैं ।

तद्विद्योबनायमनस्तबीय' सम् मनोविषय निरुन्धन् निरुणन्ति । पूर्वं पञ्चेन्द्रियस्य संश्लिषा मन पर्याप्तिकरणयुक्तस्य प्रथमसमयपर्याप्तकस्य अवन्ययोगस्य मनोद्रव्यवर्गणास्थानानि निरुणन्ति स्थासन्नि । ततोऽपि तद्वद्गुणह्यास्या असस्ययगुणाम्यवस्थानानि निरुणन्ति । पश्चाद्मनस्कौ भवति मनःपर्याप्तिक इत्यर्थः ॥ २७८ ॥

अर्थ—जो पञ्चेन्द्रिय सेना पर्याप्तक और अवन्य योगवाला होता है, वह उससे भी असस्य-यगुणे हीन मनोयोगको रोकता है ।

भाषा—योग सहित जीवकी मुक्ति नहीं होती अतः योगको अवन्य ही रोकना चाहिए । उनमेंसे पहले आपेक्षित योगका निरोध करना है । मन-पर्याप्ति नामका एक कारण शरीरसे सबद्ध है, जिसके द्वारा जीव मनोद्रव्यवर्गणाओंको प्रहण करता है । अतः उस मन-पर्याप्तिके वियोग करनेके लिए अनन्त शक्तिकर भावक जीव मनके विषयको रोकता है । उसे रोकनेके लिए वह पहले मन-पर्याप्ति कारणसे युक्त पञ्चेन्द्रिय मञ्जीबीवके पर्याप्तक होनेके प्रथम समयमें अवन्य मनोयोग उतने मनोद्रव्य-वर्गणाके स्थानोंको अपनी आत्मामें रोकता है । उसके बाद प्रथिसमय उसके असस्ययगुणे हीन स्थानोंको रोकता है । इसके पश्चात् जब समस्त स्थान रुक जाते हैं तो अनन्तक अवान् मन-पर्याप्तिके उचित होता है ।

सारांश यह है कि केवली स्त्रियों लोगोंमें से पहले मनोयोगको रोकते हैं । जिन पुत्र-वर्गणाओंसे मन बनता है, उन्हें मनोद्रव्यवर्गणा कहते हैं । और मनोद्रव्यवर्गणाके प्रहण करनेसे योग्य शक्तिके व्यापारको मनोयोग कहते हैं । अतः केवली भीरे भीरे मनोयोगका निरोध करके अनन्तक हो जाते हैं ।

शाङ्खा—केवली जिनके उच्चमनोयोगका सञ्चार रहा आवे । क्योंकि बहोपर वस्तुके पर्याप्तिकानका सञ्चार पाया जाता है । परन्तु उनके असस्ययगुणमनोयोगका सञ्चार समक नहीं है । क्योंकि बहोपर सहाय और अनन्तवसायक ज्ञानका जमान है ।

समाधान—नहीं । क्योंकि सहाय और अनन्तवसायके कारणक वचनक कारण मन होनेसे उसमें भी अनुभवक रूप बन रह सकता है । अतः सयोगीजिनमें अनुभव मनोयोगका सञ्चार स्वीकार कर केनेमें कोई विरोध नहीं आता है ।

शाङ्खा—केवलीके वचन सहाय और अनन्तवसायको पैदा करते हैं, इसका क्या उत्तर है ?

समाधान—केवलीके ज्ञानके विषयमूल पदार्थ अनन्त होनेसे और क्षेत्रके आचरण कर्मका सहायक अतिशय उचित होनेसे केवलीके वचनोंके निमित्तसे सहाय और अनन्तवसायकी वस्तु हो सकती है ।

शाङ्खा—तीर्थकरके वचन अनन्तवसाय होनेके कारण धर्मिक है और इसलिये वे एकका हैं । और एकका होनेके कारण वे एक और अनुभव इस प्रकार ही प्रकारके नहीं हो सकते हैं ।

समाधान—नहीं। क्योंकि केन्द्रीके बचनमें 'स्वात्' इत्यादि रूपसे अनुमतरूप बचनका सञ्चार पाया जाता है। इसलिये केन्द्रीकी छानि अनसत्त्वक है यह बात अस्मिन् है।

शाङ्खा—केन्द्रीकी छानिको सत्त्व मात्र केनेपर उनके बचन प्रतिनियत एक मात्रारूप ही होंगे, असेवमात्रारूप नहीं हो सकेंगे ?

समाधान—नहीं। क्योंकि कम विशिष्ट, वर्णात्मक, अनेक पंक्तिपोंके समुच्चयरूप और सर्व श्रोताओंमें प्रवृत्त होनेवाली ऐसी केन्द्रीकी छानि सम्पूर्ण मात्रारूप होती है, ऐसा मात्र केनेमें कोई विरोध नहीं जाता है।

शाङ्खा—अब कि वह अनेक मात्रारूप हैं तो उसे अस्मिन् रूपसे कैसे माना जा सकता है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि केन्द्रीके बचन इसी मात्रारूप ही हैं एसा निर्देश नहीं किया जा सकता है। इसलिये उनके बचन अस्मिन् हैं यह बात सिद्ध हो जाती है।

शाङ्खा—केन्द्रीके अतीन्द्रियत्वही होता है, इसलिये उनके मन नहीं पाया जाता है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि उनके इन्द्रियमन्त्र सञ्चार पाया जाता है।

शाङ्खा—केन्द्रीके इन्द्रियमन्त्र सञ्चार जा आने, परन्तु वहाँपर उसका कार्य नहीं पाया जाता है ?

समाधान—इन्द्रिय मन्त्र कार्यरूप अपभोगरूपक क्षायोपस्थितिक्रमण अभाव मने ही रहा आने, परन्तु इन्द्रियमन्त्रके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न हो पाया जाता है। क्योंकि इन्द्रियमन्त्रकी वर्णात्मकीके अनेके लिये होनेवाले प्रकलनें कोई प्रतिबन्धक कारण नहीं पाया जाता है। इसलिये वह सिद्ध हुआ कि उस मनके निमित्तसे जो आत्मिक परिस्पन्दरूप प्रयत्न होता है उसे मनोयोग कहते हैं।

शाङ्खा—केन्द्रीके इन्द्रियमन्त्रके उत्पन्न करनेमें प्रयत्न निवृत्त रहते हुए भी वह अपने कार्यको क्यों नहीं करता है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि केन्द्रीके मानसिकक्रमणके सहकारी कारणरूप क्षायोपस्थितिक्रमण अभाव है, इसलिये उनके मनोनिमित्तक ज्ञान नहीं होता है।

शाङ्खा—अब केन्द्रीके पचासमें अर्थात् क्षायोपस्थितिक्रमण नहीं पाया जाता है तो उससे सब और अनुभव—इन दो प्रकारके बचनोंकी उत्पत्ति कैसे हो सकती है ?

समाधान—नहीं। क्योंकि उपचारसे मनके द्वारा उन दोनों प्रकारके बचनोंकी उत्पत्तिकी विधान किया गया है।

ततो वाग्योगं निरुणद्धि । तन्निरूपणायाह—

मनोयोगके बाद वाग्योगका निरोध करता है । अतः उसका निरूपण करते हैं—

द्वीन्द्रियसाधारणयोर्वागुच्छ्वासावधो जयति यद्वत् ।

पनकस्य काययोग जघन्यपर्याप्तकस्याध' ॥ २७९ ॥

टीका—द्वीन्द्रियस्य प्रथमसमयपयातकस्य वाङ्मयप्राप्तिसरथ यत्तद् विषटयति । तस्य वाग्योगो यः साधारणजीवस्य च प्रथमसमयपयातकस्य यदुच्छ्वासनिश्वासपर्याप्तिकरण ॥ वागुच्छ्वासी अथ कृत्वा तावन्निरुणद्धयसमयेपगुण्हास्या याक्त् समस्तवाग्योगो निरुद्ध सनिश्वासपर्याप्तिकरणं च । तद्वदिति यथा मनो निरुणद्धि तद्वदागुच्छ्वासावपि निम्नद्धी । तत्र मनोबाधोन्निरुद्धयोः काययोगनिरोधं करोति । पनक उच्छ्वासीवस्तस्य प्रथमसमय कस्य यः काययोगो जघन्यस्ततोऽप्यभाऽर्मसमयेपगुण्हास्या निरावरणवीर्यत्वान् सकृत्त रागं निरुणद्धि ॥ २७९ ॥

अर्थ—द्वीन्द्रियजीवके जो बचनयोग होता है और साधारणजनस्यजीवके जो श्वासो होता है मनोयोगकी ही तरह उससे असंख्यातगुण हीन बचनयोग और श्वासोच्छ्वासका निरोध करते समस्त बचनयोग और श्वासोच्छ्वासका निरोध करता है । उसके बाद जघन्यपर्याप्तक पनक जो काययोग होता है, उससे अस्वरूपतगुणे हीन काययोगका निरोध करने-करते समस्त योगका निरोध करता है ।

साधाय—त्रिस प्रकार मनोयोगका निरोध करता है उसी प्रकार बचनयोग और श्वासोच्छ्वास- । निरोध करता है । अर्थात् द्वीन्द्रिय पयातकजीवके प्रथम समयमें जो जघन्य बचनयोग होता है पर्याप्तक साधारणजीवके प्रथम समयमें जो श्वासोच्छ्वास होता है उससे असंख्यातगुणे हीन यत्त गुणे बचनयोग और श्वासोच्छ्वासका प्रतिसमय तत्काल रोकना है जबतक समस्त बचनयोग श्वासोच्छ्वास पर्याप्तिकरणका निरोध नहीं हो जाता ।

मनोयोग और बचनयोगके इकट्ठेपर काययोगका निरोध करता है । पयात पनक उच्छ्वासीवने समयमें जो जघन्य काययोग होता है उससे भी असंख्यातगुण हीन काययोगका प्रतिसमय करता है । इस प्रकार निरोध करने-करते सकृत् काययोगका निरोध करता है ।

काययोगनिरोधकाले च—

काययोगके निरोधक समय जो कुछ होता है, उसे बतलाने हैं—

सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति काययोगोपयोगतो ध्यात्वा ।

विगतक्रियमनिवर्तित्वमुत्तर ध्यायति परेण ॥ २८० ॥

टीका—ध्यानं सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति सूक्ष्मकायबोगस्त्रित एव ध्यायति । तदेव सैकेशीं त्रिभागहीनमात्मप्रदेशापाधि करोति । किमर्थमिति चेद्यानि चरिते निर्बर्तितानि मुक्तमन्त्र-नासिद्धिदिग्भिराणि तत्परिपुरणार्थं बनीकरोति आत्मानं त्रिभागहीनावगाहसंस्थानपरिणामं करोतीत्यर्थः । तत्पुनर्युक्तकथ्यमानमेवं परेण ध्यायति । विगतक्रियमनिवर्तित्वं ध्यानं निरुद्धबोगो म्युपपत्तसकक्रियमनिवर्तित्वं ध्यानमुत्तरध्यानं (ध्यायन्) चरमकर्मांशं सपयति ॥ २८ ॥

अर्थ—काययोगका निरोध करते हुए ही सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति नामका तीसरा छुट्टाप्यान होता है, उस ध्यानके अनन्तर विगतक्रिय नामका ध्यान होता है । इस ध्यानके पश्चात् अन्य कोई ध्यान नहीं होता, अतः यह अन्त है ।

माध्याय—त्रिस समय कबकी सूक्ष्मयोगमें स्थित होते हैं, उसी समय उनके सूक्ष्मक्रिय मप्रतिपाति नामका तीसरा छुट्टाप्यान होता है । और उसी समय वे शीघ्रेशी करते हैं । उस समय उनके अल्प-प्रदेशोंकी अकलाहना शरीरकी अकलाहलासे एक शिखर हीन हो जाती है । क्योंकि शरीरमें सूक्ष्म, नाक काय शरीरमें जो शिखर है, वे धृत हो जाते हैं और उनके पुर जानेसे आत्माके प्रदेश बनीमृत हो जाते हैं । अतः आत्माके प्रदेशोंकी अकलाहना सूक्ष्मशरीरकी अकलाहलासे त्रिभागहीन रह जाती है । उसके पश्चात् सकलयोगका निरोध होनेपर म्युपपत्तसकक्रिय नामका चौथा छुट्टाप्यान होता है । इस ध्यानके द्वारा वे अवशिष्ट कर्मप्रवृत्तियोंको छुट्ट कर देते हैं ।

चरममे संस्थान यादृग्यस्योच्छ्रयप्रमाणं च ।

तस्मान्निर्भागहीनावगाहसंस्थानपरिणाह ॥ २८१ ॥

टीका—उक्त एवाधोऽस्याः अरिक्त्वात्, पुनस्तथाप्युच्यते । चरममे परिचम-कर्ममि । संस्थानमाकाशं वाह्यं पञ्च सिद्धिभुपविगमियो संस्थानं शरीरोच्छ्रय एव प्रमाणम् । तस्य त्रिभागहान्त्वा संस्थानपरिणामं करोति ॥ २८१ ॥

अर्थ—अन्तिम भवमें त्रिस केसकीका भित्तिना आन्तर और भित्ती उंचाई होती है, उससे उसके शरीरका आन्तर और उंचाई एक शिखर कम हो जाती है ।

माध्याय—इस कारिकाका अर्थ यद्यपि पहले का था है तथापि लक्ष्यताके लिए पुनः कहते हैं । त्रिस मुमुक्षुका अन्तिम भवमें ऐसा आन्तर होता है और भित्ती उंचाई होती है उससे उसकी उंचाई तथा आन्तर एक शिखर कम हो जाता है । अर्थात् उसकी अकलाहला को शिखर जाती रह जाती है ।

वाद्यम यह है कि जीवका प्रमाण अपने शरीरके बराबर होता है। जैसा और जितना शरीरका आकार होता है वैसा और उतना ही आकार जीवक प्रदेशोंका होता है। अतः केवलीके आत्म-प्रदेश भी शरीरके आकार और उतने प्रमाण होते हैं किन्तु शरीरके मांस, कण्ड, मुँह, उदर वगैरहमें बहुतसा मांस खाती प्यता है, उन खाती मार्गोंमें जीवके प्रदेश नहीं होते। परन्तु खैरेखी हो जानेपर प्यास-बन्धन से खाती मांस आत्म-प्रदेशोंसे पूरित हो जाते हैं। और उन मार्गोंके पूरित हो जानेसे आत्मके प्रदेश बनीमृत हो जाते हैं। और इस प्रकार बनीमृत हो जानेसे शरीरकी अणुगणनासे आत्म-प्रदेशोंकी अणुगणना एकसिद्धार्थ मांस कम हो जाती है।

अथ स भगवान् कीदृशवस्यो निरुद्धेषु योगेषु भवतीत्याह—

योगनिरोध होनेपर केवलीभगवान्की जो अवस्था होती है, उसे बतलाते हैं —

सौम्य मनोवागुच्छ्वासकाययोगक्रियार्थविनिवृत्तं ।

अपरिमितनिर्जरात्मा ससारमहार्णवोत्तीर्णः ॥ २८२ ॥

टीका—स भगवान् केवली बाह्यायमानासौच्छ्वासयोगक्रियार्थविनिवृत्तो निरुद्धसकल क्रिय । अपरिमितनिर्जर आत्मा यस्य बहुकर्मक्षयण्युत्तः संसारमहाणवाद्दुष्ठीण एव ॥ २८२ ॥

अथ—योगनिरोधके अनन्तर मनोयोग, बचनयोग, कर्मयोग, और इन्द्रसौच्छ्वासकी क्रियासे निवृत्त होकर वह केवलीभगवान् कर्मोंकी अपरिमित निर्जरा करते हैं, और संसाररूपी समुद्रसे पार हो जाते हैं।

भाषा—योगका निरोध होजानेपर नवीन बन्धन तो सर्वथा समाप्त ही हो जाता है और वही वह क्षण ८९ प्रकृतियोगके भी एक अन्तर्पूर्वकमें क्षणन कर बाधता है। अन उसे संसार-समुद्रसे पार हुआ ही समझना चाहिए।

स न्युपरतक्रियानिबन्धिप्यानकालेऽपि वेदपदभ्यां यातीत्याह—

अब न्युपरतक्रियानिबन्धिप्यानके समय वह शैलेखी अवस्थाको प्राप्त करता है, यह बतलाते हैं—

ईपद्मस्वाक्षरपद्मकोट्टिरणमात्रतुल्यकालीयाम् ।

सयंमवीर्यासत्रलः शैलेशीमेति गतलेऽथ ॥ २८३ ॥

टीका—इयम्भन्तान् हस्वानामसराणां कस्यगमक इत्ययामुच्चारणाकार उद्गीरण-
मुच्चारणं तद्गुणस्वभावादीनां तावत्प्रमाणां शिल्पोर्ध्वमिति । अयमेतानुसारेण शीर्षेण च प्राप्तक-
र्षिणोर्ध्वमिति विगतभेदः । शिल्पोश्च इह भेदः निष्प्रक्रमो यस्यामवस्थायां भवति साऽवस्था
शिल्पोर्ध्वमिति शिल्पोर्ध्वमिति इत्युच्चारणानुसारेण संसिद्धयते । शिल्पोर्ध्वमिति सा
शिल्पोर्ध्वमिति । विगता भेदस्या मात्मानमा पश्य स विगतभेदः । इत्युच्चारणानुसारेण-
भेदमात्मानसंभवः ॥ २८३ ॥

अर्थ—'संभार' शब्द शीर्षके प्राप्त कर्तव्ये, भेदः इति इति च केवलीमनान्त-
शेषेण अवस्थायां प्राप्त करते हैं । कुछ हस्त पौत्र अङ्गोंके उच्चारण करनेमें शिल्पोर्ध्वमिति समय कक्षा है,
उतना ही कक्षा इति शेषेण अवस्थायां है ।

भाष्य—शिल्पोर्ध्वमिति गुणस्थानमें ही शेषेण अवस्था प्राप्त होती है । शेषेण-प्राप्तोक्त्वा इय-
त्वात्मी होनेके कारण सुमेरुको शेषेण कहते हैं । सुमेरुकी तरह निश्चयता शिल्पोर्ध्वमिति अवस्थायां प्राप्त होती है
उत्ते शेषेण अवस्था कहते हैं । अतस्त योगोंके निरोध, उत्तम संकल्प प्राप्ति शीर्ष भेदः प्रयास
हो जानेके कारण यह अवस्था शिल्पोर्ध्वमिति गुणस्थानमें ही प्राप्त होती है । शीर्ष क क ग घ ङ अथा
अ इ उ ऋ ए एम पौत्र हस्त अङ्गोंके उच्चारण करनेमें शिल्पोर्ध्वमिति कक्षा कक्षा है, उतना ही उत्तम
कक्षा होता है ।

पूर्वरचितं च तस्यां समयश्रेण्यामय प्रकृतिशेषम् ।
समये समये क्षपयत्यसख्यगुणमुत्तरोत्तरम् ॥ २८४ ॥

टीका—प्रथममेव समुद्घातकाले रचितं व्यवस्थापितं समयश्रेण्यां समकथन्तु ।
प्रकृतिसर्पे प्रवेष्टमानमगोत्रायुषां पक्षशिशुमास्तैस्तत् प्रकृतिशेषम् । प्रतिममय क्षपयत्यसख्येव
गुणमुत्तरोत्तरेषु समयेषु ॥ २८४ ॥

अर्थ—पूर्वरचित अवस्था कर्मप्रकृतियोंको शेषेण अवस्थायां समयोंकी श्रेण्यां प्रत्येक समयमें
उत्तरोत्तर असंख्यगुणी असंख्यगुणी क्षपयति ।

भाष्य—समुद्घातके समय वेदनीय नाम गोत्र और आयुर्कर्मका जो माय शेष रह गया
था, उस मायके शेषेण कालके समयमें क्षपयति । शीर्ष प्रत्येक समयमें उत्तरोत्तर असंख्यगुणमें
असंख्यगुणमें श्रेण्यांको क्षपयति । अर्थात् प्रथम समयमें शिल्पोर्ध्वमिति क्षपयति है, दूसरे समयमें शिल्पोर्ध्वमिति
असंख्यगुणमें श्रेण्यांको क्षपयति है । इसी प्रकार आगेके समयमें भी असंख्यगुणमें श्रेण्यांको
क्षपयति है ।

१- शेषेणमिति शिल्पोर्ध्वमिति (प्रकृतः) इति कर्त्तव्यं शिल्पोर्ध्वमिति शिल्पोर्ध्वमिति-कम् मती ।

२- सुमेरु शिल्पोर्ध्वमिति शिल्पोर्ध्वमिति शिल्पोर्ध्वमिति-कम् मती । ३- शिल्पोर्ध्वमिति-कम् मती । ४- शिल्पोर्ध्वमिति-कम् मती । ५- शिल्पोर्ध्वमिति-कम् मती ।

चरमे सयमे सख्यातीतान् विनिहन्ति चरमकर्मांशान् ।

क्षपयति युगपत् कृत्स्न वेद्यायुर्नामगोत्रगणम् ॥ २८५ ॥

टीका—पश्चिमसमयेऽसकृपेयान् विनिहन्ति शब्दपति । चरमा ये क्रमादाः क्रमभागा
न्तान् युगपत् क्षपयति । त एव क्रमादा विशिष्यन्ते—वेद्यायुर्नामगोत्रगणमिति । एषां कर्मणां
वेद्या इति तस्मिन् कृत्स्ने क्षपिता वेद्यादिगणेषु चरमक्रमाशा क्षपिता एव भवन्तीति ॥ २८५ ॥

अर्थ—अस्मिन् समये वाकी वेषे हुए अर्धक्यात कर्म-क्रिकोंको क्षपाता है । और इस प्रकार
समस्त वेदनीय, आयु नाम और गोत्रकर्मोंके समूहको एकसाथ नष्ट कर दाखता है ।

साधारण्य—प्रतिप्रमय अर्धक्यातगुणे अर्धक्यातगुणे कर्मदक्षिकोंको क्षपाते-क्षपाते एव अस्मिन्
समये पहुँचता है तो चरों अर्धकर्मोंकी तरह प्रकृतियोंके जो अर्धक्यातगुण कर्म-क्रिक क्षपयित रह
जाते हैं, उन सबको एकसाथ क्षपा दाखता है । उनके एकसाथ क्षय करते ही अर्धकर्मोंका समूह नाश
हो जाता है ।

तत्तरण —

उसके पश्चात्—

सर्वगतियोग्यमसारमूलकृत्यानि सर्वभावीनि ।

औदारिकतैजसकर्मणानि सर्वात्मना त्यक्त्वा ॥ २८६ ॥

टीका—सर्वा गतयो मरकतियग्मास्तुप्यवेबाभ्यास्तासां योग्यानि ससारमूलकृत्यानि
संसारपरिभ्रमप्रतिष्ठानि निमित्तानीत्यर्थ । औदारिकतैजसिनि न स्वर्वादारिकादिभिर्निना सर्व-
गतयः प्राप्यन्ते । सर्वभावीनि सर्वत्र भवन्ति मरकादिगतियु क्षापयन्ति औदारिक तैजस
कर्मणं च क्वचिद् वैक्षिप्यतैजसकर्मणानि । सर्वात्मना त्यक्त्वा सर्वेषामात्मा औदारिकतैजसिनां यत्
स्वरूपं तेन सर्वत्र स्वरूपेण त्यक्त्वा ॥ २८६ ॥

देहत्रयनिर्मुक्तं प्राप्यजुश्रेणिवीतिमस्पर्शाम् ।

समयेनैकेनाविग्रहेण गत्वोर्ध्वमप्रतिघ्न ॥ २८७ ॥

टीका—सिद्धवस्तु निपमेनेव देहत्रयमौदारिकतैजसकामनाकर्म भवति । तेन
निरक्षणेण मुक्तो निमुक्तो विरहितः । अजुश्रेणिवीतिं कृत्वा श्रेण्या वीतिं गतिम् । प्राप्य ।

कीदृशीमस्पर्शमविद्यमानस्पर्शाम् । सक्लकमक्षयसमयाद्दुर्घं समर्थं न रपुशति नापि स्वावगाहप्रवेशान् प्रवेशान्तरं स्पृशतीत्यन्वयैत्युच्यते । एकेन समयेनासावभिप्रोषावक्रगत्या गत्वोर्ध्वं लोकात्तमप्रतिबोऽप्रतिहतगतिः । पुनरभिप्रोहप्रदुर्घं समर्थविशेषयन् । न द्वेकस्मिन् समये विप्रद्वे संभवतीति ॥ २८७ ॥

स पुनर्गत्वा ह्यवतिष्ठत इत्याह—

मिदिक्षेत्रे विमले जन्मजरामरणरोगनिर्मुक्त ।

लोकाद्गतं सिध्यति साकारेणोपयोगेन ॥ २८८ ॥

टीका—अस्त्येन कर्मनाशः सिद्धिस्तस्याः क्षेममाकाशाम् । पद्मावगाहः सिद्धस्य । तच्छेषतद्भागमारोपविष्णुपञ्चकितं तस्या धूम्या उपरितनतडाद्युपरितनं योवर्तं, तस्य यदुपरितनं गन्धूतम् । तस्यापि गन्धूतस्योपरितनो यः पद्मभागस्त्रीणि अनुशतानि भयस्त्रिशद्विक्रानि यदुपय विभाग । एव गन्धूतस्य पद्मभागः । साक्यप्रमाणमाकाशं सिद्धिक्षेममुच्यते । पद्मावगाहान्ते सिद्धा इति । विमल इति विविक्तं मङ्गलपट्टवर्जितं । जन्मजरामरणेन रोगैश्च ज्वरदिभिर्विरहितः । लोकाद्गतः । स एव गन्धूतपद्मभागो लोकाद्गतः स प्राप्तः सिध्यति । पूर्वोचितगतिस्तस्मात्प्रमाणे सति सिद्ध उच्यते । तत्रैव साकारेणोपयोगेन ज्ञानोपयोगेन वर्तमानं सिध्यति न दर्शनोपयोग इति । यस्माद्गुणस्य सर्वाः साकारेणोपयुक्त्यैव भवन्तीत्याशयः ॥ २८८ ॥

अर्थ—सब गतियोंके योग, संसारके मूळकारण और सब भगद होनेवाले बीदारिक, वैदिक और कर्मजघरीरके सर्वका त्याग कर तीनों घटियोंके मुक्त हुआ बीच, स्वर्ग रहित जन्मकेबीरगतिके प्राप्त करके विप्रद्वे स्थित एकसमयमें विना किसी बाधके ऊपर बाधके जोनके ब्रह्म मानके प्राप्त करके जन्म, ब्रह्म, भव और रोगके मुक्त होता हुआ विमल सिद्धिक्षेत्रमें साकार उपयोगसे सिद्धिपदके प्राप्त होता है ।

भाषार्थ—बीदारिक, तैजस और कर्मजघरीर, नरक, तिर्यञ्च मनुष्य और देव नामकी सभी गतियोंके योग हैं । इनके बिना सब गतियोंकी प्राप्ति नहीं हो सकती । क्योंकि मनुष्य और तिर्यञ्च ही मरकर सब गतियोंमें जन्म के सकते हैं । और उनके ही उक्त तीनों घटिर होते हैं । अतः ये तीनों घटिर ही सब गतियोंके योग हैं । तथा संसारके मूळकारण भी यही हैं । क्योंकि यदि बीचके साब घटिर न हों तो उसे संसारमें भ्रमण करना ही नहीं पक्क सकता । तथा ये सभी गतियोंमें पाये जाते हैं । तैजस और कर्मज तो सभी संसारीजीवोंके होते हैं । मनुष्य और तिर्यञ्चजन्ममें उनके साब बीदारिकघरीर होता है और देव तथा ब्रह्मजन्ममें उनके साब वैदिकघरीर होता है । इन घटियोंको भिक्षुके त्याग करके

भौतिक, वैश्व और कामजशीरसे मुक्त हुआ जीव ऊर्ध्वगमन करता है। यह ऊर्ध्वगमन श्रुत्यभेदिगतिसे होता है। जिस स्वानपर जीव कर्म-बन्धनसे मुक्त होता है, वहीसे केकर आकृते अगत भागतक वाक्यसक प्रेक्षोको जो सीधी पक्षि होती है, उसीके अनुसार मोहोद्विहित सीमा गमन करता है। और बिना किसी कण्डके एकसमयमें ही लोकके अप्रमाणको प्राप्त हो जाता है। इसी अि ए इ गतिको त्वरित रक्षित कहा है। क्योंकि जिस समयमें ऊर्ध्वगमन करता है, उसी समयमें अपने गन्तव्य-स्थानतक पहुँच जाता है, सम्पान्तरक त्वरित नहीं करता है। तथा जिस प्रदेश-परिक्षिमें गमन करता है, उससे अन्य प्रदेश पक्षिवा रवरी नहीं करता है। उसीमें गमन करता हुआ लोकके अप्र भागतक कहा जाता है। वही सिद्धिज्ञेय है। ही त्वरितसे कर्मोंके नाश हो जानेको सिद्धि कहते हैं और उसके क्षेत्रको सिद्धिज्ञेय कहते हैं। सिद्धजीव इसी सिद्धिज्ञेयमें रहत है। लोकके अप्र भागमें ही एत प्राप्तमा नामकी एक पृथिवी है। वही सिद्धमूर्ति है। उससे एक योजन ऊपर जानेपर लोकक अगत होता है। यह पृथ्वी ऊर्ध्वमुख छत्रके आकार है। इसकी सम्मार्थ और चौड़ाई ४९ कास योजन है तथा बाहुल्य मध्यमें आठ योजन है और दोनों ओर घटते-घटते अन्तमें अंगुलक अक्षरपाठमें माग है। इस पृथ्वीके ऊपरसे लक्षसे केकर लोककतक जो एक योजन प्रमाण क्षेत्र है, उस क्षेत्रमें भी जो सबस ऊपरका एक क्षेत्र क्षेत्र है, उस एक कोस क्षेत्रमें भी उसका जो ऊपरका छटा माग है, जिसका प्रमाण ११३३ ब्रह्मण्ड है, अपने प्रमाण आकृष्टको ही सिद्धिज्ञेय कहते हैं। जन्म, मरण, मरण और रोगसे मुक्त हुए सिद्धजीव मक्त रक्षित इस सिद्धिज्ञेयमें ही आकर ठहरते हैं, तथा ज्ञानोपयोगमें वर्तमान रहते हुए भी इस सिद्धस्थानको प्राप्त होते हैं, वर्तमानोपयोगमें वर्तमान रहते हुए नहीं। क्योंकि आगममें कहते हैं कि साकारो-पयोगीको ही समस्त कर्मियाँ प्राप्त होती हैं।

सादिकमनन्तमनुपममव्याधीधसुखमुत्तम प्राप्तः ।

केवलसम्यक्त्वज्ञानदर्शनात्मा भवति मुक्त ॥ २८९ ॥

टीका—साहायिमा सादिकं सिद्धत्वपपायकम् । अनन्तमपयबसानम् । अविद्यमानोप मानमनुपम् । अविद्यमानव्याबाधमव्याबाधम् । रोगान्तकदिदन्द्ररहितम् । एवंविधं सुखं प्राप्तः । केवल सायिक सम्यक्त्वम् । केवल ज्ञानम् । केवलं दानम् । केवलमित्यसाहायं सम्यक्त्वं पुत्रव रक्षितम् । एताम्यात्मा यम्य स्वमाक स एवंरुपन्तम मुक्त इति ॥ २८९ ॥

अर्थ—सादि अनन्त, अनुपम और अव्याबाध उपप सुखको प्राप्त होते हुए केवल सम्यक्त्व ज्ञानकेवल दर्शन स्वकपी आत्मा मुक्त होता है।

साहाय—मुक्तजीवको जो सुख प्राप्त होता है, वह सिद्धत्वपर्यायकी तरह ही सादि और अनन्त है। अर्थात् जिस प्रकार सिद्धत्वपर्याय आदिसिद्धि और अन्तर्हित है। एक बार इस सुखके प्राप्त

१- जन्ममहा जीवव -सहायत्व ज २५ २८।२- एक अनन्यमिदम् । २९. बह्व- ३ २५ ३ । श्रीविद्यारूपवाचनवचन नि से मा गा ३० ३। ३-दि से. मा. गा ३५२ श्रीवदवाहु लामिहृत आच नि १० ३।

४-मा नि., मा १०१ ५-कथिक उपबोधवगारिदोके मन्ने कथोकि रवेत्रभर कथिक उपयोग दपराही है। श्रीवदवाहुलामिहृत मा नि गा. ३ । १-जन्मदोष-५०।

होनेपर फिर कभी उसका नाश नहीं होता। तथा वह कुछ असुरम है- क्योंकि संसारका कोई भी कुछ उसके समान नहीं है। तथा वह बाधा रहित भी है; क्योंकि उसे प्राप्त करके रोग औरदुःख मय नहीं रहता। मुक्तरीति ऐसे उत्तम सुखको प्राप्त करके क्षणिकसुखस्य, केवलज्ञान और केवलदर्शनरूप स्वभावसे मुक्त होते हैं। बाध्य यह है कि मुक्त अवस्थामें आत्मिक-गुणोंका अभाव नहीं हो जाता। किन्तु कुछ ज्ञान, दर्शन, सम्पत्त आदि स्वामयिक गुण अगनी चाय हीपाको प्राप्त होकर धीरे-धीरे प्रकाशमान रहते हैं।

केनाश्रित्वावमार्थं मोक्षस्तन्निराकरणायह—

कुछ बाड़ी मोक्षको केवल अभावस्वरूप ही मानते हैं उनके निराकरणके लिए कहते हैं—

मुक्तं सन्नभाव स्वालम्बण्यात् स्वतोर्ष्यसिद्धेभ ।

भावान्तरसंक्रान्ते सर्वज्ञानोपदेशाच्च ॥ २९० ॥

टीका—अद्यापि कर्मनिर्मुक्त आत्मा चेतनास्वभावा ज्ञानवृत्तनापयोगवृत्तयः । तस्य सत्तावतना निरन्वयो नाश इति वृत्ताप्यन् परिणामित्वान् प्रतीपशिक्षावन् । ते हि प्रतीपपुत्रज्ञाः कञ्चक्राद्याकारेण प्राहुः पन्थि, पुनश्च परिणामान्तरेण चायन्त इति प्रत्यक्षप्रमाण-समाधिगम्यतः । निरन्वयनाशो च बीनेन्द्र्य प्रतिहेतुवृत्तास्तानामसंभव एव । अतःपरिणामित्वान्-अधीनो ज्ञानदर्शनोपयोगसम्भवं न पुनरभावः । स्वज्ञानमुपयोगस्तद्वाच स्वालम्बण्ये तस्मात् स्वाल-लम्बण्यात् । न चातुषिन्धुयोगात्मस्वतस्त्वं ब्रह्मति श्रीकः स्वत एव चाधीः (ई) सिद्धा (इ) । ज्ञानदर्शनोपयोगस्वभावत्वमात्मनो न कृताश्चिन्मिच्छादुत्पन्न । स्वत एवासावनद्विदादशोऽप्यः । यद्यपि प्राच्योपरत उपयोगान्तरमुदेति, तथाप्युपयोगसामान्यात् मिथ्येति । ज्ञानस्वभावस्यात् । तथा भावान्तरसंक्रान्ते, भावो हि भावान्तरत्वेन संक्रामति न सबधोच्छिद्यते इत्यक्षेपकालभावापेक्षः, इतो प्रामान्तरगतपुरुषसिद्धिः । इत्यथ नामभावो मुक्तः । सर्वज्ञानोपदेशात् बीतरागा सर्वज्ञान-स्वकीतागम आज्ञा । तदुपदेशात् सिद्धात्मा ज्ञानदर्शनस्वभावोऽस्तीति स्वयमिथमिति ॥ २९० ॥

अर्थ—मुक्तरीति अभावरूप नहीं है क्योंकि नीचका वृत्तान्त उपयोग है तथा अवैतनिक सिद्धि स्वतः ही हुआ करती है। और मान ही भावान्तररूप होते हैं। सर्वज्ञानोपदेशात् गये अभावसे ऐसा ही कहा है।

भावार्थ—आज्ञा कर्मोपे मुक्त आत्मा चैतन्यस्वरूप है। ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग उसका वृत्तान्त है। उस अज्ञानका निरन्वय नाश हुआ है। क्योंकि वह हीनकर्म विज्ञानकी तरह परिणामी है। हीनकर्म सिद्धा अज्ञान आदि रूपसे परिणाम करती है। उसके बाद उस अज्ञानका भी कोई वृत्तान्त परिणाम देखा जाता है। वह बात प्रत्यक्ष सिद्ध है। अतएव निरन्वय विनाश माननेपर उसकी सिद्धिके लिए हेतु और वृत्तान्तका विज्ञान अंतर्गत ही है। अतः परिणामी होनेके कारण अज्ञान स्वरूप ज्ञानोपयोग

और दर्शनोपयोग ही है। अभाव नहीं है। क्योंकि जीव कभी भी अपने उपयोगनपी स्वभावको नहीं छोड़ता। तथा पदार्थ स्वतः ही सिद्ध होते हैं अतः अत्माका ज्ञानोपयोग और दर्शनोपयोग स्वभाव किस्ती परके निमित्तसे उत्पन्न नहीं होता किन्तु यह अनादिक्रमसे ही स्वतः सिद्ध है। यद्यपि उपयोगसे उपयोगान्तर होता रहता है किन्तु उपयोग सामान्यकर मारा कभी नहीं होता। क्योंकि वह ज्ञानस्वभाव है। कबि एक मात्रकर भावन्तररूपसे परिचयन होय है परन्तु उसका सर्वथा मारा नहीं होता। जिस प्रकार कोई एक गौसे दूसरे गौमें अथा जाता है तो उस पुङ्गवा सर्वथा अभाव नहीं होता। उसी प्रकार जीवके मुक्त होनेपर भी उसका अभाव नहीं हो जाता। इसके सिवाय वीतराग सर्वज्ञके द्वारा प्रतिपादित आगममें भी मुक्तत्वाको ज्ञान दर्शनस्वभाव कहा है। अतः मुक्तत्वस्थामें जीव सर्वथा अभाव कर सिद्ध नहीं होता।

त्यक्त्वा शरीरबन्धनमिद्वैव कर्माष्टकक्षयं कृत्वा ।

न स तिष्ठत्यनिबन्धादनाश्रयादप्रयोगाच्च ॥ २९१ ॥

टीका—इद्वैव मनुष्यलोके कस्माच्च तिष्ठति ? उच्यते—शरीरमेव बन्धनं तद्विहाय कथं पुनरात्मनिकशरीरस्यागः ? कर्माष्टकक्षयकरणात्स्यस्तत्रिविधोऽप्यशरीरकस्य । न चासाविद्वेष तिष्ठति, अनिबन्धनत्वान् । न हि तस्येह किञ्चिन्निबन्धनमासने कारणमस्ति । शरीरादिनि बन्धनमिहावस्थाने भवति । तच्च समस्तमेव एकन्तम् । अनाश्रयत्वात्मुक्तस्यात्यन्तब्रह्मोपभय सवस्य लोकाप्राप्तिरं भवति । प्रज्ञेयाष्टकसिद्धताम्बुमुक्तस्यैव अत्रमप्यक्षिप्तस्याष्टसु शीर्षेषु क्षेत्रेषु ब्रह्मस्योपयोग्यात्मानमाश्रयो नाभः, तथा मुक्तस्याप्यमोपपन्नो नास्तीत्यत इह भावतिष्ठत इति । तथाऽप्रयोगान् अमयोगो व्यापार आत्मनस्तस्य च तादृशी नास्ति क्रिया यथावस्थानं कल्पयिष्यते । अतोऽप्रयोगाच्च न स तिष्ठत्यनेति ॥ २९१ ॥

अर्थ—सहिकृपी बन्धनको त्याग कर और आठों कर्मोंका क्षय करने मुक्तजीव मनुष्य-लोकेमें नहीं टहरता; क्योंकि यहाँ टहरनेकर न तो कोई कारण है, न आश्रय है और न कोई व्यापार है।

भावार्थ—यह साक्षात् ही सक्ती है, मुक्त होनेपर जीव यहाँ ही क्यों नहीं टहरता ? अतः उसका समाधान करते हैं। आठों कर्मोंका समूह नाश कर देनेसे शरीरकृपी बन्धनकर भी अत्यन्त विभोग हो जाता है। इस बन्धनकर विभोग होनेपर जीव मनुष्य-लोकमें नहीं टहरता क्योंकि उसके यहाँ टहरनेकर कोई कारण नहीं रहता। शरीर आदि बन्धनोंके होनेसे ही जीव यहाँ टहरता है किन्तु अब तो वे नष्ट ही हो चुके। इन्हें यहाँ उसके टहरनेके योग्य आश्रय भी नहीं है। क्योंकि मुक्तजीव अप्रपन्न इसके हो जाते हैं। अतः उनका आश्रय लोकात् अम मान हो होता है। जिस प्रकार आठ जेपोंस जिस टैलीको यदि बन्दके बीचमें फेर दिया जाये तो उन आठों जेपोंके मुक्त होनेपर टैली बन्दके ऊपर जा टहरती है। जीव नहीं टहरती। उसी प्रकार मुक्तजीवको भी यहाँ रोकनेवाला कोई प्रतिबन्धक नहीं रहता अतः वह

यहाँ नहीं छूटता । तथा मुक्तबीच कोई देसी क्रिया भी नहीं करता, जिसका कारण उसका यहाँ छूटनेकी सम्पत्ता की जा सके । अतः यह यहाँ नहीं छूटता है ।

एवं सर्वार्थमेव तेन गन्तव्यं नाम्यमेति कुतो नियम इत्याह—

शाङ्खा—यदि मुक्तबीच यहाँ नहीं छूटता है तो न छूटा, किन्तु उसे ऊपर ही जाना चाविए, अन्यत्र नहीं, ऐसा नियम किस कारणसे है !

नाधो गौरवविगमादशक्यं (दसग) भावाच्च गच्छति विमुक्त ।
लोकान्तादपि न पर प्लवक हवोपग्रहाभावात् ॥ २९२ ॥

टीका—यतो^१ गुरुत्पमधो गच्छत् इदं पापानादि, तस्य गौरवं नामस्यपतकर्मत्वात् । अशक्यमावाच्य अशक्योऽनुपपन्न लक्षणं भावो^२ यत् सप्तकर्मविनिमुक्तोऽप्यस्तत्तदुपरो गमिष्यतीति । न च लोकान्तात् परतो गच्छति उपग्रहकारिणमद्रव्याभावात् । प्लवकन्तार कन्ताद् दानपापकम् मत्स्यादिवदा । स्वच्छेषु गमनशक्तेरभावात् ॥ २९२ ॥

अर्थ—मुक्तबीच नीचे नहीं जाता है क्योंकि उसमें गौरवका अभाव है और ऐसा होना किसी प्रकार शक्य भी नहीं है । अहाज आदिकी तरह कोष्ठात्से आगे भी नहीं जाता है; क्योंकि यहाँ सहायक धर्मद्रव्यका अभाव है ।

भावाच्च—पापक गौरव मारी-भरकम परार्थ नीच जले हुए देखे जाते हैं । किन्तु मुक्तबीचमें मारीपन नहीं है । क्योंकि यह कर्मोंके कारणसे मुक्त हो चुका है । फिर यह बात किसी प्रकार सम्भव नहीं है कि समस्त कर्मोंसे मुक्त हुआ अणुत्त समुद्री नीचे जावे । अतः नीचे जाना शक्य नहीं है । इसीप्रकार ऊष्णगमन ही मुक्त है । पर ऊपर भी कोष्ठात् अन्तसे आगे नहीं जाता है; क्योंकि गमनमें सहायक धर्मद्रव्य कोष्ठात्के अन्ततक ही पाया जाता है । आगे उसका अभाव है । अतः जिस प्रकार अहाज या मच्छी शक्तिक जा सकते हैं जहाँतक उनका सहायक पाणी होता है उसी प्रकार मुक्तबीच भी शक्तिक जले हैं जहाँतक सहायक धर्मद्रव्य वर्तमान है ।

योगप्रयोगयोर्भावाच्चिद्यग्न तस्य गतिरस्ति ।

सिद्धस्योर्ध्वं मुक्तस्यालोकान्ताद् गतिर्मवति ॥ २९३ ॥

टीका—योगा मनोवाक्यप्रयत्नसाक्षात्भावात् । प्रयोग आरम्भः क्रिया तदभावाच्च । त्रियग्विधु प्राच्यादिदिग्घु । न तन्व गतितमक । तन्मात्प्रतिपद्यत्वा गतेरसंभवात् । इदं चावस्थाने मान्ति किञ्चित्कारणमतो गच्छत्पूर्वमेव सिद्धः । सा चोर्ध्वगतिरप्यलोकान्तादेव भवति, न परतः उपग्रहाभावादिस्तु च ॥ २९३ ॥

अथ—योग और क्रियाका जमाव होनेसे वह स्तिरता भी गमन नहीं करता है । अतः कुछ सिद्धबीजकी गति ऊपर सीधी लोकके अन्ततक होती है ।

भाषार्थ—कुछबीजके न तो मनोयोग, बचनयोग और काययोग ही है और न क्रिया ही है । अतः पूर्व आदि दिशाओंसे उसकी गति सम्भव नहीं है । क्योंकि उसके तिर्यग्गमनमें योग और क्रिया ही कारण है और उसके इनका सर्वथा जमाव है । इस प्रकार वह न नीचे जा सकता है और न तिरछे जा सकता है । इसके अतिरिक्त यहाँ व्यत्येक भी कोई कारण नहीं है । अतः सिद्धबीज ऊपरको ही जाता है । किन्तु ऊपर भी वह लोकके अन्ततक ही जाता है, आगे नहीं जाता; क्योंकि गमनमें सहायक कर्मिण्य लोकप्रतटे आगे नहीं रहता । यह पहले कह चुके हैं ।

अयोर्ध्वगतिस्तस्य निष्क्रियस्य यता कथं मवतीत्याशाङ्क्याह—

शाङ्का—यदि कुछबीजकी क्रिया भी नहीं है तो वह ऊर्ध्वगमन कैसे करता है ! इसका उत्तर यत्ते हैं—

पूर्वप्रयोगसिद्धेर्वन्धच्छेदादसगभावाच्च ॥

गतिपरिणामाच्च तथा सिद्धस्योर्ध्वं गति सिद्धा ॥ २९४ ॥

टीका—पूर्वप्रयोगमूर्तयि शुद्धस्थाने सूक्ष्मक्रियाप्रतिपातिनिवर्तमानेन देहभिभाग-
हानिविधानकाळे य संस्कार आहितः । क्रियापान्थेन पूर्वप्रयोगेण सिद्धेर्वन्धच्छेदान् असंग
भावाच्च तस्य गमनं सिध्यति । अतः पूर्वप्रयोगसिद्धेर्दोषागमनवत् पूर्वसंस्कारान्भवति । तथा
बन्धनच्छेदादेरवधीबहुसंस्कारान् कमबन्धनप्रोटनादुच्च गतिः सिद्धा भवति मुक्तप्रसक्तः । असंग-
भावात् । गतच्छेपान्नानुकम्पं पयसि भूवते । संगे सेपन्नादभावात्संगत्वात् । तथा गतिपरिणामाच्च
धीपशिलावत् । नहि हीपस्य आनुबिच्छिन्नाऽग्नेर्वाग्वाका निमित्ताभावे सन्नि तिर्यगस्यो वा
भवति । तस्मादुर्ध्वमेव गच्छति मुक्तप्रमेति ॥ २९४ ॥

अथ—पूर्व प्रयोगसे सिद्ध होनेके कारण कर्मबन्धका छेद हो जानेके कारण, निष्कारिण्य होनेके कारण तथा ऊपर जानेका स्वभाव होनेके कारण सिद्धबीजकी ऊर्ध्वगति सिद्ध है ।

भाषार्थ—बिना प्रथम कुम्हार पहले दण्डके सहारेसे बरकरे पुनता है और इसके पश्चात् दण्डके हटा देनेपर भी बरक पुनता ही रहता है । उसी प्रकार सूक्ष्मक्रियप्रतिपाति नामके तीसरे शुद्ध-
स्थानके समयमें ज्ञान-प्रदेशोकी अचगाहनाको एक छिद्दार्थ हीन करते हुए जीवमें क्रियाका जो संस्कार रह जाता है, उसी संस्कारके वशसे वह बादको ऊर्ध्वगमन करता है ।

तथा त्रिस प्रकर एतद्व्यक्तके दृष्टने ही उसके बीच चिटककर उपरकी ओर जाता है, वही प्रकर कर्म-बन्धनके दृष्टनेपर मुक्तत्वा उपरकी जाता है। तथा जैसे पिते बारिके केपके भारसे मुख होते हो तुंबी जकके अन्दरसे सुरंगत उपर आ जाती है वैसे ही समस्त संन-परिग्रहसे मुख हुआ बीच उपरकी जाता है। और त्रिस प्रकर दोषककी शिक्षा वासु कीद्वारेके निमित्त न भिदनेपर एवमासे उपरकी ही ओर जाती है, उसी प्रकर मुक्तत्वा भी उपरकी ही जाता है।

भद्रुपम तत्र सुखमन्तीति कथमवगम्यत इत्याह—

मुखबीके अमुपम सुखको सिद्ध करते हैं—

देहमनोवृत्तिभ्यां भवत शरीरमानसें दुःखे ।

तदभावात्तदभावे सिद्ध सिद्धस्य सिद्धिसुखम् ॥ २९५ ॥

टीका—देहः शरीरं मनश्च तयोर्बुद्धिबलं सद्भाव आत्मनि संख्येपेन्तम शरीरसंस्तेषा च्छरीर दुःखमुपजायते। मनसम्बन्धाच्च मानसें दुःखमित्यविवेकार्हा। तस्यच शरीरमनसोर भावे सति तत्कृतस्य दुःखस्याभावः। दुःखानाभावे च सिद्ध स्वामाधिकं प्रतिष्ठितमम्बसतं सिद्धिसुखमिति ॥ २९५ ॥

अर्थ—शरीर और मनके सम्बन्धसे शारीरिक और मानसिक दुःख होता है। तथा शरीर और मनका अभाव होनेसे यह दुःख नहीं होता अतः सिद्धबीके सिद्धिच सुख सिद्ध ही है।

माचार्य—शारीरिक दुःखका कारण शरीर है और मानसिक दुःखका कारण मन है। किन्तु मुख बीके न शरीर ही होता है और न मन ही। अतः दुःखके इन दोनों कारणोंके न होनेसे सिद्ध बीका दोनों प्रकारके दुःख नहीं होते। दुःखके न होनेसे स्वामाधिक सुख सिद्ध ही है। क्योंकि अज्ञानके सुख गुणका निष्कार ही दुःख है। अतः निष्कारके दूर हो जानेपर सुख-गुण स्वामाधिकरूपमें वर्तमान रहता है। तथा सुख और दुःख परस्परमें विरोधी हैं—एकके अभावमें दूसरा अवश्य रहता है। दोनोंका अभाव किसी भी क्षणेतनमें नहीं हो सकता। अतः मुखबीके दुःखोंसे मुख होजानेपर स्वामाधिक सुख रहता है।

यस्तु यतिघटमान सम्यन्त्वज्ञानशीलसम्पन्नः ।

वीर्यमनिगूहमानः शक्त्यनुरूपप्रयत्नेन ॥ २९६ ॥

टीका—यतिस्तपस्वी साधुर्बटमानबोहमानः प्रवचनोक्तसम्पत्क्रियायुहायी। सत्त्व क्लेशेन संकादिसम्परहितेन। सम्यग्ज्ञानेन भुतादिना। शीघ्रेण च मूढोत्तद्युक्तरूपेण सम्यक्ः।

शक्तिर्वायु सामर्थ्यं तद्वनिगूहमानोऽपह्नवमकुर्वन् स्वशास्त्रयजुःरूपेण प्रपत्येन येष्टते । अहनिप्रामनु
 ठेषामु क्रियासु शास्त्ररहित ॥ २९३ ॥

संहननायुर्वलकालवीर्यसम्पत्समाधिर्वैकल्यात् ।

कर्मातिगौरवाद्वा स्वार्थमकृत्वोपरममोति ॥ २९७ ॥

टीका—संहनन बह्वपमनाराधादि । मायु स्वल्पम् । बह्वहानिवा युवतशरिरेत्वाद्
 सामर्थ्यस्य हेतुः । कालो कुपमादि । वीर्यं सम्पद्य नास्ति प्रचुरवीर्यत्वाभावात् । सम्पदनक्ति ।
 समाधिः स्वल्पता चित्तस्यास्यप्रता सापि नास्ति । एषां संहननादीनां वैकल्यादिकल्यात् ।
 कर्मणां चातिगौरवात् क्षान्तावरणादीनामतिगौरवं निष्काचनादन्धाप्राप्तिः । न्याय सफलकम
 सयः । तमकृत्वा भ्रियते उपरमयेतीति तपस्वी ॥ २९७ ॥

मौधर्मादिष्वन्यतमकेषु मवार्थसिद्धिचरमेषु ।

स भवति देवो वैमानिको महर्द्धिद्युतिवपुष्क ॥ २९८ ॥

टीका—सम्पद्गृह्णित्वैमानिकेष्वेवोत्पद्यते साधर्मादिषु कर्मेषु दास्यशासु नष्टसु च
 प्रियेषुकेषु यजसु सर्वाधिसिद्धिबिमानेषु स्वर्गप्रयत्नस्यवस्थितेषु देवा संश्रयते वैमानिकाम्यत
 मस्याने विमानवासीत्ययः । महती ऋद्धिद्युतिवपुष्च यस्य स महर्द्धिद्युतिवपुष्क । ऋद्धि
 परिवापदिका । द्युतिः शरीरच्छाया वपुः शरीर तद्रूपि महत्त्वं (नापचरित) किं स्वहीनम् ।
 समशतुरक्षं संस्थापनं वैक्रियमुत्तरोत्तमसंस्थानप्राप्तिं च श्रियति प्रमाक । सुखादिभिः प्रकृष्टं
 प्रकृततरं प्रकृततरं च संभवतीति ॥ २९८ ॥

अथ—जो सायु सम्पद्गृहण सम्पद्गान और सम्पुक्चारित्रसे पुष्क होना है, और अपनी
 शक्तिको नहीं छिपाता हुआ अपने सामर्थ्यके अनुसार समयके पाठनमें प्रयत्नशाली रहता है तथा संहनन
 वायु, बल कष्ट शक्ति-सम्पदा और ध्यानकी कमीके कारण एवं कर्मोंके अति निमित्त होनेके कारण
 तर्पण-सफलकर्म-अथको मिते बिना ही मरवाको प्राप्त होता है, यह सायु सौचर्मत्वगति केकर सर्वाधिसिद्धि
 पर्यन्त किसी एक विमानमें आरणीय ऋद्धि, कान्ति और शरीरका बरक वैमानिकदेव होता है ।

भाषा—जो सायु प्रयत्नमें कमी गई समस्त क्रियाओंको बड़े प्रयत्नसे अपनी शक्तिको न
 छिपाकर करता है, रात-दिन उनके पाठनमें संलग्न रहता है तथा शस्त्रदि होनेसे स्थित सम्पत्कर्म,
 सम्पद्गानसं मुक्तुम और उत्तद्युजकय चरित्रका पाठन करता है परन्तु बह्वपमनाराध
 चादि उत्तम संहननके न होनेसे अहमायु होनेसे शरीरमें बल न होनेसे, पंचम आदि काकके होनेसे

१- येष्टे इत्यारम्भ शास्त्रपरिष्ठा इति सर्वथाः पाठः-प० मदी मारित । २-नास्ति बह्वहनिदि
 -व पुस्तके । ३-व तपस्वी-क०-ब० ।

शैर्ष्यं कर्मके कारण विच्छेदे स्थिरता न होनेसे, तथा कर्मोंका निवृत्तितत्त्व होनेके कारण एकल कर्मोपर छाप किये बिना ही वह मर जाता है, वह साधु सौमर्त्यगर्भे, बरह कर्मोंमें, नक्षेत्रबन्ध तथा पाँच अनुष्ठानविधानोंमें से किसी एकमें जन्म लेता है और इस प्रकार वह वैश्वामित्रदेवोंमें ही उत्पन्न होता है तथा वह बड़ी भारी शक्ति, कर्मित और समचतुरबर्हत्पानसे कुछ उच्चम वेद शरीरका धारक होता है। सारांश यह है कि जिन साधुबोधोंके मुक्ति प्राणिके समस्त साधन सुखम रहते हैं व मोक्ष प्राप्त करते हैं किन्तु किन्हीं इस कारण—सामग्रीकी प्राप्ति नहीं होती वे मरकर प्रलयसाक्षी मूर्च्छिक देव होते हैं ॥ २९६, २९७, २९८ ॥

तत्र सुरलोकसौम्यं निरमनुभूय स्थितिक्षयात्तस्मात् ।

पुनरपि मनुष्यलोके गुणवत्सु मनुष्यसधेषु ॥ २९९ ॥

टीका—तमेति सौमर्थादी सुरलोकके सौम्यमनुभूय चिरं स्थितिमेवावुपयुंयतीति । ततः स्थितिक्षयात्तस्मात् । तस्मात् सुरलोकान्मनुष्यलोकमागतस्य गुणवत्सु मनुष्येषु विशिष्टान्मनुष्येषु चातिशुभकारसम्पन्नेषु संविधिषु बहूपुलकेषु ॥ २९९ ॥

जन्म समवाप्य कुलधन्वुविभवरूपधलधुदिसम्पन्नं ।

श्रद्धासम्यन्तत्त्वज्ञानसवरतपोधलसमग्र ॥ ३०० ॥

टीका—समवाप्य सम्पन्नार्थं जन्म । धन्वुं स्वधनकोक । कुलं पितृरम्यक । विभवो जन्मसम्पत् । रूपं विशिष्टशरीरावयवसंविधेः । बर्हं वीपसम्पत् । धुदितिस्पर्शिकादिः । एभिर्धन्वुकुलधिमिः सम्पन्नं सम्पन्नः । श्रद्धा भगवद्बहसु प्रीतिरतिशयवती दक्षिर्धेषु च पतिषु श्रद्धा परितोषः । सम्पत्त्वं तत्त्वामधदानसकलम् । ज्ञानं मत्पादिज्ञानं पथासंभवम् । संकर आश्रयनिरोधसकलस्तपोधनं तपसि द्वाभ्याविने उस्ताहोऽनुष्ठानं च । एभिः समग्रं सम्पूर्णं संयुक्ते वेति ॥ ३ ॥

अर्थ—वहाँ बहुत बलवत्क सुरलोकके सुखको भोगकर आतुरका छत्र होनेपर बर्हसि फिर भी मनुष्यलोकमें आकर गुणवान् मनुष्य परिवारमें जन्म होता है। और कुछ धन्वु, सम्पत्ति, रूप बर्ह, और धुदिसे पुत्र होता है तथा श्रद्धा, सम्पत्त्व ज्ञान संकर और तपोधनसे पूर्ण होता है।

माधार्थ—वह साधु वैश्वामित्रदेवोंमें जन्म लेकर बहुत बलवत्क देवसेकेके सुखको भोगता है। जब आयु पूरी हो जाती है तो बर्हसि प्युत होकर फिर भी मनुष्य-लोकमें जाता है और चापि कुछ और आचारसे कुछ उच्च मनुष्य परिवारमें जन्म लेता है। वहाँ भी उसे बलका कुछ मिलता है, एवं धन्वु-वत्पत्त्व मिलते हैं, ज्ञान सौम्यर्ह, शक्ति, और धुदि प्राप्त होती है। भगवन् बर्हन्तरेके उच्छेदी

वही माती प्रीति होती है। सम्पदार्जन, सम्पददान और भाव्य निरोधक चकार यह युक्त होता है, एव चार प्रकरके तपोऽन्त आचरणमें उसे बड़ा-माती उत्साह रहता है।

पूर्वोक्तभावनाभिर्भावितान्तरात्मा विधूतससार ।

मेत्स्यति ततः पर वा स्वर्गान्तरितस्त्रिभुवभावात् ॥ ३०१ ॥

टीका—पूर्वोक्तो द्वादश भावना या अभिन्यासिक। एताभिर्भावितो वासितोऽन्तरात्मा द्वादशानोपयोगम्बभावो विधूतस्त्वस्त्रे विहित संसारो येन नरकादिगतिभेदः स विधूतससागरः। उताप्राय ससारसागरान् स्वन्यरोपभव इत्यथ। सेत्स्यति सिद्धि प्राप्स्यति। पृथिवीक्रिया गुहातायां, ततः पर प्रकर्षतः स्वर्गान्तरितस्त्रिभुवभावात् सम्प्रति मनुष्य उत्पन्नरक्षिपानुश्रया ततो ह्यस्तस्मान् प्रकृतः पुनर्मनुष्य भवेत्स्यतीति। प्राणि भवान्मनुष्य प्राणि जर्मोनि जप्सेत्यथ ॥ ३०१ ॥

अर्थ—पहल वही गढ़ बाह मायनाओंस उसकी अन्तरात्मा सुवर्षित होत है और वह संसारका नाश करनेवाला होता है तथा उसका वा मयमें स्वर्गमें जन्म करने कीसुत नयमें मुक्तिमें प्राप्त करता है।

भाषा—उसकी आत्मा पहल वही हुए बाह मायनाओंके सममें वही रहती है तथा पहल मनुष्य जन्ममें जो बाह मायनाओंके विस्तार किया वा उसका संस्कार भी बाहर बना रहता है। एत सायुषो ससार-समुद्रसे पार हुआ ही समझना चाहिए। क्योंकि उसका मन बहुत ही बल शेष है जान है। कथन हीन ही सब भाग्य करक यह युक्त होता है। अथात् वर्तमानका एक मनुष्य-जन्म तो वह योग ही रहा है उसका बाद देव होता है और काल्पित्युत होकर पुनः मनुष्य-जन्म प्राप्त करने को प्राप्त जाता है।

एव यते ध्यायामभिधाय गृहाधर्मी प्रत्याह—

एत प्रकार मुनि जपाका बनकार गृहस्थकी जना बनता है—

यश्चेद् जिनवरमते गृहाधर्मी निश्चित सुविदितार्यः ।

दर्शनशीलमतभावनाभिर्भिर्जितमनस्कः ॥ ३०२ ॥

टीका—इह मनुष्यमाक यो गृहाधर्मी जन्म प्राप्त्वा एतस्य एव तीर्थङ्करवचन मुचिदिताय मन्वकभित सर्व भगवद्विद्वान्। एतेदेव संभाषणुत्तारक प्रवचनम्। एतान्

१-पुस्तक-१०। २-व्यभिचिन्तितानु-१०। ३-पुस्तक-१०। ४-१०। ५-१०। ६-१०। ७-१०। ८-१०। ९-१०। १०-१०।

पीपत्र आहारविस्तस्य वारण्यं निवारण्य प्रतिपेच पीपत्र । स आहारशरीरसंस्कारवृद्धाचर्याया
 पारमेदेन चतुर्विध । अष्टमीपूर्वमास्यादिषु क्रियते । उपभोगपरिमाणवत्तुपभोग पुष्पघृष
 स्नानागतादिः । परिभोगो वैश्वशयनादि । स च देवा-मोहनत कर्मतश्च । मोहनतोऽ
 शनपानसाधस्वाधरूप मांसमद्यान्तकायमम्बादिविषय । कर्मतः पञ्चदशमेदः, अगारकरणवन्
 स्रग्मटाटकादिक्रमणः । अघिकादिरतिमांसादेश्च उपभोगपरिभोगपरिमाणवतः (व्रतम्) ।
 तथाऽन्योऽतिथिसविभागः । स च पीपत्रपारणकाले स्यायागतस्यागर्हितम्योपारेणोपात्तम्य
 तदुक्तपूतादेरुपसाधितस्य कल्पनीयस्य सानुद्देशोनाहुतस्य । विधिनेति याचमिदं क्त पाकासवस्य
 सत्सारपूर्वक सानुना पात्रेषु दानं विनियोग । पात्रप्रहणात् सानुम्यो प्रहमागतेम्यो देयम्, न
 स्वमात्रेषु कृत्वा नीत्वा सार्धवसती देयमिति । यद्य सानुम्यो न इत्तं पारणकाले तस्मान्यवहरति
 स्वयमिति ॥ ३०४ ॥

चैत्यायतनप्रस्थापनानि कृत्वा च शक्ति प्रयत ।

पूजाश्च गन्धमाल्याधिवासघृषप्रदीपाद्या ॥ ३०५ ॥

टीका—चित्यं चितपा प्रतिभा इत्येकायः । तेषामायतनमाध्ययन्त्यकुन्वाभि । प्रकृत्यानि
 म्यापनानि प्रस्थापनानि । महत्या विभूत्या वादिभृत्यतासाधुचारस्वजनपरिचारादिकया प्रस्था-
 पनां प्रतिष्ठति तानि कृत्वा शक्तिः प्रयत्नवान् यया यया प्रवचमोक्तोर्धनं भवति तथा कृत्वेति ।
 पूजाः सपयाः । गन्धो विशिष्टद्रव्यसम्बन्धी । माल्य पुष्पम् । अधिवासाः पटवासादिः । घृषः
 घृषमिद्रव्यसंयोगश्च । प्रदीपः प्रदीपदानम् । आदिप्रहणानुपलेपनसमाजनलण्डस्फुटित
 संस्कारणविप्रक्रमाणि चेति ॥ ३०५ ॥

प्रशमरतिनित्यतृपितो जिनगुरुमत्माधुवन्दनाभिरत* ।

सलेस्वनां च काले योगेनाराप्य सुविशुद्धाम् ॥ ३०६ ॥

टीका—प्रशमः कपापादिव्यस्तप्र रतिः प्रीतिस्तस्यां प्रशमरता निरपमेव तृपित*
 सामिन्नाप— कदा सानुस्वमभाप्य कपापरिषु जेष्यामीति ।” त्रिनानां तीपकृतां गुरुणामा-
 चार्योपाप्यापादीनां, सानुजनस्य सानुतोऽकर्म्य च बन्धने नमस्कृते प्रतिक्षणमभिरतः । माग्ना-
 न्तिकसंस्कारकाले प्रत्यासन्ने जीवितवृद्धे । इत्यतो भावतश्च संक्षिप्त्य शरीरं कपायादींश्च ।
 योगेनेति ध्यानेनापस्यामिमुक्तीकृत्य धर्मेणाशाविचयादिना सुन्दु वाडे विपुदां निमलां जीविन

१-रतरीव-य० । २-यनरिभोगरि-च । ३-परिषयनारिः-च । ४-क्षेऽप्यनकाट-क० ।
 ५-वरिषय-च । वरिषयानुप्रत्य-य० । ६-गता-य च । ७-उप्यवहारो-य च । ८-ववति
 -य च । ९-उप्यव-य । १०-यारवतिषय च संक्षेप्य-च ।

मरणाशंसान्निदीपकहिता कृत्वेति सम्भव्य । एवं गृहे स्थितो द्वावसविधं ध्यायकर्ममनुपास्य
पञ्चाशुभतानि क्षीमि शुक्लतानि त्रिकपरिमाण्युपमोगपरिमोगपरिमाणमनयंदग्धैरिति च ।
सिद्धाशुभतानि चत्वारि सामासिकं देशावकाशिकं पौषघोषवासोऽतिथिसंविभागश्चेति द्वावस-
प्रकारमप्यनुपास्य सखिसर्गा वाराभ्य ॥ ३०६ ॥

प्रातः कल्पेष्विन्द्रत्व वा सामानिकत्वमन्यद्वा ।

स्थानमुदार तत्रानुभूय च सुख तदनु रूपम् ॥ ३०७ ॥

टीका—कल्पा' सोषमावपन्तेष्विन्द्रत्वमधिपतिस्त्वमवाप्य । कदाचिद्वा सामानिकत्व-
मिन्द्रत्वान्यत्वम् । इन्द्रत्ववद्विदास्तु सामानिका भवन्ति शेषं स्थित्यापि तुल्यम् । अन्यद्वा स्थान
मुदारं विशिष्टं सामान्यवेत्तं प्राप्य वैमानिकेषु । तत्र च देवव्यमसुखं स्थानानुरूपमनुभूय
अप्यन्यमोत्कृष्टम् ॥ ३०७ ॥

नरलोकमेत्य सर्वगुणसम्पद दुर्लभां पुनर्लभ्वा ।

शुद्धं स सिद्धिमेष्यति भवाष्टकाम्यन्तरे नियमात् ॥ ३०८ ॥

टीका—स्वितिक्षयात्तत्र प्रभुतो मनुष्यलोके समागत्य गुणस्तु मनुष्येषु कार्यं
देशादिषु जातिकुलविभक्त्यसमीमाग्यदिकां उपर्यं सम्पत्त्यादिगुणसंपर्कं च सम्भवा । शुद्ध-
सम्पत्कर्मकानुभूतम् । स परं सुखपरंपरयोः सिद्धिमेष्यति । अष्टानां भवानामवागम्यन्तरे
निर्घोषैर्भवेति । तस्मात्प्रादरवता गृहस्थधर्मोऽप्यनुपास्य परन्ते च साधुधर्म इति ॥ ३०८ ॥

मर्थ—(१ १-३ ८) इस लोकमें जो आदक हैं वह तीर्थकरके बचनोंमें विश्वास करके
लक्षार्थको अच्छी तरह जानकर सम्पत्सौध, शौक वत और मायनाबोसे अपने मन्त्रको सुवासित करके
सदाके किर लूक बिना लूक हू, लूक चोरी परकी राग और द्वेषको त्याग करके उसके पञ्चास
दिग्गत, देशावकाशिकव्रत अनर्षदप्यव्रत, सामासिक, प्रोषण और मोगोपमोग (रिनालको करके न्यायपूर्वक
उपासित अथवा इत्यको पानोंमें विविधरूप देकर शक्तिके अनुसार प्रयत्नपूर्वक चेत्याहर्षको प्रतिष्ठा करके
गन्ध, पात्रा अविवास भूप शीपक औरदोहे हुआ करके सर्वदा प्रसन्नसिद्धि इच्छुक तथा तीर्थहर
आचार्य, उपास्यव और साधुबनोंको बमस्कर करनेमें उत्तर होता हुआ मरपक्षक जानेपर स्थानके द्वाप
सुविशुद्ध सङ्केतनाकर जाठकन करके शौचार्थिक कस्तोमें इन्द्रपद, सामासिकपद, अथवा अन्य किसी
मन्त्र पदको प्राप्त करता है । और वही उस स्वामके अनुरूप सुखको मोगकर, मनुष्यलोकमें जाकर
दुर्लभ समस्त गुण-सम्पत्तको प्राप्त करके बाद मर्षोंके अन्तर छुट होकर निवसते सिद्धिषो
प्राप्त करता है ।

मावाय—इस मनुष्यकोर्मे जो गूडस है वह तत्कार्यको व्यष्टी तरह जानकर शिमेन्द्र मगवान्के बचनोंमें निश्चय करता है कि मगवान्कय कयन सत्य है, उनके द्वारा उपदिष्ट प्रबचन ही संसत्से पर जागोबाका है। इस प्रकार निश्चय करके सम्प्रदर्शन अणुगत, इष्टिगत, और अनियायक वादि मावनाजोस अपने मनको सुवासित करता है। वे मत और शीघ्र निश्च प्रकार हैं—

स्यूठ हिंसाकय त्याग पहका अणुगत है। जो प्राणी बाहर होते हैं, भावक उनकी हिंसा नहीं करता। किन्तु जो पृष्ठीकय बगैर सूत्र्य भीव होते हैं, उनको हिंसाकय उसे त्याग नहीं होता। जयता हिंसा दो प्रकारकी होती है—एक संकल्पी और दूसरी आरंभी। 'मैं इसे मारूँगा'—ऐसा इन्द्रयमें सकल्प करके जो किसी भी प्राणीका बध किया जाता है, वह संकल्पीहिंसा है। और आरंभ करनेसे जो हिंसा होती है, वह आरंभीहिंसा है। भावक संकल्पीहिंसाकय त्याग करता है, आरंभीकय नहीं क्योंकि आरंभ किये बिना उसका भीवन-म्यापार नहीं चल सकता। अतः स्यूठ अर्थात् संकल्पीहिंसाकय त्याग पहका अणुगत है। स्यूठ इच्छकय त्याग दूसरा अणुगत है। जो वस्तु बेसी है, उसे बेसी न बतलाकर अन्यथा बतलाना असत्य है। किन्तु ऐसी दिग्गमिमें जो अन्यथा मापण किया जाता है भावक उसका त्याग नहीं करता है। बिना ही इर्षा वस्तुके प्रहण करनेको चोरी कहते हैं। जिसके प्रहण करनेसे मनुष्य चोर कहा जाता है, वह स्यूठ चोरी है। यावक एसी चोरीकय त्याग करता है। यह टीसरा अणुगत है। शीघ्र अणुगतके दो प्रकार हैं—एक स्वदारसन्तोष और दूसरा परदारमिदृष्टि। स्वदारसन्तोषप्रतीके किए परकीलेवन और वेद्व्यागमन—दोनों ही स्यूठ हैं अतः वह दोनोंका त्याग करता है। किन्तु परदारमिदृष्टिकय पावक परकीगमनकय तो त्याग करता है, पर वेद्व्यागमनकय त्याग नहीं करता क्योंकि वेद्व्या किसीकी परिगृहीत ही नहीं है। सर्वदा शिवयोगि प्रीति करनकय और व्रतपाठन आदि क्रियाजोमें इष्ट करनेकय त्याग करना पीबर्षो अणुगत है। इस व्रतको इष्टापरीमाण भी कहते हैं। अर्थात् केन मन्त्रम बगैरकी इष्टाकय परिमाण करना कि इतने मन्त्रम-श्रेण, इतना सोना-चाँदी इतना पन-व्याम्य बगैर रखनेकय में नियम करता है—यह इष्टापरीमाण नामकय पीबर्षो अणुगत है। पशाशक्ति शत्रिमोहनव्रतकय भी पाठन करना चाहिए। य पीब अणुगत है। सप्तशीघ्र किन्तु प्रकार हैं—

चारों दिशाजोमें तथा ऊपर-नीचे जानेकय परिमाण करना कि मैं अमुक दिशाजोमें अमुक स्थानतक ही जाऊँगा—उससे जागे नहीं जाऊँगा; यह पहका शिखर है। शिखरके द्वारा परिमित देशमें प्रतिष्ठित जो गमना-गमनकी मर्षादृष्टि जाती है, कि आरंभ में अमुक अमुक स्थानतक जाऊँगा, उस देशकयशिक्षित बजते हैं। बिना प्रयोजन मन, बचन कयपरी प्रवृत्ति करनेको अनर्हण्टक कहते हैं। इसके अनेक ये हैं और उसके त्यागको अनर्हण्टकन कहते हैं। प्रतिश्रमकय अथवा मन, बचन कयसे साधन प्रवृत्ति त्याग करनेको सामायिक कहते हैं। येलाउपमें अथवा साधुजोके निश्चयमें अथवा वेठना है तबकय सामायिक कयकी प्रतीक्षा करता है कि—दे मगवन्; मैं सामायिक करता हूँ अमुक अमुक समयकय साधनयोगकय त्याग करता हूँ अथवा अमुक अमुक समयकय मगवान् अर्हण्टक

१ अतःवस्तुकि मुक्तं ब्रह्मपरमार्थेवमनेन । सर्वत्र च सर्वत्रैव कार्यकितं नान टनन्दि ॥ १०

विश्वकी और साधुओंको उपासना करता है। अष्टमी-तीर्थमासी आदिके दिन बाह्यारदिको पीतन करते हैं। उसके चार म्हे हैं। बाह्यारद त्याग छठीरके उत्कारक जाग ब्रह्मचर्य बरतन और पापमुक्त म्यापारक त्याग। पुण्य, पूष त्याग अङ्गुगण बौण्ड जिन वस्तुओंको एक बार ही मोन सकते हैं, उन्हें उपमोग करते हैं और बक, सध्या आदि जो वस्तुएँ बार-बार मोगनेमें आती हैं उन्हें परिमोग करते हैं। उनको परिमोग करनेको मोनोपमोगपरिमाणवत करते हैं। वह परिमाण दो प्रकारसे होता है—एक मोजनकी अपेक्षासे और दूसरा कार्यकी अपेक्षासे। मोजन पल खाप त्याग आदिकर परिमाण करमा और मच मंस, मधु अमन्तकल्प बनेरहकर त्यागना मोजनकी अपेक्षासे परिमोग करना है तथा जाग वन माकी-माका आदि पन्हाइ प्रकारके शेरकनोसे जावोविकर त्याग करना कर्नकी अपेक्षासे परिमाण करना है।

सातवौं वत अतिविश्रंभिमाल है। पीतनकी पारजाके समयमें स्वाभ्यूर्णक अविश्रंभीय म्यापारके द्वारा उपाश्रित इम्से करिरे गये छुड जाकक, यी बगैरह प्रम्नोसे साधुके उदश्यसे न कलाये मये मोजनमें से वर भाये हुए साधुओंको विभिरूर्णक जो ढाल दिया जाता है, उसे अतिविश्रंभिमोगस्त करते हैं। पात्रमहाजसे यह स्पष्ट है कि बरपर पवने हुए साधुओंको ही बाह्यारदान देना चाहिए। अपने बर्तनोमें साधुओंकी बसविकरबोमें के आकर नहीं देना चाहिए। अतिविश्रंभिमोगस्ती जाकक जो वस्तु साधुओंको नहीं देता, पारजाके समय वह वस्तु स्वयं भी नहीं जाता। इस प्रकार मात्रक इन पीतन अष्टमोमें और सात शौकोच पाकन करता है। तथा अपनी शक्तिके अनुसार गाने-बाजे, स्वजन-परिचारक बने मारी समरोहके साथ बिससे प्रबचनकी प्रमावना हो, उस ढंगसे शैलाक्योंकी प्रतिष्ठा करता है और दीप-पूष माका बनेरहसे निवमगवानुकी पूजन करता है। उसकी उरिब नहीं अमिकाया खती है कि कब साधु कलकर कगामरूपी साधुओंको बीरें। इसके सिवाय वह तीर्थङ्कर भगवान्, आचार्य उपास्यान कीरुह गुड और साधुबनोंको नमस्कार करनेमें उरिब संकम रहता है। जब मरनकाल आता है तो सधिर और कतान आदिके कृपा करके अजाविकर आदि आनके द्वारा बनि-मनेकी इच्छा आदि दोनोमें खीत छुड सङ्केषनादर्णक मल करता है।

इस प्रकार गृहस्थ पीतन अष्टमवत छिन गुणवत, चार विद्यावत—इन बाह्य प्रकारके मात्रक-वर्णक पाकन करके तथा अन्तमें सरकेबनाक्य जाउकन करके देवकोकर्म या तो इन्द्रपदको प्राप्त करता है वा इन्द्रके ही स्थान सामाजिक पदको प्राप्त करता है या किसी अन्य प्रमावसाकी वैमाजिकेककर पद प्राप्त करता है। वहीपर अपन पदके अनुसारप अल्प, मध्यम अथवा उच्छ्रष्ट छुडको मोगता है। आधुके क्षय होनेपर वहीसे चककर वह मनुष्यकोकर्म जन्म कता है। यहीपर भी उसे आदि, कुक, वैमक, रूप सीमापन आदि सम्पदा सम्पकन आदि प्रसस्त गुण प्राप्त होते हैं। इस प्रकार साधुकी

१ " अयेत् चारकर्मन मन्त्र पञ्चस तन्मे । इति वनाम्बनस्येयमर्यैकैक्यपीतनम् ॥ २१ ॥
 निरुत्तरकालादीनेवै कलशोर्ष इत्यथम् । विष्णुवारावतकेरकचक्रनिसम्याधिक ॥ २२ ॥
 इति वैशिन उपवाच कोके उक्तपुर्णमाम् । अन्तःपुरम् अनेर्षं वा उपवित्कवाम् अथि ॥ २३ ॥
 —विहित मकर जावाककक-उपप्रकर्षवृत् ५ वीं पं.

परम्पराका मोग करते हुए वह गृहस्व भाठ मर्कोंके अन्दर ही नियमसे मोक्षको प्राप्त करता है। अतः प्रारम्भे गृहस्व-धर्मका भी पाठन करना चाहिए और अन्तमें साधु-धर्मका पाठन करना चाहिए।

इत्येव प्रथमरते फलमिह स्वर्गापवर्गयोश्च शुभम् ।
सम्प्राप्यतेऽनगारैरगारिभिश्चोत्तरगुणाद्यै ॥ ३०९ ॥

टीका—इतिशब्दः प्रकरणपरिसमाप्तिप्रशान्ताय । एवमिति वर्णितेन न्यायेन । इहेति मनुष्येष्वेव बाहुष्येन स्वर्गफलम् । तियग्गती च केपाञ्चित् स्वर्गावातिनाम्पम् । अपवगफलम् । पुनर्मनुष्येष्वेव । शुभमिति वैपयिकस्वामाधिकमेवाद्दुमयमपि फलं शुभमिति । तदेव तदुपवगा रथं फल प्राप्यतेऽनगारैः साधुभिः । अगारिभिश्च स्वर्गफलं प्राप्यते । अपवगफलं तु पार-स्येय्यावाप्यते गृहाभिमिति । श्रीहर्षात्नेगारैरगारिभिर्वा उत्तरगुणाद्यै प्रथानगुणयुक्त्यु-द्योत्तरगुणसम्पन्नराजर्वात्निरवद्याशोपसंयमासुष्टायिमिति ॥ ३०९ ॥

अर्थ—इस प्रकार मनुष्योंमें उत्तरगुणोंसे सम्पन्न मुनि और गृहस्व प्रथमपतिके द्वारा स्वर्ग और मोक्षके शुभ फलको प्राप्त करते हैं। यहाँ 'इति' शब्द इस प्रकरणकी समाप्तिके सूचक है। तथा 'इह' पदसे मनुष्योंका ग्रहण करना चाहिए, क्योंकि स्वर्ग-फलकी प्राप्ति अभिज्ञत्या मनुष्योंको ही होती है। निर्गमतिमें भी स्वर्ग-फलकी प्राप्ति होती है परन्तु बहुत कम। तथा मोक्ष-फल तो मनुष्यगतिमें ही प्राप्त होता है। यहाँ दोनों प्रकारके फलोंका ग्रहण किया गया है—एक वैययिक और दूसरा स्वामयिक। वैययिक-फलकी दृष्टिसे स्वर्ग प्रधान है और स्वामयिक फलकी दृष्टिसे मोक्ष प्रधान है। मोक्ष-फलको निर्दोष संयमक अनुष्ठाना संयमी जन ही प्राप्त करते हैं और गृहस्व जन स्वर्ग-फलको प्राप्त करते हैं तथा परम्परासे मोक्ष फलको प्राप्त करते हैं। प्रथम-वैराग्यमें रति-प्रीति होनेके कारण ही यह सब फल-प्राप्ति होती है। अतः वैराग्यमें मनको लगाना चाहिए।

उक्त्ये योऽप्यः प्रकरणप्रारंभात् प्रकृति स सच एव प्रवचने, न मया स्वमनीषिकया किञ्चिन् कल्पितमत्र, प्रवचनस्य च महातुमाबन्धननयापया ददापति—

प्रवचनका महात्म्य बतवते हुए अन्वकार कहते हैं कि इस प्रकरणमें आश्लिसे केकर अस्तक को कुछ कहा है, वह सब प्रवचनमें विषयान है—अनी बुद्धिसे कर्मगत नहीं है—

जिनशामनाणवादाकृष्ट्यां धर्मवधिकामिमां श्रुत्वा ।
रत्नाकरादिव जरत्कपर्दिकामुद्धृता भक्त्या ॥ ३१० ॥

टीका—जिनशासनमणव इव जिनशामनाणवः । बहुवादानेकाशयनिपानं च । उप मानोपमेपभाह । तस्माज्जिनशासनसागरान्निहृशमाक्षितां जिनशासनोदयो निदतानया

गुणादाय इच्छया यमकामा कथिता । न तु विस्तारेणोदिता । संक्षिप्तायांमित्रामाकल्पय भुक्त्वावपाय
रत्नाकरादिव अरत्कपर्दिकामित्यात्मन आदृत्य परिदृष्टति । रत्नाकरादनेकरत्नाभिधेः । तस्माद्यथा
अरत्कपर्दिका सुभाषती शोभना भवति अरत्कपर्दिका तु परिपेतया निःसारा च मयास्वमतिना
तद्विषयं अरत्कपर्दिकास्वापीया आहृष्टा । तां अरत्कपर्दिकाभुङ्क्ता मगक्तु साधुषु मक्षिपा
प्रीतिस्तथा प्रेरितेभ्यःकृष्टामिति । आहृष्टेति प्रथमरक्तिः सम्बन्धते उद्धृतेति कपर्दिका
संबन्धते इति ॥ ३१० ॥

निस्सारप्येया प्रथमरक्तिः—

सद्भिर्गुणदोषद्वैदोपानुत्सृज्य गुणलवा प्राह्या ।

सर्वात्मना च सतत प्रशमसुखायैव यतितव्यम् ॥ ३११ ॥

टीका—सन्तः साधवस्तगुणदोषैर्गुणार्थं दोषार्थं भवगच्छन्ति ये ते गुणदोषास्ती
सद्भिस्त दोषानुत्सृज्य शब्दच्छन्दोऽर्थादिकान् परित्यज्य गुणलवा प्राह्याः । सब्रह्मणात्सगुणत्वं
वर्धयति । कियता गुणान् शक्तुं शक्नोत्यस्मदादि । सर्वात्मना सत्प्रयत्नान् । सततं सदैव । वैपयिक-
सुखनिर्घमिन्नापेय प्रथमसुखायैव श्रुत्वा प्रयतितव्यमिति ॥ ३११ ॥

अर्थ—एतोंके अन्तर समुद्रके निकली गई थीं और बोझीकी तरह त्रिनशासनकपी समुद्रके
मक्षिपूर्वक भी गई इस कर्मकाण्डे सुनकर गुण और दोषके ज्ञाता सजनोंको दोषोंको छोड़कर गुणके
बंधोंको ग्रहण करना चाहिए । और सर्वथा सब प्रकारके प्रथम-सुखकी प्राप्तिके लिए ही प्रयत्न
करना चाहिए ।

भाषार्थ—त्रिनशासन समुद्रकी तरह नमीर और अनेक वायुपोंकी जग है । उस त्रिनशासन
कपी समुद्रमें पड़े हुए बच्चोंको लेकर यहाँ सञ्चयमें कर्मकाण्ड-प्रशान्तिके बताया है । समुद्रको रताकर भी
कहते हैं; क्योंकि उसमें रत्न भी पाये जाने हैं तथा घंटा, सीप कीड़ी बेली टुच्छ वस्तुएँ भी पाई जाती
हैं । अतः प्रत्यक्षर अपने बोझको दूर करनेके लिए कहते हैं कि त्रिनशासनकपी रत्नाकरके निकली
गई होनेपर भी यह कर्मकाण्ड एतके समान मूलवान् नहीं है; किन्तु किन्हीं विष्टि-विस्तार टुच्छ कीड़ीकी
तुच्छ निःसृत है । फिर भी मैंने मक्षिपञ्च इत्यत्र उद्धर किया है । अतः निःसृत होनेपर भी इसे सुनकर
गुण और दोषोंके पतली सजनोंको इसमें जो दोष हों उन्हें छोड़ देना चाहिए । और जो गुणके रूप
हों उन्हें ग्रहण कर लेना चाहिए । अब, इसलिये कि हमारे जैसे अस्वमतिजन सम्पूर्ण गुणोंका कथन कर
ही कैसे सकते हैं । किन्तु उन गुण-बन्धोंको ग्रहण करनेके विषय-सुखकी अधिकायाको छोड़कर निरन्तर
सब प्रकार प्रथम-सुखकी प्राप्तिके लिए ही चेष्टा करते रहना चाहिए । सारांश यह है कि संसारको
प्रथम सुखकी ओर आकृष्ट करनेके उद्देश्यसे ही यह प्रकारन बताया गया है और इसमें यहाँ एक गुण-रूप
है । उसे ग्रहण करनेके उस ओर जानना चाहिए । इतना होनेसे ही प्रत्यक्षर अपने अन्तरे सफल
सम्पन्नते हैं ।

यच्चासमंजसमिह छन्दशब्दसमयार्थतो मयाभिहितम् ।
पुत्रपराधवत्तन्मर्षयितव्यं ब्रुधे सर्वम् ॥ ३१२ ॥

टीका—असमञ्जसमष्टमानम् । यदिह प्रथमरती । केनाकारेणासमञ्जसम् ? छन्दसा
शब्दशास्त्रेण प्रवचनप्रसिद्धस्याधम्याम्ययाप्ररूपणेन । पुत्रपराधवत् तत् मपयितव्यम् । यथा
पुत्रस्य शिशोरपराध पितामृष्यति क्षमते तथा प्रवचनदृष्टैः सर्वमशेष क्षम्यमित्येति ॥ ३१२ ॥

अर्थ—इस प्रथमरतिमें मैंने छन्द-शास्त्र, शब्द-शास्त्र और भागमके अर्थसे अज्ञान जो कुछ
कहा है, उसे विद्वानोंको पुत्रके अपराधकी तरह क्षमा करना चाहिए ।

भाषार्थ—अप्यकर कहते हैं कि यदि इस प्रकरणमें मैंने छन्द-शास्त्रके प्रसिद्ध कोई रचना
की हो या व्याकरण-शास्त्रके प्रसिद्ध कुछ विद्या हो अपना प्रवचनमें प्रसिद्ध किसी अर्थका अल्पया
प्ररूपण किया हो तो जिस प्रकार पिता अपने पुत्रके अपराधको क्षमाकर देता है, उसी प्रकार प्रवचनके
द्वारा ब्रह्मचरको भी अपने अल्पेका अपराध समझकर मुझे क्षमा करना चाहिए ।

सर्वसुखमूलवीज सर्वार्थविनिश्चयप्रकाशकरम् ।
सर्वगुणसिद्धिसाधनधनमईच्छासन जयति ॥ ३१३ ॥

टीका—सर्वमेव सुखं सबसुखं दुःखदोशाकङ्कितं मुक्तिमुखम् तस्य मूलमार्थं प्रथम
बीजमइच्छासनम् । अथवा विपयिकाणां सुखानां मुक्तिमुखस्य च सर्वेषां सुखानां मूलबीजं जिन
शासनम् । सर्वे च तेऽर्थाश्च सदाया पञ्चास्तितिकायाः ससमयाः सर्वेषु सवार्थेषु यो निश्चयः
परिच्छेदः एवं संसारस्तियतिभन्ना मुक्तिमार्गश्चेति तं प्रकाशयति प्रतिपादयति बीजमेव
शासनम् । सर्वे च ते गुणाश्च सर्वगुणाः । सबगुणानां सिद्धिनिष्पत्तिः सबगुणसिद्धिः ।
साध्यते येन धनेन तद्वध धनमिदमेव प्रवचनम् । अत्र सबगुणसिद्धिसाधनधनमइच्छासनं
द्रव्यपर्यायनयप्रपञ्चात्मकमभ्यधासनम्यग्भावेन जयति ॥ ३१३ ॥

अर्थ—सबसुख सुखोंका मूलबीज और सबसुख अर्थोंके निर्णयको प्रकाश करनेवाला, सब गुणोंको
सिद्धि करनेके लिए धनकी तरह ध्यान स्वरूप जिनशासन अथवा धन है ।

माचार्य—जिनसासन इहोक्तिक तथा पारलौकिक समस्त सुखोंका तथा दुःखोंके भेदसे भी
 रचित मुक्ति-सुखकात मूलबीज है उसके बिना सुखका भेद भी प्राप्त नहीं हो सकता । पंचास्तिक्य
 अग्नि संसारके समस्त पराबोध तथा संसारके स्वरूप और मुक्तिके मार्गका प्रशिपादन भी जिनसासन ही
 करता है । अब यह जिस कालसे समस्त सुखोंकी प्राप्ति की जा सकती है, वह काल भी जिनसासन ही है ।
 इष्ट्य पर्याय और नयका विवेचन करनेवाला वह जिनसासन अन्य शासनोंसे स्वतन्त्र और अद्वैतरूपमें
 उपस्थित होकर अद्वैत अवस्था में रहता है ।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः—

श्रीहरिमहाचार्ये रचितं प्रशमस्तिप्रकरणं किञ्चित् । परिमाण्यं बृहटीकाः सुखसोचार्थे समासेन ॥ १ ॥
 अथद्विष्णुपाटकनगरे श्रीमहाचार्यसिंहदेवस्य सुपरायणे । बालकमुद्र (११८९) संख्ये विक्रमतो अग्रे प्रवर्ति ॥ १ ॥
 श्रीभक्तमांडसाहिकपुत्रपशोनागनायकमितीने । सद्गुणामय स्थितेस्तेः समर्पितं शायितं चेति ॥ १ ॥

अर्थ—प्रशमस्तिप्रकरणका यह संक्षिप्त विवरण (टीका) श्रीहरिमहाचार्यने पूर्वाचार्योंकी
 टीकाओंका मनन करके इस दृष्टिके लिखा है कि जिसके पाठक इससे मर्मको सरलतासे समझ सकें ।
 उन्होंने इसकी रचना अथसिंहदेवके नामके अन्तर्गत अथाद्विष्णुपाटकनगरमें सि सं ११८९ में
 श्रीपद्म मांडसाहिकके पुत्र पशोनाग नायकके द्वारा अर्पित किये गये उपाग्रहमें की और स्वीपर
 इसका संशोधन भी किया ।

॥ इति प्रशमस्तिटीका ॥

परिशिष्ट

१-अत्रचूरी ।

अत्रचूरी-उं नमः । श्रीपद्मवती-साकश्य पीडेवन्वाः कंचावर्णगण्डिर्द्वैतैर्नौर्णा । अतो च संस्था-
 न्नाचारो भवना भेदाः ॥ १ ॥ तदनुर्भवा श्रीदेवा देवयोगो भेदाः (वा) पञ्चविंशतैरेवम् । परं वीजाभिनि च
 भेदाभेदि" तदुच्यते ॥ २ ॥ बोधैर्नोचः क्रमघः विद्यार्थमनितानम्पत्तकमरणाः । इतिगन्धविकारा सुक्या
 एव सर्वैकविकारान् ॥ ३ ॥ श्रीमत्साक्षाद्विषयकः पञ्चसप्तपञ्चमयेत्य प्रथमस्तिरुकरं प्रकरव्यापारो र्यवकमाह-
 नामि चरमे देहः कायश्चरमदा वा चरममववाविशी ईहा येवम् ॥ १ ॥ महाविदेहादिमवान् । वा' उच्यते ।
 विनागमात् किञ्चिद्व्यक्तत् प्रथमस्तिरुकरमिषयः ॥ २ ॥ अनन्तानि बहुनि मद्यगणि वा गमा मायाः उच्यतेनाकाश ।
 र्वावाः विवाधवकावकना मेदाः क्रमपरिचरिन्मद्य पटादिमन्वाना कुटादिमापत्तराणि वा । र्वावाः साधनामनि
 वानि इत्यगणितारव्य र्वावित्तकान्तरयो वा । हेतुोऽपुत्रावोगर्भनोरावाः जन्मवाऽपुत्रपधिवस्यथाश्च । र्वावाः
 मत्तार्थकभोरावा वेगमाहवाः । इत्यभिव्यक्त्याहवाः । संकृतमाह्वाहवश्च । र्वावानि सामर्थ्याप्याहवश्च ॥ ३ ॥
 कुम्भ्यागमो बुद्धेरोत्पत्तवादिभ्य (टीलादिपवादिभ्य) मथिरा एव विमरो चर्न तेन परितोचकः । वा'वचनामच
 मावाप्यानामुम्भ्यो योचनं गयेपिदुं चर्नइपुत्रपयेपमिभ्युः ॥ ४ ॥ चर्नइपूर्वविद्विः वा इति संकथो बोधवाः ।
 मथिया प्रथमिवा ॥ ५ ॥ विनिगम्यः भुगमन्वातुसारिण्यो वाचो विपुत्र इव परिगमियावाः आयमवचनमावाप्या-
 वचवचुताः कृतनेत्रेव संपञ्च उल्लेखिताः परिधाषिया ॥ ६ ॥ भुवगन्वुकाकिङ्कवडुमानवाच्यर्नई किडवा कनु-
 प्रचवा इवमत्तुइकलैनातुसुवा कृता विद्यगमाद्योत्पत्तिका विगवचः परं स्थानं वत्या वा ॥ ७ ॥ अचरीतोऽत्रार
 योचोच्ये वत्या वा । न वा विदेवे र्मथैरपचनमावाचो अंयीकृत्या ॥ ८ ॥ अच कर्ता लोभ्यविषये कार्ण
 उत्सवावाचरन्त् कोऽपि कि वचति अरि तु मैति । वा उत्सवार्थैः दिः वरमाहर्नैः निवर्गः रथवाचता सुडु निपुणोपि
 इति भवति का तेनामत्तरिवा रथमायेन कृग ॥ ९ ॥ पकाकर्ता प्रकट्योः कृपिनानामपि निवर्त्तु लोभते निवर्त्त
 र्थैकविद् ॥ १ ॥ काइकमपि अय्यत्तार्च अर्चवदे प्रथितपमि अनर्नकचचनमपि प्रथवापिम् ॥ ११ ॥ गवकवादि
 मिलेयं कावादीनां मावाचो पञ्चात्तैर्नमनुचौर्नम् ॥ १२ ॥ पूर्वैषैतपमि पुनः पुनः सेज्यते अनुचोच्योर्न
 वात्तुवच्येव ॥ १३ ॥ अवापिच वि चर्न वाच्यम् ॥ १४ ॥ आचौरनाकृते कर्म इत्यपि हेतु कार्ण अचरुतीवः
 ॥ १५ ॥ वाच्यवच्यमि- कहेकीमावैनाप्यवतामः इवमातो लोपाः ॥ १८ ॥ मिप्यात्पोरुदवा कडववा उच्यते
 विरुदवा पुत्रा मक इरविठकर्मपठिः पञ्चाभममवचनुकश्च अमिष्यार्नं टीत्यववतावः ॥ २ ॥ विनिर्णयः
 पठिः कात्तुर्न विपुदिर्नैर्मन् तयोर्नकश्च वरिक्तं । पंका एव कचवा ॥ २१ ॥ चर्नर्न र्थै र्नच्यमार्नं इवरक
 वद्वैकवचनवत् प्यात्तुपीनां वरत्तरसंतुत्तैरमिच निवचितं कुम्भितुपीकवावत् निरत्तरं बहुविधवौकृत्य
 ॥ २२ ॥ कर्तितो विक्रितः कुबो वीरः अनुगत आचनवचनमिवापः श्रीवी मानीवादिचनवीवताम् ॥ २३ ॥
 वच्यमपि वाच्यः आला वरिपुम् ॥ २४ ॥ आप्रोतीति वच्यते वरैपु चोच्यम् ॥ २५ ॥
 आच्योवेनेव बोधेनोरुतो मरति ॥ २८ ॥ सर्वेपाप्याच्यो र्वाचरव पूञ्जदिचवचनरावमार्णत्वं सर्वसं
 रचरवत् प्राचीनुत अचरति स्तोइकाचमपि आलां प्रवृत्तार्कं पुञ्जकार्यम् पुञ्जद्वयच्येदिति प्रतीतिः ॥ २९ ॥
 मये मावाचौ संवर्णं तव कुर्वमाद्यौ विपव्यवता उत्व प्रयोगेयो वावका आरौठवा एते कथवाः कचवचुत्तत्
 ॥ ३ ॥ अचकारार्कवयो र्वाग्वैवाचनवर्वावः वरइवस्ववर्वाये वचमत्तारम् ॥ ३१ ॥ इत्यं भुगर्नं लयात्,
 वरैवः ॥ ३२ ॥ मिप्यात्तुर्नं लयात्तुत्तुवच्यं प्रमातो मथादिः, बोयाः वत्याहवः, तमिप्यात्तापिदिमवावादि

माचार्य—त्रिभुवनेन इहोक्तिकं तथा पारलौकिकं धर्मस्तु सुखोक्तं तथा दुःखके वेदोक्ते मी रचितं मुक्ति-सुखकर्म मूलदीपकं इति उक्तं किंवा सुखकर्म वेदा भी प्राप्त नहीं हो सकता । पंचासितन्त्रण वादि संसारके समस्त पन्थासोक्त तथा संसारके स्वरूप और मुक्तिके मार्गक प्रतिपादन भी त्रिभुवने ही करता है । अब यह त्रिभुवने धर्मसे समस्त सुखोक्ति प्रसिद्धि की जा सकती है, वह वन भी त्रिभुवने ही है । इत्यं, पर्याय और न्यक्त विविचन करनेवाला यह त्रिभुवने धर्म शास्त्रोक्ते स्वतन्त्र और अत्रुतन्त्रसे उपनिषत् होकर सदैव अवश्योक्त रहता है ।

टीकाकारस्य प्रशस्तिः—

श्रीहरिमद्राचार्ये रचितं प्रशस्त्यविवरणं किञ्चित् । परिभाष्य कृष्णटीका सुखसोपार्थ समासेन ॥ १ ॥
अनद्विपाटकनगरे श्रीमद्वसिष्ठदेवस्य रूपरुपे । वागवसुधर (११८९) संसृपे विक्रमती कसुरे ब्रह्मसि प्रसि
श्रीवचनमार्गशास्त्रिकपुत्रपद्योनागनायकभित्तिर्भे । सुदुपाधमे शिवदेवैः समार्थितं शोभितं चेति ॥ २ ॥

अर्थ—प्रशस्त्यविवरणक यह संक्षिप्त विवरण (टीका) श्रीहरिमद्राचार्यने पूर्वाचार्यकी टीकासोक्त मगम करके इस ऋषिसे लिखा है कि जिसके पाठक इससे मर्मको सरलरूपसे समझ सकें । उन्होंने इसकी रचना अथर्वसिंहदेवके राजके अन्तर्गत अम्बहिसुपाटकनगरमें वि स ११८९ में श्रीवचन मार्गशास्त्रिकके पुत्र पद्योनाग नायकके द्वारा आर्पित किये गये उपामर्मे की और अर्धर एकर सशोक्त भी किया ।

॥ इति प्रशस्त्यविवरणम् ॥

कोष्ठात्तं चर्मनिर्वाहयुक्ता घटीरनिवाहयुक्तं शोभनशालापरितोष्यं चरुवशाद्यैः एतद्यवमयीं कोष्ठात्त-
 ण्छटीरवाशांवाः कल्पन् ॥ १३ ॥ आचार आमनो वर्तत इति शेष- चर्मचारिणां संभ्रमिनां श्लेषे कालमुक्त्या
 निपुण्यपरममनादि मनुमांशदि च चर्मविषयम् ॥ १३१ ॥ श्व- घटीरं मेघ- अथपानवदनादिभिर्निना वाग्वि-
 यवः शम्भरानवकनाशितानानि तद्वर्मेव चामरेपितोष्यमन्विद्वत्पागेनलुर्त्नीयः ॥ १३२ ॥ शोपेयानु-
 करी भवति प्रत्युदायकारेण प्रवर्तते वयो कोष्ठा कुप्यति मामना ॥ १३३ ॥ विद्वेष्यायवमवितो निक्षेपेन
 कस्यो वशोऽकस्यः परिहार्यः आमने आदानलेवनयोर्निवृत्तयुगेः तेन विधिपटीदाहारेण ॥ १३४ ॥ मम
 वी केयः अक्षरव युग शैवोर्गं अन्ववहरेदिश्वानि शोभंअंशं मन्वाकायेपंशंशः शवाश्लेषां योग्य-
 क्रियागुह्यं तेषां मः संवात्, ए एव ल्यार्थं एव वाद्य निरीराराएवं चर्मानुदाननिर्वाहार्थमित्यर्थः । पञ्चमो
 वधा चर्षणवर्षितमेव शिञ्जति एवं शायुरनि विजातिपुत्रमतिवचनभेदिमुगर्गांशवाहकविशुभुवादिबद्धा वधा तैः
 घटीरव चारुचार्थमेव तद्वृत्तं तथा शायुरनि ॥ १३५ ॥ विधिद्वयस्यार्थं अथद्विषयेन शायुरनेति प्रथमः
 घटिपटीरमविद्यमानाश्वाहमपि देवचारितेन दृष्टे वधा शरत् विरत् वान विद्येद्यमष्टे तद्वृत्तानुनापि दाक्य
 मयुषिना दाक्यस्वतमाश्रिता आत्वाव वल्य स्वार्थं क्रिया ॥ १३६ ॥ काकपुत्रकाभादि शिञ्जेतरादि च
 वेवं शुभिचारिणं च । मात्रामकारिण्यु लार्थं वद्यत्प्रेरमुक्तं परिवर्तितेति इत्यानां पुत्रगुहादीनां गुह्यव
 क्युत् । वहा येन इत्येवोममुक्तेन गुणानां शौर्यं शोषाणां वाचं चरमन स्वात् । शोभं वल्य ॥ १३७ ॥
 अन्वहीनप्रक्षिप्तं दंष्ट्रप्रति उत्तरीयाः कस्यं कस्यनीयं अरवावतो यादार्थमेव अक्षरमपि मय्ये अयुत्तरयोपेवमे
 चर्मदेहकामिमिदं चार्थं शोषेचम् ॥ १३८ ॥ कस्याकस्यगुहाप्रक्षिपिः संश्रिता कानक्रियायुक्त्या चरुत्वा
 वल्य शम्भरनिनीताः रूपवपूतेऽपि यामादिशितः ॥ १३९ ॥ चर्मोवहरेणेन वज्राकाशितां वृत्तं वपुरव अक्षरयो
 कोमेन न ल्युवते ॥ १४ ॥ अहृत्तमाया चर्मोवहरेणयुक्तोऽपि न स्नेहद्वयमप्युक्ति निर्मोको वदवमात्रपरिमहरित
 इति ॥ १४१ ॥ प्रभोऽश्विर्षं चर्म अन्वत्वादिशरीरं प्राजातिगाद्यदिशोऽनिहृतिः अगुममनोवाक्काया अघटं
 यावाश्रितं लभ्युप्युक्तं ॥ १४२ ॥ संतचनद्वयं वा चरहारे अन्वत्स्वै अन्वहीन गुमहर्चरि, शोषाणां
 निवृत्तप्रति, वदस्तु अन्वचये चरनीयं माश्रितम् ॥ १४३ ॥ वदस्तु अन्वत्वादि शरीरकान्वाचारहोतना
 म्भयगुहेवमावापणां शिनावाकारि, वच प्रवचनकुलाकारि मद्यमातक्यमूषामेववपामिचामहवादि एवर्षं
 कस्यमप्यकस्यम् ॥ १४४ ॥ कस्याकस्यत्वं दृष्टवस्तुप्यवनिवर्तं पुत्रपापवैरुतेति शेष- वधा शिवाभ्यानां
 दृष्टमपि शोषादि निषिचते. वेदेषां, मीढां मेरुं तद्वैरां कस्यतेऽदृष्टमपि ॥ १४५ ॥ शैवो शायुरनिवृत्तलेर्षं
 शोषे शुभिचारि, पुत्रः प्रवृत्तताचारिः अवस्था मन्वायिका एतेषामर्थे-इत्यमपि कस्यं उपशोषदृष्टि
 परिणामान् नैशैकान्तेन कस्यते कस्यं मेनेकान्तेन न कस्यते-इत्यम् ॥ १४६ ॥ वदिना शायुरा श्वेव
 शिञ्जनीयं मन्वादीयं कायेन कर्तव्यं वहात्मन वरेणं उमवैषं वाचं न मवति. अवीर्यरिक्तंकाके ॥ १४७ ॥
 चैवु चाम्पारिवर्तिश्रवाशैवु शोषापीश्रवणकरव मोचरत्तं प्रातेषु वैरायवार्थः अन्वत्वादिवातेवं एरिवन्वत्वावक
 रियु वरिष्ठंशानमिलारतनिःशालाश्लेषे शिवरिचिदानं चार्थं श्वेवम् । केन वरं कायार्थंभयेषु प्रवर्तं निवर्तं घाचर
 वाव शोष्यातिद्वयमन्वत्वाऽऽश्रितारिवा ॥ १४८ ॥ मारविज्जममर्हिदं शिञ्जनीयमन्वत्वादीयं किं एरिनात्वं
 संभारं चरवामनाममममत्वं । अथरत्वं अन्वत्वावमरुतामिगुत्वं मतिं शिञ्जिचर्षं । एवममेक एवार्थं ।
 अन्वत्वं चरवचनदेहादिशोऽप्य एवार्थं । अयुचितनापुत्रकारणाप्रविद्यावचन घटीरत्वाद्युचित्यावद्विषयं ।
 संभार इति वाद्य पूजा मथिनीवादिमममत्वं । आश्रवद्वयमपि शिञ्जनीयं कमाश्रवः । आश्रवद्वयद्विचरानं संवत्
 ॥ १४९ ॥ चर्मणां चरुत्प्रेरयो निवृत्तं कोष्ठाभ्यामरिक्तोऽविराः शोभोऽयं चर्मत्तत्वं । वरावैरुत्तमत्वं चर्म
 एववत्तत्वावतिताः शोषेः शुभर्मत्वं चैति प्रकटम् ॥ १५ ॥

कीरव्यतिरेकीयानां नवाप्रतिपरिहान् । कृपणैः कायेस्तयोस्तुकात्मनात्मनाम् । संकीर्णं विद्याभोगैरेव
द्विद्वन्द्वोद्विष्टवमेतेन उद्गाहस्तथा । द्विद्वन्द्वसंकीर्णः संकुचैर्द्विद्वन्नागाः कूर्मवत् । मोहद्विद्वत्संकीर्णो विद्यावभासरीह
एतेन मन्त्रे वरन् पयोःकर्म वाद्यैः तयः प्रोक्तं विनादिभिः ॥ १७५ ॥

प्रायश्चित्तमाक्षेपनादिदण्डविषयतीचात्मकप्रकारानाम् । एकाग्रचित्तनिरोधो ध्यानं । उपासीरीरे म्बुदण्डनि,
पार्श्वकूर्णे इत्यात्म्ये । व्यापृते ग्रहो वैवाहृतं आचार्यादीनां दण्डानां मत्तमन्त्रादिमिष्यग्रहं वटीगुण्डा वेदि ।
विन्दोये वेनाद्विषर्षं कर्म त विनयो ज्ञानवर्द्धनकारिप्रोषचारमेवात् । म्बुत्तमोऽप्येतिहाकरचमकगनादेवकतनं ।
स्थाप्यो वाचनानिः पञ्चविधं । अम्बुत्तमं मिष्यादार्शनकृपावादेत्पाकरात्तपोऽपि ॥ १७६ ॥ विष्णं मन्त्रेण
अन्वोत्थिन्निमानवादिदेवीनां संवत्सि वसमात् मन्त्रेणान्तैः कृत्वादितामुमैमिः विरतिर्नवमेवा औदारिकं
मनुष्यवर्षैर्दुर्घटमिष्यं तथापि मन्त्रेणान्तैः कृत्वादितामुमैमिष्यं विरतिर्नवकं तरेषं ब्रह्महृत्तमन्त्रं मन्त्रिः ॥ १७७ ॥
अम्बुत्तमैव ध्याय रोऽप्यार्थं कर्ममन्त्रात्वा वप्यते कर्म वा मुच्यते इति तद्विद्वन्वीर्यमन्त्रवैद्वेस्तो मुर्धा गच्छप निश्चय
मन्त्राभिप्रायेणात्मनः प्रतिशिक्षिष्यद्वैद्वमत्तो परिस्रष्टवत्तवाच्यतवा कथयति । वसमादेवं तस्य ई । मन्त्रिष्यकता
मन्त्रिष्यं परं वमः न विधिर्मन्त्रेण विद्यतमुच्यता रवेवम् ॥ १७८ ॥ वद्यम्बुत्तमवार्थिचमत्तवत्तव विनवरातेविन
वदेवानवरतं विद्योनात्तेविः इदानीं वद्वेदानां कृत्वा विरकाग्रचित्तवतिमात्तस्वैवीनां पनानां वद्वत्तनां एवमिषा
न्यमिः ॥ १७९ ॥ माया कोमल मातः कोमल उद्गातः तावर्षिमा प्रवक्तव्यं ब्रह्मज्ञानमर्थाः विनाद्यवति तातुरिति भोत्
॥ १८० ॥ अन्वित्तर संवत्सः, विरक्तत्तं पूर्वमर्षित्तमाधीर्षिकिष्यकतापरया कृत्वा वा औदार्यं, एवमिष्यं वस्यैर्षं
व्यमनि ॥ १८१ ॥ आक्षिप्यते वर्मं प्रत्यभिमुखाः प्राप्तिरो वना वा जाले जी । निक्षिप्यते पद्यत्तैवादिभोत्
वच्यैव ईर्ष्ये प्राप्तिरो वच ता विद्यैव । विमार्गा वेनमापार्थये एकाग्रमतावर्षि स्तेषां वाचने समर्था वद्वत्तना
वस्याः ता । भोता वाती वद्वत्तं तस्य कोमलमौत्तयः प्रताद्वन्तनी वच जननी माता ॥ १८२ ॥ तन्निष्यैवध्याते
नरकादिदुरात्मो मर्नं प्राप्ते वना वा संवेदनी । निर्वैर्षं कर्ममेवेत्यो वना वा वद्वेताम् ॥ १८३ ॥ वात्तत्तं
वद्वत्तमिष्यवत्तं, न तेषां वादेवमुत्तमौत्तनापारेण विद्विष्यवद्वन् तावत्तत्तं धर्मं व्याहृतम् ॥ १८४ ॥
वात्तमिष्यवत्तं-परेषां वाचने वाद्य मया किं कृतमित्यादि त्यात्मनि संसिप्ये ॥ १८५ ॥ वात्तं मनुष्यो इति
वाद्यविषयं कर्ममुत्तमौत्तयैः । विरोधेन निषया निर्वर्तितः । रेह नह् वाचनाने । कर्मध्यात्तं संकृत्वाकादिधम
निहातम् ॥ १८६ ॥ एतद्देवतावित्तात् विषयवति विनीतमद्यम मा कुद जनवरतं द्यमविनीतं कुद इत्यादिना ।
तथा संवत्सरे वद्वि उद्गातारे । स्वितानिदि शोयः । कुट्ये नरकादिदुःखात् ॥ १८७ ॥ वाचनव विषयव
तामप्ये वद्विद्वत्तमेन संवाचन्य वाचनव वद्वेन च उमनेन वद्वि वद्वत्तमनुत्तये विद्वान्तः संवाचनं
मनुष्यवत्तं मोक्षं वर्द्धतां तर्षिवादेवद्वचनम् ॥ १८८ ॥ वचना कर्मोद्गातानं मोक्षा कर्मोद्गातः ॥ १८९ ॥
एवमि विरटुत्तमवत्तनाह-अर्चकमेवपरेणाल्यवाः तद्वीर्योयमममः युष्ठाः विद्वान् । संवादिभो मन्त्रवाः
कर्मवत्तवद्वेव दर्विद्विवाचनो वात्तमा इति कर्मवत्तुऽगावारवत्तमत्तः ॥ १९० ॥ एवमनेकप्रकृत्यामेवेत्ये
विरोधैको मेदेवत्तमत्तवद्विवाचनत्तवत्तः अन्वता पशोषा वर्णा वद्वे अन्वत्तुद्वेवत्तमेवेत्येवद्वत्तपा
वद्विद्वत्तवत्तवत्तं वात्तं विषयः अन्वत्तवत्तमेवमत्तवत्तं वात्तवत्तमेवेत्येवत्तवत्तं, वद्वे वद्विद्विद्वेवाचनो
वद्वेन वद्वत्तमत्तवत्तं पशोषात्तवत्तवत्तवत्तं ॥ १९१ ॥ अन्वोयमेवत्तवत्तवत्तवत्तं । ताकारो
विद्वत्तवत्तं कर्मोयमेः वद्विद्वेवत्तं वद्वेवत्तवत्तं ॥ १९२ ॥ वद्वे वद्वत्तं मत्तुत्तवत्तं मि वा
वद्वेवत्तवत्तवत्तं अन्वत्तं वद्वि ॥ १९३ ॥ औद्विद्वत्तं, व वा औद्विवाचनं मनुष्यो देवत्तवत्तवत्तं वद्वेवत्तं
पारिवर्तित्यो औद्विद्वत्तवत्तवत्तवत्तं वद्विद्वत्तवत्तं, अन्वत्तः कर्मो विद्वत्तवत्तं वद्वेवत्तवत्तं वद्वेवत्तं
औद्विद्वत्तः वद्वत्तवत्तवत्तवत्तं वद्वेवत्तवत्तवत्तं वद्वेवत्तं ॥ १९४ ॥ वद्वेवत्तवत्तं वद्वेवत्तं
वद्वेवत्तं ५ । निर्वै वद्वेवत्तं १ । मन्त्रवत्तं । अन्वत्तं वद्वेवत्तं वद्विद्वत्तं वद्वेवत्तं ६ एते कर्मोद्गात

श्रीकित्तव कर्मणः श्वः । उपरान्नं खेगोद्भवादि तेन नम्यकर्मप्रवेष्टाम्भः ॥ २२१ ॥ श्रीवासियु निश्चयेन परिणाम
 वदुत्पत्तिः ॥ २२२ ॥ शिक्षा विनोदित्कृताकाशायाः पुनः पुनः ॥ २२३ ॥ एतच्छिष्टमकारं विस्तारयित्वा
 निष्पत्तिश्चेत्तः विपरिणामादी प्रत्ययो विपर्ययः समासोद्भवा ॥ २२४ ॥ अविधिनिषेधिकं अतिज्ञानम् ॥ २२५ ॥

इत्यानां कर्मोपाहाविद्यतिचतुर्दशकृद्विमैरा उत्तराः । विपयो गोचरो मतिभूतयोः सामान्यतः सर्वप्रत्ययेषु
 सर्वेष्वपि । अथविक्रियुः । मनःप्रवाह मनोमात्रप्रत्ययेषु । केवळं तु उत्तरप्रत्ययवर्धयेषु । आदिप्रत्ययलोचनकाका
 विपरिणामः । एकस्मिन् लीने युगपदेकारादीनि क्विपठित् मास्यानि मन्वीवन्ति । अतएव अन्त्येवकाराणां प्रत्ययान-
 म्भः ॥ २२६ ॥ मतिभूतत्ववचनः ॥ २२७ ॥ समो यथावचनिकस्तत्र आतो कामास्तत्र सर्वं सामानिकं । प्राक्तन
 सर्वप्रत्ययेषु उत्तरप्रत्ययवचनान्नं । परिहरणं परिहारस्तेन निश्चयः । स्वप्नोत्पत्तिकेवलेकृत वृत्तयो लोमकपायः स्वप्न
 वृत्तवत्प्रत्ययवचनविधिः अक्षयानं यथास्मात् ॥ २२८ ॥ अनेकेषुपुत्रकोः अनुयोगीः किं कतिचित् कस्मेत्यादिभिः
 प्रत्ययैः प्रत्ययविभिः समयुक्तं केवम् ॥ २२९ ॥ एकप्रत्ययाः सम्प्रदायान्तरितः समायेऽपि । अतिः पूर्वैः ।
 मोक्षमार्योऽपि सुकृष्टप्रकोऽपि न सिद्धिकारः निरुक्तान्तरदेशेषु ॥ २३ ॥ आरिभयान्नशास्त्रमे आरिभयान्ते
 ॥ २३१ ॥ यदीं वृत्तिका आवरणकानि प्रतिक्रमणाकोचनान्तीनि ॥ २३२ ॥ सम्प्रसारिणीं अन्वयाधारवचनानाम्
 ॥ २३३ ॥ सम्प्रत्ययविपर्ययं व्यस्येव व्यस्येव । तेभ्यश्च सम्प्रत्ययवृत्तियुः । उत्तरेषु ताप्युः विभैषु मक्तप्रत्यया प्रीतिः ।
 उत्तरेषु कृत्वाकाशायावचनादनादिप्रदानकपः समाधिः स्वत्यं स्वरभयोः एतेषां करणेन ॥ २३४ ॥ अन्वयेव प्रत्यय
 वृत्तिः—युवातां वनादीनां प्रत्ययेषु अनुष्णस्वावर्णदीवत् । मन्त्यविवरण एव श्लेषः ॥ २३५ ॥ प्रथम एव
 निष्ठावृत्तं उदाहारे खल्व कापोरिति । खल्व किं तावन्मै सुप्रमुत्तरलोचनेऽयम् ॥ २३६ ॥ न चानां अन्व
 मापिं वाचितम् ॥ २३७ ॥ सिद्धिप्राप्ता परिमिताया वैवाम् ॥ २३८ ॥ अन्वयादीनां विपर्ययानां वरिणाममन्ववा
 मन्वकर्म कुःकोट्येव च संवचानं संवारे कुःकाल्पेव यगद्वयप्रकाश ॥ २३९ ॥ प्रदोरे प्रवृत्ते अन्वयितोऽपी
 विदः ॥ २४ ॥ मीमी निरवचमानी, एकाकी निष्करो वा नये रथविद्यानि परीयतां सम्प्रवृत्तये उदाहरे
 अन्वयान्तरयो निरुद्धः ॥ २४१ ॥ अन्वयित्ते निरुद्धः प्रथमयुवाः स्वप्नान्तरावः तेषां समुद्देशेन विन्
 त्तेऽपि मन्ववि देवमनुष्वादीनां च ॥ २४२ ॥ विधिः उपविश्यं वनं वर्मण्यानादि भाषना अन्वियाभाषाः
 योना भाववचनकारित्यात्ता, मुनेन ॥ २४४ ॥ वन्देत् श्रीवीरमन्त्र ॥ । मन्वारिबीश मन् वन्वीश १ ।
 करवकारानुप्रतिचयम् । मन्वोवचनकाचवचम् ॥ २४५ ॥ संवत्मीरनुष्वात्प्रत्ययत्व प्रथः निरुक्तम् । (कठवाका)
 प्रत्ययवचने लक्ष्मणस्वात्प्रतिचितं प्रकृतम् ॥ २४६ ॥ वर्मणान्तत्वे मेरुवत्प्रथममाह—अनुदिप्यवर्मण्यत् ॥ २४७ ॥
 वृत्तवचनं आकाशाः सर्वप्रत्ययानां यथेवम् तथा अन्वयिवचनः । एभिर्द्वैतैर्निर्देशोक्तिभेऽप्ययः पाण्डेयिका
 नरकदीर्घ्यादिप्रथमप्रथमो वर्णानिना विलम्बते लोऽप्यवचनः ॥ २४८ ॥ अन्वयवचनानां इत्यपीतिविधानां, इत्य-
 क्तवत् विधयान्तिवृत्तानां विधाको रतः कटुकमनुत्तरादिस्वप्नानुचिन्तनार्थः, इत्यानां वन्मां क्षेत्रमूषाथ
 प्रिक्रम्येते तेषामाकारानुचिन्तनमनुयमने चिन्तनम् ॥ २४९ ॥ निरुद्धेऽप्रत्यय उदाहारेण निरुद्धैश्च कुचत विद
 कापौकस्तत्र कश्चिदर्थं पापं चित्तवर्णकोमत् ॥ २५१ ॥ विविधौ एकाग्रौ वन्वुवचनानुवर्षो वरय सम्यक्तो
 वापीकान्त्वान्तां वचनप्रदेशादि श्लोद्भवानुकेवमादिः वरय च वर्येनिधो देहो वत् ॥ २५२ ॥ इत्यामाहितेः
 एवकार्यं एव व्यापिकते न वरिः प्रीति निरुद्धाति, इहममत्तत् ॥ २५३ ॥ चित्तवर्मण्यत् प्रमाददत्तोर्वीर्यु-
 क्तवचनत्वे विष्णुवचनत्वे अन्वयं प्रथममन्त्रम् ॥ २५४ ॥ प्राक्तनकर्मवचनत्वे अन्वयान्तरं पात्रिकर्मणां वदुर्णां
 वनेऽदेवोऽप्रत्ययवचनत्वे अन्वयं अन्वयवचनम्, प्रवेका अन्वयवचनानादिविद्येयाः, विद्ययास्तुत्यामादि कन्व
 विद्ययास्तुत्यावः ते विद्यते वत् उत्तवा अन्व मन्व वचनवचन वत् ॥ २५५ ॥

नुकवित्कृतिरामावृत्तवचनार्यैः अनुष्वादीन्तरितः अन्वयात् १ इत्यत्र । अन्वयमाकाशावचनानां वृत्तानां
 कावृत्तयोः स्वप्नान्तरवचनानादिभूतो भाषावामपि ॥ २५६ ॥ सर्वप्रत्ययवृत्तियुक्तिः ॥ २५७ ॥ उत्तरवृत्तं
 ॥ ३१

उपोऽनुष्ठानवशाद्गुणविधुदिवन्वाभिमन् ववा टीर्षकरत्तरवानकं प्राप्तत्वाऽऽद्यपि मयति ॥ २५८ ॥ पुनस्त-
मितर्कतविचारं १ एकत्वमितर्कविचारं २ कर्माहिकमये त्वाभिमन् ॥ २५९ ॥ अथ अयमेवमित्यतोहत् मोक्षदुग्धुक्तवत्
प्रथमं अनस्तानुवर्तिकां वाचकबीजावरणमिच्छावाचां उतो सिध्यतवमोक्ष एव गहन उतोऽपि मित्रं तन्मन्त्रं च
मिध्यन्त्रं च अन्वगिमप्यत्वं एतानता मिभम् ॥ २६ ॥ अन्वत्वं चाभोऽहमिकपुत्रहसं उतो द्वितीयतुटीयकपाजान्
॥ २६१ ॥ हास्वरतीहादि उन्मन्वे- (सिते) हाविद्यदित्तिरेऽपि मोक्षे वीर्यायो मयति ॥ २६२ ॥ तच्छक उरवातिगो
व्यस्तो मोक्षे देव ७; अनुपपन्नो नाचापि त्यविषयां प्रतीतिपुत्रास्मिन्नु मन्त्रका; ववा यदुवा पूर्वचक्रो सुच्छेऽपि
किन्तं कल्पमनुपपन्नयो मयति तया बीजमोक्ष इति ॥ २६३ ॥ यथा क्वाकित्वाभिः कच्छदि, एवं यन्मात्राः ।
अच्छपुत्रे वेवो वत्त । उतोऽनघनाभि । ७ एव इतिपुत्रम् ॥ २६४ ॥ अनुपपत्ता वरिभता बीजानां चर्वा कर्मपादां
द्वैत् वरि संक्रमः स्वात् ॥ २६५ ॥ संक्रमः तासत्येन कर्मपदेया; अथ विम्वत् एकदेवोऽपि नश्वमयति ॥ २६६ ॥
विष्णुहताया मायात्वात् वृहत्त्व तुवो निवयैव मयति ॥ २६७ ॥ अविष्णुवाक्त्वात् अन्तर्द्वुर्द्वैतकं वाचतुला
वित्वा पुत्रपदकर्मकं क्षान्त्वात् ५ दार्तावारव ४ अन्तपवाचां ५ अयमात् ॥ २६८ ॥ साम्प्रतमवतममनघटी-
त्वात् अकर्म क्षान्त्वात् कैनापि उरवातिविहितमक्षणात्वात् अनुपपमवयतोऽनघत्वात् अनुपपमविद्यावाली-
त्वात् निरवद्येयं परिपूर्वत्वेनेत्येते; संपूर्वं तच्छकप्रमाहितत् अग्रतीरत् क्वापि प्रतिपाद्यमन्त्रात् ॥ २६९ ॥
कार्त्योऽरिपूर्वं कोकाकोके हृत्वाकच्छुरिच्छैरित्वात् गुणपूर्वावधत्तम्, उरमासिनी गुणा अयमाभिः कर्वावा
तवात् तवप्रकृति ॥ २७ ॥ क्षीय विद्वर्मवपुष्का मनोमाम्नि कर्मवत्तम्; वेरिदा वक्येन वरिहाइवम् ॥ २७१ ॥
द्वैतपुपाऽपि चर्वा क्षीतेवकत् परित्तवतरममवोक्तमात्राः कैश्चिन्ना बुभेदमनवर्तीकत्वात्, तया वेदनीयं
कर्म तदुपग्रहं देवापुत्रोपग्रहे अक्षय्यते तदुपग्रहमनवर्तीकत्वात्, आनुकर्मिणा तद् वेदात्वात् ॥ २७२ ॥
अविद्यताम् ॥ २७३ ॥ इवमूर्वावधत्तैरक्षणात्तकं वाइवताः अतीरमानं कपाटं पूर्वाऽकोकलत्वात्तितं कस्य-
त्पिच्छुत्वापनाद्येकत्वात् ॥ २७४ ॥ अन्वयपि निष्कृतात्तनीयपदेवान् ॥ २७५ ॥ औदारिकघटीरवाकः प्रथमशब्द-
वपवर्धनं वरवर्धनं तच्छकवयोः कश्चिदेऽपि कैवली ॥ २७६ ॥ ७ कैवली करणवपुष्पुत्रोमपात् उचितं कर्म
वदितोन्मं बोमं अक्षरं सुकं मवर्तवति संवेयो म्बेवं न मन्त्रकीति वीयनितोवपुषेति प्राप्नोति ॥ २७७ ॥ तत्र
प्रथमं मनोकोयं जनः कर्वातिवन्तिस्वारां घटीरपतिवर्दे मनोवर्धनात्प्रवद्यतेर्वांगराः उरमत्ताहमनि अक्षये
मवतर्वापना प्रथमवपवर्धतच्छकवः ४; कर्मवक्यमनोकोयो मनोवर्धनात्प्रवद्यतेर्वांगराः उरमत्ताहमनि अक्षये
वपुषरत्वा प्रतिवत्तं निष्कम् तच्छकं निवत्ति मनःवर्वापना रक्षिते भवति ॥ २७८ ॥ द्वैतिवता कर्परि
वादिबीजः अवाचाः इरमनिश्चेवादिहकोः अमेव वाकृत्तैरिहावर्वात्तित्वां अयमवमवपवतात्कोकवन्तयो
अयं वागुष्णुक्तयो धाम्नामन्त्रेवगुणहीनी निष्कम् ॥ उरमावधयेगमितेये तु वनक उरिष्णुवत्तात्तवोर्वांग-
गुणहीनः पर्वीत्तवदिते मयति ॥ २७९ ॥ एवमवावधयेगमितेकाले तुटीवच्छुष्पानी भवति इति वरिहाइव-
त्तापदिप्रमप्रतिपत्तिकं प्वावति । ७रेव च शेकेर्वा कतेपि त्वदेहविष्णुवाशीनामवदेवावनीमयति क्वाः देव
तेवशब्देन निवदतच्छकवोः वपुषरतच्छकवमनिर्वातं प्वावत् चरमकर्मोर्दं उरवति ॥ २८ ॥
चारमवेऽपि तमगुणवमनि संत्वायं देतोप्यावमयं वरव विरिहाइवित्वात् तत्पविमागहीनं तुटीवतीव
मूनं संत्वापावदानापरिमायं कतेपि ॥ २८१ ॥ ७ त मयवान् कैवली तच्छकं शैवेववन्तात् मनोवागुष्णुक्तव-
योवकिदापैतिनिर्वात निवदतच्छकवोऽपि; अपतिमित्तिवंतं वृद्धकर्मचारवपुक्त आत्मा वाच ७; संतापवाहवृता-
दुत्तैः वात्तात एव विवति ॥ २८२ ॥ इवत् इत्यानां मयात् एवावाचां वयाधे वात्तात्तद् एवा तत्तैः हीं
अवाचं तात्तावाचां वरिमावत्तापुत्रवत्कीवां चकेर्वा एति मन्त्रेति संवकीर्वावत्तः कर्मवर्वावीदेव तात्तवत्ता,
विमत्ता-एवत्ता वैववा मावत्ता वरव कः ॥ २८३ ॥ पूर्वापिदे धवमेव वदुत्तात्तावदेऽवत्तापि वरिदितोर्न

येनयेसायुगे नववशिष्टमास्ते, उद्यमभेदां संवमभेदां भन्तस्तुत्तगतभवममाणां संत्याज्य समये समये चक्रवन्
 बरुस्मात्सुवमुत्तरोत्तरेण समयेण ॥ २८४ ॥ अयमूर्ध्वोत्तानुद्यमभेदाः ब्रह्मेष्टयसंस्था विनिरुत्स्यन्तीव पुनरेक
 धम् ॥ २८५ ॥ सर्वगतितोत्सवसंस्कारमूढेर्दि, सर्वव मन्वणीकानि, औदारिकारिष्टपीत्या बत्सर्वं तेन बनेव
 रक्षितः ॥ २८६ ॥ भवक्रेमेमिर्दि, अविद्यमानरथा, नवकर्मणा भवतिष्ठतातिः ॥ २८७ ॥ ज्ञानोरभोगेव वर्यमान
 षः वसुध्वरभोगव्य सिद्धानामिदि ॥ २८८ ॥ वारिकं वरिभन् सिद्धोऽयनि तथादि कृत्वा जनसं पुनः ज्ञानाम्बात्
 अयाचार्यदत्त सैवज्जन्मिर्दिनि सि अविद्यानि युक्तं कृत्वा कर्मवत् ॥ २८९ ॥ युक्तं क्त्वं जोषोऽम्बोऽङ्गः
 सन्भवस्य ज्ञानदर्शनादेर्मबात् स्वरतोऽर्पितेऽः वयसि काद्यरिष्योरयोवात्सैवस्योरयोमात्सर्कुहेदि तथाप्युभोग
 वाम्बात् भिद्यते भन्तस्त्वम्बात् स्वाभ्यन्तसंक्रान्तेः बभ्रिखतकवचक स्मयोऽदर्येनि दि रतत उरम्बिक्त्
 ॥ २९ ॥ हृदैव संघारे त म सिद्यति अनिभवत् मनुभादिभवकारणावाम्बगच्छकत् जनानवत् युक्तम् द्वि
 मनुभम्योऽनाभवः, किं तु सिद्धिरेव संस्कारव्यायायमात् व्यतीरिक्तपायामात् ॥ २९१ ॥ अथो म बाति
 गुणवामात् ॥ अद्यकरोऽयं मनो ब्रह्ममृष्टोऽथो वति । षोऽन्तादयि परतो म बाति युक्तः उपमह्वादिधर्मह्वा-
 मात् ॥ द्वबस्वारकः वानवां नवा स्येक म बाति उपमहामात् ॥ २९२ ॥ भोगो मनःप्रवृत्तिः, प्रयोग
 वात्सल्यः किंवा उत्तोरमवाक सिर्प्यतिपथि । तथा सिद्धस्य युक्तस्तेर्मिभेव मतिभवति किंवावावकोऽत्तम्
 ॥ २९३ ॥ कुमकायमामितवन्त्य उद्यायावम्बोऽयि प्रवचयत् परंरुक्तम् नवामुवत् परमईवत्
 नवचनचुमवत् मुष्टीये छद्मत्माने एववकिंचन प्रवोयेव ॥ २९४ ॥ वरमानः प्रवचनोक्तब्रह्मकिंचानु प्रवच्येन
 येष्टेऽर्पितं किंचानु ॥ २९६ ॥ वीर्यसंस्कारवत्सुक्तिः । एतेषां संवनाटीना वेदवत् । कर्मना निचाषनाधरवा
 प्रक्षिः । कर्मवपमहान्माऽपिषाव उपरमे विनाशमेदि वप्यति ॥ २९७ ॥ मवत् प्रवेपकेतु । अर्द मद् पूषावां
 इति बालीर्महासि पृथ्वानि ब्रह्मिदुमिर्पृथि वरु ॥ २९८ ॥ सिधिरुभयेतु वदुपुस्येणु गुणवत्तु उववत्वारिगुण
 सुतेतु ॥ २९९ ॥ उत्पत्तिमालम्बं प्राज्य । कुकृष्टप्रदि । वपुः विभाविषया । विमनो वनादिः । सूर्यं सुहरण
 काद्यदि वगतासमार्थं । बर्कं प्रथं । बुद्धिरोरुपिक्वारिका । ताभिः संस्थाः ॥ ३ ॥

मासितोऽवश्या मनो वरु तः । उत वरं मनुभवलेकम् रगागर्हितः ॥ ३ ॥ हर मनुभवलेके
 विनाशमे मनुभवः भावकः निश्चयेन कृतिनिश्चयः । अतिवचकावप्रतिषेधः, दर्शनं वमकर्त्तं यौक्त्युत्पत्तया । ज्ञानि
 म्बातिगत्यविनिहृष्टिकागुम्बायि भावना अनिश्चयवानदिहा ह्यदय एयी रीतिं बालिं मनो वरु तः ॥ ३ ॥
 रज्जा बाह्याः मन्निनः । हेम्यो विदितिलेपावचनः व वृथिम्बादिस्वावरेण्यः । कम्बादिविषयवन्तुतमन्वचामार्थं ।
 सुश्लेषेर्न वरिभन् हृष्टे चौर इति अतिरिचते । वरुनिपटीवकीगमनं । रतिर्विषयारिपु षीतिः, अरतिमहादिष्टेणः, ताम्बां
 तया बलिं । दिग्मत् पदुत्तु दिग्दु मर्मवपरिमाणं देषावकापिकं अतिरिचमन्नादेर्मबादाकर्यं । अन्तर्द्वैवः व्यतीरिना
 प्रकीर्णं विना वानोरदेशदिः ॥ ३ ॥ बापदिकं द्विभिर् विधियेन येमेन तावद्योगोपमाम्यनं द्विष्टमार्थं च । देव्यं
 बाबादरुष्टीरुत्कलावदवचंम्बातरुचनुर्विषोऽम्बादिपु विरोयेव तं करोति । उन्मयेनो चक्रवत्पुनपूरणानगा
 यदिः । वरिभ्येनो वक्तुर्भ्रमकावकावनकरकारित्या वरिमार्यं नव म्ते कृत्वा विद्याव न्बावामतमर्गात्सर्वता
 देवोरात्ता पूना देवस्तु कर्मत्ता पूनामनुदिरव कृत् । विधियेति निवधनाका सरोऽयि बाकावपुर्वकम् ॥ ३ ॥
 येत्तनि द्विर्विद्यानि भावतकानि वैचयेषागायति वरवान्मा वेषाम्ब प्रहृष्टवर्वाविम्बा वादिवादिभ्येवत्तानुवच
 मन्वपरीवादिक्त्वा प्रविडा । एषामि कृत्वा विद्याव यिक्ततः स्वकामव्यतिशारेण प्राचयनयोऽज्ञावत् । एषापवा वृत्ता
 तया ॥ ३ ॥ ५ ॥ प्रथमे वषावदिभ्ये रतिः श्रीतिष्ठतां नित्यं तथाकात् गुणः कानिधातः । विनेऽर्त्तु, गुण-
 यावार्त्तु वाशातुपु क्त्वन्तर्मिलतो नवरचयेन प्रीतः । काके रशानुरुत्तरादे । संकेतनां वषावार्त्तुः कृत्तः
 किचां । योगेन एषपचयेन बुद्धिघ्राह्यायुगसिभुन्तीहरण ॥ ३ ॥ प्रथो म्बं करेणु अनिधित्वं वा वामयि

कृत्वमन्त्राद्या कामान्प्रदेवत्वं विद्यानन्तमिच्छिन्मन्त्रात् तत्र स्नानानुष्ठानं सुखम् ॥ १ ७ ॥ ज्ञानेतिहासतिष्ठुक्कविम्व
 रूपसौम्यवादिर्वा लम्बकत्वादिगुणैर्यत् ॥ १ ८ ॥ मनुष्येभ्यु ॥ १ ९ ॥ कश्चित्तमन श्रीःशूलं परिहरति-वय-
 कश्चिर्वा द्विविधवयमपिनामिच्छं इमां प्रथमरतिं रक्षाकृतदिवि श्रीर्षकपरिष्कारिण्य प्रथमरीत्या ॥ ११ ॥ कर्त्तव्य-
 नाऽऽद्योपपन्नैः लक्ष्मणवदरत्तं यथा कार्यः ॥ १११ ॥ इह प्रथमरतिप्रकरणेऽऽत्म्यं यथावत्तं यत् कश्चो रचनाविशेषः यम्यः
 कस्तुतद्विशेषेदमिच्छा, लभ्यः सिद्धात्ता, तत्प्राप्तौऽमिच्छेत् सर्वविशेषं ज्ञानम् ॥ ११२ ॥ ऐश्वर्याभिलष्यन्नुत्तमकारणं
 सर्वश्रेयसात् विनिश्चये निर्भवत्यस्य प्रकृत्यकटं ज्ञानत्वादिदद्युत्तमिच्छित्वायने यतदिव ज्ञानमनुभवति ॥ ११३ ॥

परिशिष्ट

२-प्रथमरत्तिप्रकरणकी कारिकाओंकी अनुक्रमणिका ।

कारिकांक	पृष्ठांक	कारिकांक	पृष्ठांक
अ		एतेषु मदस्यामेतु	१७-११
अथवतावशिष्टदेः	२५४-१७४	एतेनप्यथवताथो योऽप्येतु	२१२-१५५
अथारामविदो मूष्णो-	१७८-१२३	एमिर्मन्त्रैः त्वानं	१९८-१३१
अनघानमूढेदरता	१७५-१२	एवमनैकविधानामेकैको	१९३-१३३
अन्धेवां यो शिरवः	५१-३८	एवमनेके दोषाः	४१-३५
अन्धोऽर्ध स्वदनाधारिजनतप	१५४-१ १	एवं रागद्वेषो मोहो	५१-४
अपरिगणितगुणदोष	१ ३-७	एवं क्रोधो मान्यो	३ -२४
अपि परवर्तां समक्षे	११ -७४	एवं संयोगास्तत्रबुत्स्यथै	२ ३-१४
अविर्वाद्यदोषाः	१७४-१२	एवमुत्तरेमेदविषया	२२१- ५
अष्टाधिकपञ्चदशवर्षां	१ ५-१ ६	मी	
अष्टममुमकर्मपञ्चानु	२४९-१७३	मीद्वारिहमवोद्या	१७६-१८८
अस्य तु मूकनिश्चये	५ -४१	क	
आ		कर्ममया संतातः	७७-४
आचारोप्यवनोप्यार्थं	११९-८१	कर्मघटोरमनोवामि	११७-१५२
आत्मानामस्य लताः	२५३-१७४	कर्मोद्वहनिकृते	१ १-१९
आदावस्यमुदका मन्धे	१ १-७२	कर्मोद्वेषात् मत्तगतिर्मत्	३९-३१
आद्यवचनं प्रवचनं	२४८-१७३	कर्मणिमित्तमपुरगात्पर्य	४१-३२
आद्यावनापच तेषां	२३३-१६३	कस्याकस्याविविधः	१३ -१६
आतोभानुर्बलकमुदवारपका	१५-४१	कथिचक्युमीऽपि विषया	४१-३७
आद्येनभीतिद्येवमी	१८२-१२३	कात्त्वर्थात्कामेके	२० -१८५
आद्याविषयमयादविषयं	२४७-१७१	कारणवदोन वयात्	५०-३७
इ		कार्याकार्यमिनिश्चय	११-१७
इच्छा मूष्णा कामाः	१८-१५	कारं क्षेत्रं मातां	११७-१४
इष्टि गुणदोषविवर्ताव	११२-७५	किञ्चिदुक्तं कस्यमकस्यं	१४५-१९
इत्येतत् पञ्चविधे	२२९ -१११	किञ्चिदकमेवत्वन	२२-१७
इत्येवं प्रथमारतोः कर्मनिर्	१ ९-२१३	कुलकपदवचनबौदनधन	३७-४७
इहवनसंप्रयोगेर्हि	१५१-१ ४	के चित् तदाहिरकादि	७६-५३
इहविभोभ्यादिवर्षययोग	११७-८५	कोऽप्य निमित्तो वचयति	-१
ई		क्रोधात् प्रीतिविनाशो	२५-१
ईश्वरसंवाहयज्ञको	१८१-१९५	क्रोधाः वरिणोकर	१६-११
ईर्ष्यां रोषो ह्येते	१९-११	कष्टप्रयोगिपित्तमृदुवपस्य	८०-५
उ		वा	
उत्पादविषयमनिश्चय	२ ४-१४१	वचनदमुक्तिजनना	११६-९३
उद्बोधोपद्यमनिमित्तौ	८५-६१	वधिमिप्रमेकिताकार	४२-३२
ए		सर्वं वरपदापुत्रपथेन	९४-१४
एकस्य अन्धमन्धे	१ ३-१ ५	गुणवत्ता वरपञ्चाङ्गा	६९-४८
एकैकनिश्चयसंवात्	४७-३६	दन्वाः कर्म्मनिश्च	१ २-८
ए		मत्तोप्राद्वचनवङ्कति	१-१९
एतत्त्वमस्पर्धान	२२४-१ ७	व	
एतदोनमहासंभववर्षं	५८-४१	वचनमने रैरवर्षानं	२८१-१९४

